In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

॥ श्रीः ॥

वि वन आयुर्वेद न्थमाला

३५

॥ श्रीः ॥

बीसवीं शताब्दी की औषधियाँ

डा० मुकुन्द स्वरूप धर्मा

चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

All India Ayurvedic Congress,
"Dhanwantari Bhavan,"
Road 66, Punjabi Bagh; New Delhi-110026

अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन

चौखम्भा विश्वभारती
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन आयुर्वेद ग्रन्थमाला

३५

॥ श्रीः ॥

बीसवीं शताब्दी की औषधियाँ

लेखक—

डा० मुकुन्द स्वरूप वर्मा

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, संवत् २०१९ वि०

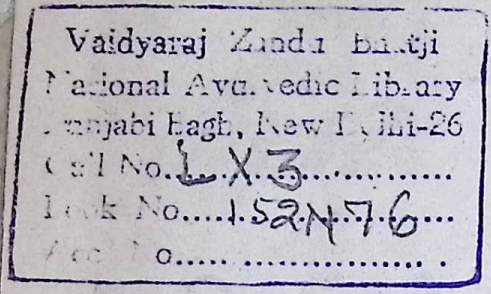
Vaidyaraj Subhash Sharma
National Ayurvedic Library
Punjabi Bagh, New Delhi-26
Call No. L X 3
Book No. 152N76
Acc No.

© The Chowkhamba Vidya Bhawan,
Chowk, Varanasi-1 (India)
1962

Phone : 3076

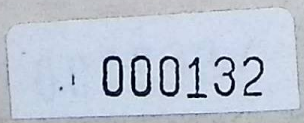
000132

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भूमिका

बीसवीं शताब्दी ने चिकित्सा पद्धति में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। नवीन औषधियों की खोज से पुरानी औषधियाँ लुप्तप्राय हो गई हैं। उनका प्रयोग अत्यन्त सीमित, नहीं के बराबर, हो गया है। चिकित्सक के औषधालय का अब रूप ही बदल गया है। जहाँ पहिले उसको बड़ी बड़ी बोतलें रखनी पड़ती थीं, वहाँ अब केवल थोड़ी सी छोटी शिशियों से, जिनमें कुछ गोलियाँ भरी होती हैं, उसका काम चल जाता है। आज वह अपने औषधालय को एक छोटे से बकस में बन्द करके जहाँ चाहे ले जा सकता है, जिसमें अचूक बाण भरे रहते हैं, जो सूक्ष्म टिकियों के रूप में विशाल प्रयोग-शालाओं और फैक्टरियों में तैयार किये गये हैं।

इन अमोघ औषधियों की कहानी अनेक विद्या के ऋषियों की लगन और तपस्या का इतिहास है, जो इस पुस्तक के विषय के बाहर है। इनकी खोजों की नींव गत शब्तादी के लगभग मध्य काल में पड़ी थी जब कि चिकित्सा विज्ञान में प्रयोगात्मक अनुसन्धान प्रारम्भ हुए थे। अणुदर्शी (माइक्रोस्कोप) के निर्माण से ही ये अनुसन्धान सम्भव हो सके। अनेक रोगों की उत्पत्ति के कारण जीवाणुओं की खोज अणुदर्शी द्वारा हो सकी। अणुदर्शी के निर्माण की स्वयं बड़ी रोचक कहानी है जिसके द्वारा प्रकाण्ड विद्वान पेस्च्योर, कोक, फ़्लेमिंग आदि जीवन के नाशक जवाणुओं का पता लगा सके और विद्वत्समूह इन जीवाणुओं से मनुष्य की रक्षा करने वाली रासायनिक वस्तुओं को तैयार करने में समर्थ हुए। इन विद्वानों के आजीवन परिश्रम तथा तपस्या का यह फल है कि आज चिकित्सक विश्वास के साथ रोगियों की भयंकर स्थितियों का सामना करता है और जिन दशाओं को कुछ ही समय पूर्व वह असाध्य समझता था उन पर आज विश्वास के साथ विजय पाता है और रोगी के जीवन की रक्षा करने में सफल होता है। इन नवीन औषधियों ने उनको वह बल और साहस प्रदान किया है जिसके द्वारा वे अपने कर्त्तव्य का पालन करने के सामर्थ्य को प्राप्त कर सके हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रोगों के कारणों तथा उनको नाश करने वाले पदार्थों की खोज किसी एक विज्ञान् के विद्वानों की खोज का परिणाम नहीं है। इन अन्वेषणकर्त्ताओं में चिकित्सकों की तो बहुत अल्प संख्या है। ये पदार्थ रसानज्ञ, जीवाणुविद, शरीर क्रिया वैज्ञानिक, जीव विद्या के विद्वान आदि सबों के सहयोग का फल है जिनके द्वारा चिकित्सा को ये औषधियाँ प्राप्त हो सकी हैं। इनमें भी रसायन विद्या के विद्वानों का सदा बहुत बड़ा हाथ रहा है। किसी वस्तु के अणु तथा परमाणुओं की रचना का अध्ययन करना और उनकी रचना में जोड़-तोड़ करके उनसे नवीन पदार्थ बनाना उन्हीं का काम है। अर्लिख ने १९१३ में इस प्रकार के प्रयोग करके ९१४ वीं वार में नियोसालवर्सन बनाया था जो सिफिलिस जैसे भयंकर रोग की अचूक औषधि प्रमाणित हुई। फ्लेमिंग ने क्रान्तिकारी पेनिसिलिन की खोज की। किन्तु फ्लोर और चेन रसानज्ञों की सहायता से ही उसकी जनता के प्रयोग के लिए उपलब्धि हो सकी। इतनी मात्रा में उसका निर्माण रसायनज्ञों तथा इंजनियरों की सहायता के बिना न हो सका। सब औषधियों की यही कहानी है।

बीसवीं शताब्दी में, जिसके केवल ६२ वर्ष व्यतीत हुये हैं, और उसके भी पिछले भाग में जिन औषधियों का आविष्कार हुआ है उन्होंने चिकित्सा में युगान्तर उत्पन्न कर दिया है। उनकी सहायता से न केवल शारीरिक रोगों की चिकित्सा के अनुपम साधन प्राप्त हुए हैं बल्कि सर्जरी में भी उनके द्वारा असीम उन्नति हुई है। आज सर्जन पेनिसिलिन तथा इसी श्रेणी की अन्य औषधियों के कारण संक्रमण के भय मुक्त रहता है। सदा से सबसे अधिक मृत्यु संक्रमण से होती आई है। रोगोत्पादक जीवाणु ही मनुष्य के सबसे बड़े शत्रु रहे हैं। उनके निश्चित नाश के उपाय को आज विज्ञान ने मनुष्य के हाथों में रख दिया है। अतएव सर्जन और सामान्य चिकित्सक दोनों ही साहसी हो गये हैं और बड़े से बड़े शस्त्र कर्म करके उसमें सफलता प्राप्त करते हैं।

किन्तु जहाँ इन नवीन आविष्कृत औषधियों ने चिकित्सा को सरल बना दिया है, चिकित्सक को अमोघ अस्त्रों से सुसम्पन्न कर दिया है, रोगों पर विजय पाने के अचूक साधन उसके हाथों में रख दिये हैं, वहाँ उसका उत्तरदायित्व भी बहुत बढ़ गया है। ये सब प्रबल तीव्र क्रिया करने वाली औषधियाँ हैं। इनके

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उचित उपयोग से जितना लाभ हो सकता है, अनुचित उपयोग से उतनी ही हानि भी हो सकती है। ब्रह्मास्त्र से निश्चित प्राणान्त होते हैं, चाहे वह मित्र हो या शत्रु। इसी कारण ब्रह्मास्त्र को अत्यन्त सावधानी से केवल शास्त्र कोविद धुरन्धरों द्वारा ही अन्य अस्त्रों के विफल हो जाने पर चलाया जाता था। अनाड़ी अर्ध शिक्षित योद्धाओं के लिए उसका प्रयोग वर्जित था।

इसी प्रकार उन औषधियों के उपयोग में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। चिकित्सक को औषधि का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। उसको औषधि के रासायनिक संघटन, उसके प्रभाव की विधि, किस जीवाणु पर, किस अंग के किस भाग पर, किस औषधि की क्रिया होती है, उससे किस प्रकार से कौन-कौन हानि पहुंच सकती है तथा उनका किस प्रकार प्रतिकार किया जा सकता है, इन सब बातों का चिकित्सक को पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। केवल यह जानना कि कुनेन मलेरिया में लाभ करती है, पर्याप्त नहीं है। किन्तु कौन से प्रकार के मलेरिया में, मलेरिया के पराजयी के जीवन चक्र की कौन सी अवस्था पर उसकी क्रिया होती है तथा असहिष्णु व्यक्तियों को विषाक्तता के कौन से लक्षण प्रकट हो सकते हैं और उनका किस प्रकार प्रतिकार किया जाय, यह जानना अत्यावश्यक है।

ये सब तीव्र औषधियाँ हैं। उनसे लाभ और हानि दोनों ही हो सकती हैं। अतएव चिकित्सक को चाहिए कि वह विषय संबंधी पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही इन औषधियों का प्रयोग करे। विषय का पूर्ण अध्यन अनिवार्य है। प्रयोग करने के पूर्व प्रत्येक औषधि की विशिष्ट जीवाणु पर क्रिया तथा अंग में हुई विकृति का पूरा-पूरा पता लगा लेना चाहिये। जो बहुत सी दुर्घटनायें सुनने में आती हैं या समाचारपत्रों में प्रकाशित होती हैं उनका कारण अनावश्यक या अनुचित प्रयोग होता है।

अतएव उनका प्रयोग तभी करना चाहिये जब आवश्यक हो और रोग के कारण का निश्चय हो चुका हो। दुर्भाग्य से हमारे देश में पेनिसिलिन आदि का बड़ा दुरुपयोग हो रहा है तनिक तनिक सी अस्वस्थता में उनका प्रयोग किया जाता है। यह अनुचित है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस पुस्तक का उद्देश्य चिकित्सकों को इन्हीं औषधियों का ज्ञान प्राप्त करना है। इसमें इस शताब्दी में आविष्कृत कुछ श्रीपधियों का संक्षेप से वर्णन किया गया है और उनका प्रयोग भी बतलाया गया है। इन पर अंग्रेजी भाषा में इतने लेख और पुस्तकें निकली हैं कि उन सभों को पढ़ना असंभव है। किन्तु हिन्दी भाषा में यह साहित्य उपलब्ध नहीं है। संक्षेप में चिकित्सकों तक यह ज्ञान पहुंचाने के लिए ही इस पुस्तक को लिखा गया है। चिकित्सक कार्य व्यस्त रहते हैं, उनको सदा ही समय का अभाव रहता है। इस कारण उनके उपयोग की दृष्टि से ही विषय का विवेचन किया गया है।

जिन मित्रों से मुझे पुस्तक लिखने में सहायता मिली है उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मेरा कर्तव्य है। मैं प्रकाशकों का भी अनुगृहीत हूँ जिन्होंने पुस्तक लिखने के लिए मुझे प्रोत्साहित किया तथा प्रूफ़ों के संशोधन में सहायता की और पुस्तक को सर्वांग सुन्दर बनाने का भरसक प्रयत्न किया।

जो पाठक पुस्तक की त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करेंगे तथा पुस्तक की उपयोगिता को बढ़ाने के लिए मेरे पास सुझाव भेजेंगे उनका मैं विशेषतया कृतज्ञ होऊँगा और अगले संस्करण में त्रुटियाँ दूर करके उन सुझावों के अनुसार विषय की समृद्धि करूँगा।

मुकुन्द स्वरूप वर्मा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विषय सूची

प्रथम परिच्छेद पृष्ठ ३–६०

विटामिनों की खोज का आरंभ, विटामिनों का रूप, विटामिनों की प्रकृति में स्थिति। विटामिन ए। कैरोटिन। उसका रासायनिक रूप। उसकी त्रुटि से उत्पन्न होने वाली दशायें। स्वास्थ्य के लिये आवश्यक दैनिक मात्रा। विटामिन ए का स्रोत। औषधि के रूप में प्रयोग। विटामिन डी का स्रोत। उसकी त्रुटि से हानि तथा अधिकता से हानि। विटामिन बी–जटिल, थियामिन। उसकी त्रुटि से शिशुओं और वयस्कों में उत्पन्न होने वाले लक्षण। उनकी चिकित्सा। थियामिन का स्रोत। दैनिक आवश्यकता। अन्य रोगों में थियामिन का उपयोग। अतिमात्रा से हानि। थियामिन का स्रोत। राइबोफ्लेवीन। न्यूनता के लक्षण। दैनिक आवश्यकता। स्रोत तथा अन्य रोगों में प्रयोग। निकोटिनिक अम्ल, निकोटिनेमाइड। स्रोत। न्यूनता के लक्षण। दैनिक आवश्यकता। औषधि के रूप में प्रयोग। पैन्टोथीनिक अम्ल। शारीरिक आवश्यकता। रोगों में प्रयोग। बायोटिन। दैनिक आवश्यकता। चिकित्स में उपयोग। फैलिक अम्ल। शरीर में क्रिया। चिकित्सा में उपयोग। विटामिन बी$_{१२}$, साइनोकोबल एमीन। न्यूनता के लक्षण। चिकित्सा में उपयोग। कोलीन। मात्रा। चिकित्सा में उपयोग। मीथियोनाइन। आइनोसिटोल। विटामिन-सी, एस्कौर्बिक अम्ल। स्कर्बी रोग से उसका संबंध। उसकी शरीर में क्रिया। दैनिक आवश्यकता। चिकित्सा में प्रयोग। उसका स्रोत। शरीर में क्रिया। दैनिक आवश्यकता। स्रोत। चिकित्सा में प्रयोग। औषधि रूप। विटामिन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ई। दैनिक आवश्यकता। विटामिन के, मिनियार्डोन। शरीर में क्रिया। न्यूनता से उत्पन्न हुए लक्षण। नवजात शिशु में रक्तस्राव। मल्टी विटामिन।

द्वितीय परिच्छेद ६१–७३

रक्तोत्पादक औषधियाँ। रक्ताल्पता। रक्त का प्रयोजन और संगठन। लौह का शरीर में उपयोग। हीमोग्लोबिन का निर्माण। रक्ताल्पता में लौह का उपयोग। रक्ताल्पता में आहार। दुष्ट रक्ताल्पता की चिकित्सा में यकृत का उपयोग तथा आमाशय का प्रयोग। आमाशय और विटामिन बी$_{१२}$, फौलिक अम्ल तथा ऐस्कौर्बिक अम्ल।

तृतीय परिच्छेद ७४–१८३

रासायनी-चिकित्सा—व्याख्या १. सिफिलिस रोग की विशिष्ट औषधियाँ। रोग का कारण तथा अवस्थायें। चिकित्सा में आर्सेनिक और विस्मथ के योगों का उपयोग। आयोडाइड का प्रयोग। सिफिलिस की चिकित्सा में पेनिसिलिन का उपयोग। २. संक्रमणनाशक योग (Anti-infective) (अ) सल्फा औषधियाँ—उनकी खोज का संक्षिप्त इतिहास। १. सल्फेनिलेमाइड। २. सल्फ़ापायरिडीन। ३. सल्फ़ाथियाज़ोल। ४. सल्फ़ासिटेमाइड। ५. सल्फ़ाडियाज़ीन। ६. सल्फ़ामेराज़ीन। ७. सल्फ़ाडाइमिडिन। ८. सल्फ़ाडिमेटीन, एल्फ़ोसीन। ९. सल्फ़ासौक्सिज़ौल, गैन्ट्रिसीन। १०. सल्फ़ामायलोन, मर्फिलिन, मेसुडिन। ११. सल्फ़ामिथौक्सीपायरिडीज़ीन, सल्फ़ाइथाइलीथयाडियाज़ोल। १२. सल्फ़ागुवोनडिन, १३. सकिसनिल सल्फाथियाज़ोल। १४. थैलिल सल्फाथियाज़ोल। १५. थैलिल सल्फासिटेमाइड। सल्फा योगों का शरीर में अवशोषण तथा क्रिया। उनका चिकित्सा में उपयोग। उनके विषैले प्रभाव तथा उपद्रव। प्रयोग कराते समय ध्यान में रखने

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

योग्य बातें। कुष्ठ रोग की चिकित्सा में सल्फोन योगों का उपयोग। ३. प्रतिजीवी औषधियाँ—सहजीविता, प्रतिजीविता, जीवाणु, वाइरस, रिकेट्सिया। जीवाणुओं का परिचय। उनके शरीर की रचना। प्रकार। प्रकृति में जीवाणुओं के कर्म। जीवाणुओं से लाभ। जीवाणुओं में जीवन-संग्राम। रोगोत्पादक जीवाणु। उनको पहिचानने की विधि। उनके द्वारा रोगोत्पत्ति। रोगक्षमता। प्रतिजीवियों की खोज। ऐलेग्जैन्डर फ्लेमिंग तथा फ्लोरे और चेन का कार्य। पेनिसिलिन की खोज। पेनिसिलिनेज। पेनिसिलिन का रासायनिक रूप। उसकी क्रिया। क्रिया की विधि। मात्रक। पेनिसिलिन की मात्रा तथा चिकित्सा में उपयोग। उसका स्थानिक प्रयोग। पेनिसिलिन के रूप। उसकी विषाक्तता। पेनिसिलिन से मृत्यु। सहिष्णुता। टाइरोथ्राइसीन। स्ट्रेप्टोमाइसीन की खोज। रासायनिक रूप। उसकी क्रिया तथा चिकित्सा में उपयोग। मात्रा। वायोमाइसीन। नियोमाइसीन। दीर्घोपयोगी प्रतिजीवी। क्लोरेम्फिनिकौल या क्लोरमाइसिटीन। उसकी खोज। क्रिया। मात्रा। चिकित्सा में उपयोग। विषाक्तता। टैट्रासाइक्लीन या एक्रोमाइसीन। रासायनिक रूप। मात्रा। औक्सीटैट्रासाइक्लीन या टैरामाइक्लीन। मात्रा। क्लोरटैट्रासाइक्लीन या औरियोमाइसिन। मात्रा। टैट्रासाइक्लीनों की क्रिया और रोगों में उपयोग। उनकी विषाक्तता। एराइथ्रोमाइसीन। टाइरोथ्राइसीन। वेसिट्रेसिन। पौलोमिक्सिन। सीरोमाइसीन। प्यूरोसाइसीन, नोवोमायोसीन, ओलियेन्डोमाइसीन। सिगमामाइसिन। फंगस पर क्रिया करने वाले प्रतिजीवी—फंगीसाइडीन या मायोकोस्टेटीन। सिट्रीक्लीन। चिकित्सा में उपयुक्त जीवाणुनाशी का चुनाव। प्रतिजीवियों का शारीरिक वृद्धि पर प्रभाव। सल्फा और प्रतिजीवियों का चिकित्सा में मिश्रित उपयोग।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चतुर्थ परिछेद १८४–२०५

मैलेरियानाशी औषधियाँ। मैलेरिया का संक्षिप्त इतिहास। उसका कारण, मैलेरिया पराश्रयी। पराश्रयी के भिन्न-भिन्न रूप। उसके मैथुनी और अमैथुनी जीवन चक्र। मच्छर द्वारा पराश्रयी का संवहन। लेवरान और रोनाल्डरोस के अन्वेषण। पराश्रयी के भिन्न-भिन्न रूप। मैलेरिया नाशक औषधियों की खोज। क्यूनीन की क्रिया तथा अंगों पर प्रभाव। चिकित्सा में उपयोग। मात्रा। प्लाज्मोक्वीन। पाभाक्वीन। पेन्टाक्वीन। प्राइमाक्वीन। क्विनाक्राइन। या एटाब्रीन। क्लोरोक्वीन। कामोक्वीन। क्लोरोगुवेनाइड, प्रोगुवानिल हाइड्रोक्लोराइड या पेल्यूड्रीन। डाराप्रिम।

पंचम परिच्छेद २०६–२१६

अमीबानाशी औषधियाँ। ऐन्डेमीबा हिस्टोलिटिका। अमीबा जन्य प्रवाहिका। रोगवाहक। चिकित्सा में प्रयुक्त होनेवाली औषधियाँ। ईमेटीन। प्रयोग और मात्रा। विषाक्तता। कार्बार्सन। मिलिबिस। उनका उपयोग। मात्रा। विषाक्तता। चिनिफोन। डायोडोक्विन। क्लोरोक्विन। उपयोग, मात्रा आदि। प्रतिजीवियों का प्रयोग—फ़्यूमिगिल्लिन। आक्सीटेट्रासाइक्लीन। क्लोरटैट्रासाइक्लीन। उपयोग, मात्रा। अमीबिक दशा की चिकित्सा।

षष्ठ परिच्छेद २१७–२३१

यक्ष्मा या ट्यूबरक्यूलोसिस की औषधियाँ। स्ट्रिप्टोमाइसीन। डाईहाइड्रोस्ट्रिप्टोमाइसीन। उपयोग, मात्रा, विषाक्तता आदि। स्ट्रिप्टोहाइड्रेज़ाइड। पैराअमीनोसेलीलिलिक एसिड। प्रयोग, मात्रा। आइसोनिज़िड। मात्रा तथा प्रयोग। उसके अन्य योग। राजयक्ष्मा में उपयोगी अन्य औषधियाँ। प्रोभीन। डायासेन। प्रोभीज़ोल। टिबियोन। पाइरेज़िनेमाइड। सीरोमाथसीन।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सप्तम परिच्छेद २३२–२६६

अतिरक्त-दाब में उपयोगी औषधियाँ (High Blood pressure), रक्त-दाब का अर्थ। कारण। सामान्य रक्त-दाब। रक्त-दाब पर आयु का प्रभाव। अतिरक्त-दाब। लक्षण। प्रकार। मस्तिष्क का अतिरक्त-दाब से संबंध। वृक्क और अतिरक्तदाब। अदिरक्तदाब से हानि। हृदय पर धमनी काठिन्य का प्रभाव। मस्तिष्क पर प्रभाव। वृक्क पर प्रभाव। अतिरक्तदाब की चिकित्सा में उपयोगी औषधियाँ। सर्पगन्धा या राउल्फ़िया सर्पेन्टाइना। सर्पगन्धा पर अन्वेषण कार्य। क्रियाशील अवयव के खोज का संक्षिप्त इतिहास। सर्पगन्धा का रक्तसंचरण तन्त्र पर प्रभाव। उसका चिकित्सा में उपयोग। विषाक्तता। मात्रा। एप्रिसोलीन। हैक्सामिथोनियम। उनका चिकित्सा में प्रयोग। मात्रा। ऐन्सोला-इसीन। इनवर्सिन। मेवासीन। इकोलिड। क्लोर-आइसोन्डैमीन। विरेट्रम। हाइडर्जीन। नाइट्राइट तथा नाइट्रेट लवणों का उपयोग। सोडियम नाइट्राइट की क्रिया। अतिरक्तदाब की चिकित्सा।

अष्टम परिच्छेद २६७–३१४

हृदय पर प्रभाव करने वाली औषधियाँ। हृदय की रचना तथा कार्य। हृत्पेशी की संकोच शीलता। हृत्पेशी के संकोच की विशेषता। संकोच लहर की दिशा। हृदय का रक्तसंभरण। हृदय सम्बन्धी नाड़ियाँ। (अ) हृत्पेशी पर क्रिया करने वाली औषधियाँ १. डिजिटेलिस। इतिहास। डिजिटेलिस तथा डिजिटौकिसन की हृदय पर क्रिया। अन्य प्रभाव। अवशोषण तथा त्याग। विषाक्तता। चिकित्सा में उपयोग। मात्रा। जिटेलीन। एसीनेलिड। अन्य हृदय की बलदायक वनस्पतियाँ। स्ट्रोफेन्थन ग्रेटस। अर्जीनिया मैरीटाइमा। कनवलेरिया मेजेलिस। थैवीटिया नैरीफोलिया। २. क्विनीडीन। क्रिया। अवशोषण तथा त्याग। चिकित्सा में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उपयोग। मात्रा। विषाक्तता। ३. प्रोकेनेमाइड हाइड्रो क्लोराइड। मात्रा तथा प्रयोग। (क) हृदय की परिमण्डली धमनियों पर प्रभाव करने वाली औषधियाँ। उरःशूल। लक्षण। चिकित्सा—ग्लिसरिल ट्राईनाइट्रेट। एमिल नाइट्राइट। औक्टिल नाइट्राइट। थियोफाइब्रिन। पापावेरिन हाड्रोक्लोराइड। एथावरीन। पैण्टाइराइथ्रिटोल टैट्राइनाइट्रेट। ट्राईएथानोलेमीन ट्राईनाइट्रेट। खेल्लिन। उरःशूल की चिकित्सा के अन्य साधन। परिमण्डली संरोध तथा परिमंडली अपर्याप्तता। लक्षण। चिकित्सा। स्तब्धता। अतालता तथा स्पन्दनात्यय। आहार और परिमंडली हृद्रोगों का संबंध। (च) रक्त आतंचन रोधी औषधियाँ। रक्तातंचन क्रिया की विधि। १. हिपारिन सोडियम। क्रिया। मात्रा। प्रयोग। २. डिकूमेरोल—क्रिया। मात्रा। विषाक्तता। चिकित्सा में उपयोग। ३. ट्रोमिक्सान, ४. कुमोपायरिन। ५. कुमाडिन सोडियम। ६. मार्कुमार, ७. हेड्विसन। ८. डिपाक्सिन :

नवम परिच्छेद ३१५–३६१

हारमोनों का चिकित्सा में उपयोग। हारमोनों की खोज। उनका रासायनिक संगठन। शरीर पर प्रभाव। लिंगोत्पादक हारमोन—ईस्ट्राडियोल तथा टैस्टोस्टेरोन। १. स्त्री-हारमोन या ईस्ट्रोजिन्स। उनकी क्रिया। न्यूनता के लक्षण। अन्य दशाओं में प्रयोग। अनार्तव, कष्टार्तव, मैट्रोपैथिया हैमरेजिका। स्तन तथा पुरस्थ ग्रन्थि के कैंसर में उपयोग। ईस्ट्रोजन योग। प्रयोग विधि। विषाक्तता। २. प्रोजैस्टरोन—उत्पत्ति। क्रिया। गर्भवृद्धि से संबंध। चिकित्सा में उपयोग। पीयूषग्रन्थि का डिम्बग्रन्थि की क्रिया पर प्रभाव। ३. पुरुष हारमोन या एन्डरोजेन्स—टैस्टौस्टरोन। उत्पत्ति। प्रभाव। न्यूनता के लक्षण। योग। चिकित्सा में प्रयोग। स्त्री और पुरुष हारमोनों की विपरीतता। अधिवृक्क ग्रन्थि। ग्रन्थि के अन्तस्था

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

और बहिस्था भागों में उत्पन्न होने वाले हारमोन। एड्रिनेलिन। एडीसन का रोग। बहिस्था भाग के हारमोनों की रासायनिक रचना। कार्टीसोन तथा हाइड्रोकार्टीसोन। उनकी शरीर में क्रिया। चिकित्सा में उपयोग। हारमोन न्यूनता। अधिवृक्क–यौन लक्षण पुंज। अन्य रोगों में कार्टीसोन और हाइड्रोकार्टीसोन का उपयोग। ए० सी० टी० एच०। उनके दुष्प्रभाव। प्रैडनीसोन तथा प्रैडनीसोलोन। रासायनिक संघटन। क्रिया। मात्रा। चिकित्सा में उपयोग। पीयूषग्रन्थि—ए० सी० टी० एच०। चिकित्सा में उपयोग। अवटुका ग्रन्थि। क्रिया। अवटुन्यूनता। मूढ़वामनता। चिकित्सा। मिक्सोडीमा। लक्षण तथा चिकित्सा। गलगंड। अवटुका के सत्व का प्रयोग। पैराथाइराइड। टिटेनी रोग से संबंध। चिकित्सा।

दशम परिच्छेद ३६२–३७४

हिस्टामीनरोधी औषधियाँ। एलर्जी। अनाफ़िलेक्सिस या द्रुवग्राहिता। हिस्ट्रामीन। उसकी शरीर में स्थिति तथा प्रभाव। एन्टर्गान तथा पायरिबैन्जेमीन हाइड्रोक्लोराइड, बैनाड्रील तथा अन्य योग। उनके रूप तथा उपयोग। पित्ती, प्रतिश्याय। दमे (कास) की चिकित्सा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बीसवीं शताब्दी की औषधियाँ

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रथम परिच्छेद

विटामिन (Vitamin).

ये वस्तुयें वास्तव में औषधियाँ नहीं हैं बल्कि खाद्य पदार्थों के प्राकृतिक अंश हैं जो सदा आहार के अवयवों में उपस्थित रहते हैं। जबतक मनुष्य भी प्राकृतिक अवस्था में रहता था तबतक उसको ये सब अवयव पूर्ण मात्रा में प्रकृति में उत्पन्न होने वाले खाद्य पदार्थों से मिल जाते थे। किन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्य होता गया, उसका रहन-सहन, आहार आदि भी अप्राकृतिक बनते गये। उसने भोजन को अग्नि पर पकाना सीखा। आटा पीसना सीखा। अन्न के दानों पर का छिलका उतारना सीखा। आटे को छानकर उसकी रोटी बनाकर खाने लगा। चावलों को मिलों द्वारा पालिश किया जाने लगा। तब से ही उसको इन प्राकृतिक अंशों का मिलना कम या बन्द हो गया और इनकी न्यूनता के कारण उसको रोग होने लगे। ऐसे रोगों की चिकित्सा विटामिनों को खिलाना है।

विटामिनों का ज्ञान गत ५० या ६० वर्ष से ऊपर का नहीं है। विटामिन सम्बन्धी अन्वेषण इसी काल में विशेषरूप से हुये हैं। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी में कुछ विद्वानों ने ऐसे लक्षणों का वर्णन किया है जो विटामिन-न्यूनता के समान हैं। वे लक्षण बेरी-बेरी, स्कर्वी, पेलाग्रा-के से हैं। २६०० वर्ष ईसा पूर्व चीन वालों को इस रोग का ज्ञान बताया जाता है। इङ्गलैण्ड के नाविक भी यह जानते थे कि आहार में किसी प्रकार की न्यूनता या विकार के कारण मसूढ़ों का फूल जाना, उनसे रक्त स्राव होना, शरीर के जोड़ों में शोथ होना (जो स्कर्वी के लक्षण हैं) आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। जब भी वे कई मास या वर्ष की लम्बी समुद्र यात्रा पर जाते थे तो इस प्रकार का रोग अवश्य ही कुछ नाविकों को हो जाता था। उनको यह भी ज्ञान था कि जब तक वे कहीं भू-भाग पर न पहुँचेंगे और उनको हरा शाक या फल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

खाने को न मिलेंगे तब तक रोगी स्वास्थ्यलाभ नहीं कर सकता। उसकी मृत्यु हो जायगी। उनको यह ज्ञान था कि नीबू या सन्तरे के रस से यह रोग जाता रहता है, अतएव वे इन फलों का रस बहुत मात्रा में एकत्र करके अपने साथ ले जाते थे। ऐसा ही कुछ ज्ञान साधारण जनता को भी था। किन्तु रोग का वास्तविक ज्ञान तथा खाद्य पदार्थों में विटामिनों की इस स्वरूप में उपस्थिति की उनको कोई जानकारी न थी।

विटामिनों का वैज्ञानिक अनुसन्धान उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से प्रारम्भ होता है। डाक्टर ऐकमान (Eijkmann) एक उच्च श्रेणी के चिकित्सक थे। वे जावा द्वीप में वहाँ के जेल के कैदियों की चिकित्सा के लिए नियुक्त थे। वहाँ उन्होंने बेरी-बेरी के समान रोग से बहुत से रोगियों को मरते देखा। रोग की महामारी-सी फैलती थी। उन्होंने मुर्गियों और उनके बच्चों में भी यही रोग फैलते देखा था जिससे मुर्गियों के झुण्ड के झुण्ड नष्ट हो जाते थे। सब लक्षण वैसे ही थे जो जेल के रोग ग्रस्त कैदियों में होते थे। रोगियों में नाड़ी-शोथ, स्तम्भ, विषम दुर्बलता, हृदय का अवसाद आदि मुख्य लक्षण थे। उन्होंने यह भी देखा कि जो मुर्गियाँ केवल जेल के कैदियों का बचा-खुचा भोजन खाती थीं उन्हीं को यह रोग होता था। उस समय रोगोत्पादक जीवाणुओं की बड़ी तेजी से खोज हो रही थी। नित्य नये जीवाणु खोज कर निकाले जाते थे। इससे बहुतों ने सोचा कि बेरी-बेरी रोग का कारण भी कोई जीवाणु था। किन्तु ऐकमान के विचारानुसार भोजन के साथ रोग का विशेष सम्बन्ध था। पहले उन्होंने समझा कि आहार में चावलों की अधिकता के कारण मुर्गियों के आहार में श्वेतसार (Starch) की अधिकता रोग का कारण था। किन्तु जब उबले हुए चावलों में चावलों के कुछ छिलके, जो उनको पालिश करने के समय निकाल दिये गये थे, फिर से मिला दिये गये तो ऐसे आहार से मुर्गियाँ रोगमुक्त हो गईं। अतएव डाक्टर ऐकमान ने विचारा कि चावलों के छिलके ही में कुछ ऐसी वस्तु थी जिसके निकल जाने से कैदी और मुर्गियाँ रोग-ग्रस्त होती थीं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यहीं से खोज आरम्भ हुई। अनेक विद्वानों ने अन्वेषण करना आरम्भ किया और उनके प्रयत्नों से बेरी-बेरी रोग के कारण तथा चिकित्सा का पूरा-पूरा पता लगा। इन विद्वानों में जापान के प्रोफेसर टकाकी (Takaki) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। रूस और जापान के युद्ध में जापानी सेना में बेरी-बेरी रोग महामारी के रूप में फैला था। इन्होंने रोग की सफल चिकित्सा मालूम करके सेना को रोग से मुक्त कर दिया।

इसी समय से विटामिनों की खोज द्रुत गति से होने लगी और आहार सम्बन्धी प्रयोग और अन्वेषण प्रारम्भ हो गये। ये प्रयोग अधिकतर सफेद चूहों पर, जिनको गिनीपिग कहते हैं, किये जाते हैं। उनको भाँति-भाँति का भोजन खिलाया गया, शुद्ध कार्बोहाइड्रेट, स्नेह तथा प्रोटीन का भोजन दिया गया। किन्तु उसमें कोई ताजा पदार्थ नहीं मिलाया गया। चूहे बीमार होने लगे। उनमें अनेक प्रकार के लक्षण उत्पन्न हो गये। उसके पश्चात् उस भोजन में एक-एक करके कितने ही पदार्थ मिलाये गये। एक भोज्य पदार्थ मिलाया गया तो एक निकाला गया। चूहों के दूसरे समूह को दूसरे प्रकार का भोजन दिया गया। इस प्रकार के अनेक विद्वानों द्वारा अनेक प्रयोग हुये जिससे भोजन के विशिष्ट अवयवों की न्यूनता या अधिकता से जो जो रोग लक्षण उत्पन्न होते हैं, वे मालूम हो जायँ। इस प्रकार एक विशिष्ट आहार पदार्थ का एक चूहे पर क्या प्रभाव होता है यह मालूम हो गया।

इसके पश्चात् रसायनज्ञों ने काम प्रारम्भ किया। आहार पदार्थों का रासायनिक विश्लेषण करके उन्होंने उनके रासायनिक तत्व निकाले। उनके रासायनिक सङ्गठन का अध्ययन किया और रासायनिक संकेतों (Chemical formula) को मालूम किया। तब उनको रासायनिक विधियों द्वारा संश्लेषण करके तैयार करने की बारी आई। वैज्ञानिकों ने अपनी प्रयोग-शालाओं में प्रथम उनको थोड़ी मात्रा में तैयार किया जिसको चूहों को रोग-ग्रस्त कराके उनको खिलाया गया। जब इन प्रयोगों के सन्तोषजनक फल निकले तब इन तत्वों को औषधि के रूप में प्रयोग के लिये कारखानों में अधिक मात्रा में निर्माण के लिये इञ्जिनियरों तथा उद्योगपतियों के सिपुर्द

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किया गया जिसके फलस्वरूप आज सब विटामिन शुद्ध रासायनिक रूप में बाजार में मिलती हैं।

विटामिन शब्द का प्रयोग सबसे पहिले डाक्टर फंक (Funk) ने सन् १९१२ में किया था। इन सब भोज्य पदार्थों के आवश्यक तत्वों को उन्होंने विटामिन का नाम दिया। तब से इस समय तक अनेकों विटामिनों का पता लग चुका है और सम्भव है और विटामिनों का भी पता लगे। ये सब स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक हैं। उनकी न्यूनता से शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। भिन्न-भिन्न विटामिनों की न्यूनता से भिन्न-भिन्न लक्षण उत्पन्न होते हैं।

विटामिनों का रूप—

ये विटामिन विशिष्ट रासायनिक योग होते हैं जिनका संगठन भली भाँति मालूम हो चुका है। शुद्ध रासायनिक रूप में वे तैयार कर ली गई हैं और टिकियों, चूर्ण तथा इंजैक्शन के रूप में वे बाजार में बिकती हैं। स्वास्थ्य के लिये ये अनिवार्य हैं। इनकी थोड़ी-सी मात्रा पर्याप्त होती है। इस कारण उनसे आहार अवयवों की भाँति शक्ति उत्पादन का कोई प्रश्न नहीं हो सकता। वे किस प्रकार क्रिया करती हैं, यह अब तक स्पष्ट नहीं हो सका है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि वे एक उत्प्रेरक (Catalyst) की भाँति काम करती हैं। वे शारीरिक क्रियाओं को सम्वर्धित कर देती हैं, उनके पूर्ण रूप से सम्पादन के लिये उत्तेजना प्रदान करती हैं। अन्य विद्वानों की सम्मति में विटामीन निःस्रावी ग्रन्थियों में उत्पन्न होने वाले हारमोनों को उत्तेजित करती हैं। उनकी उत्पत्ति को बढ़ाती हैं। ये हारमोन समस्त शारीरिक क्रियाओं का नियन्त्रण करते हैं। इस प्रकार से इनकी सक्रियता पर ही जीवन निर्भर करता है। इनके निष्क्रिय हो जाने या क्रिया के ह्रास से तथा अतिक्रिया से शारीरिक क्रियायें विकृत हो जाती हैं। इन विद्वज्जनों का मत है कि इन ग्रन्थियों की उपयुक्त क्रिया के लिये विटामिन आवश्यक हैं। कुछ विद्वानों का तीसरा ही मत है कि ये प्रकिण्वों (Enzyme) की सहायक वस्तु हैं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

और शरीर में जो अनेकों प्रकिण्व उत्पन्न होकर अपनी-अपनी क्रियायें करते हैं वे विटामिनों की सहायता से पूर्ण होती हैं। विटामिनों के विना वे अधूरी रह जाती हैं। इस मतभेद से यह भली प्रकार समझा जा सकता है कि विटामिन की वास्तविक क्रिया अभी तक नहीं मालूम हो सकी है।

कई प्रकार की विटामिन मालूम की जा चुकी हैं जिनकों भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं। ये दो प्रकार की होती हैं। एक स्नेह या वसा में घुलनशील (Fat soluble) और दूसरी जल में घुलने वाली (Water soluble)। विटामिन ए, डी, ई और के स्नेह में घुलने वाली हैं और इस कारण सब प्रकार के प्राकृतिक स्नेहों मक्खन, तेल, अण्डे आदि में उपस्थित रहती हैं। शेष विटामिनें वी$_1$, वी$_2$, वी$_6$, वी$_{12}$ (जो वी–जटिल समूह कहा जाता है), सी तथा विटामीन पी जल में घुलने वाली हैं और इस कारण फलों तथा शाकों में पाई जाती हैं।

प्रकृति में विटामिनों की स्थिति :—

विटामिन सब हरे शाकों और फलों में तथा वृक्ष, पौधों और सब प्रकार के जान्तव भोज्य पदार्थों दूध, मक्खन, मांस, अंडा, मछली आदि में पाई जाती हैं। जितने भी हमारे आहार के पदार्थ हैं उन सबों में विटामिन उपस्थित हैं और हमको नित्यप्रति के आहार के भिन्न पदार्थों से शरीर के लिए आवश्यक मात्रा में मिल जाती हैं। हमारी शारीरिक आवश्यकतायें दैनिक साधारण भोजन से पूरी हो जाती है। किन्तु भोजन को पकाने से उनमें कुछ कम कुछ अधिक नष्ट हो जाती हैं। जिनके भोजन में हरे फल बिल्कुल नहीं होते वे विटामिनों से बहुत कुछ वंचित रह जाते हैं। इस कारण उनको ऊपर से विटामिन खाना आवश्यक हो जाता है।

आजकल जो इतनी विटामिन की धूम मची हुई है वह बहुत कुछ इश्तिहारबाजी है। दाँतों के मंजन में विटामिन, लिपस्टिक और बालों में लगाने के तेल में विटामिन, मुख पर लगाने का विटामिनयुक्त पाउडर ये सब केवल प्रचार है। हाँ, जब विटामिन की कमी के कोई लक्षण प्रगट

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हों तो इनका प्रयोग आवश्यक है। साधारणतया दैनिक आहार विटामिन की आवश्यक मात्रा देने के लिए पर्याप्त है। हमारी त्वचा स्वयं सूर्यप्रकाश के पड़ने से विटामिन डी बना लेती है। कुछ विटामिन शरीर में होने वाली क्रियाओं से बन जाती हैं।

विटामिन 'ए'

इस विटामिन का $C_{20}H_{30}O$ रासायनिक संकेत है जो उसका संगठन बताता है। यह स्नेह में घुलने वाला एक रङ्गरहित अल्कोहल है। वनस्पतियों या हरे शाकों में उपस्थित कैरोटीन नामक हरे रङ्ग के कणों से पशु शरीर विटामिन 'ए' बना लेता है। कैरोटीन पशुओं के शरीर में नहीं होती। केवल वनस्पतियों में होती है। गाजर में यह वस्तु बहुतायत से होती है और इसीसे गाजर का रङ्ग उत्पन्न होता है। हरे रङ्ग की पत्तियों में भी यह प्रचुर मात्रा में रहती है और पशु शरीर में पहुँचने पर विटामीन 'ए' में परिवर्तित हो जाती है। अतएव यह विटामीन 'ए' का एक पूर्व रूप है। कैरोटीन का संकेत $C_{40}H_{56}$ है। अतएव जल के अणुओं के जुड़ने से उससे विटामिन 'ए' बन जाती है।

शरीर में विटामिन 'ए' मुक्त-अल्कोहल (Free alcohol) या ऐस्टर (Esters) के रूप में रहती है। मुक्त अलकोहल के रूप में वह रक्त में रहती है और ऐस्टर के रूप में यकृत में एकत्र पाई जाती है। विटामिन 'ए' का सबसे बड़ा भण्डार यकृत है जिसमें इस विटामिन की कई वर्षों के प्रयोग के लिए पर्याप्त मात्रा एकत्र हो सकती है। थोड़ी मात्रा वृक्क, अधिवृक्क, रक्त, फुप्फुस, त्वचा की बसा और नेत्र में भी पाई जाती है। शरीर में सब स्थानों की बसा में यह विटामिन समान रूप से नहीं पाई जाती। कहीं-कहीं तनिक भी नहीं होती। उसके वितरण की यही विशेषता है। कुछ पशुओं में सबसे अधिक वृक्क में या नेत्र में पाई जाती है।

विटामिन 'ए' का एक दूसरा रूप भी पाया जाता है जो विटामिन के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

एक अणु से हाइड्रोजन के दो परमाणुओं के निकल जाने से बनता है। किन्तु इसमें सन्देह है कि वह मनुष्य के शरीर में कुछ क्रिया करता है।

न्यूनता से उत्पन्न हुए लक्षण—

मनुष्य में विटामिन-ए की न्यूनता से निम्नलिखित दशायें पाई जाती हैं—

१. **रतौंधी** (Night blindness)—रोगी रात्रि को या अन्धेरे में भली-भाँति नहीं देख सकता।

२. **जीरोआप्थेल्मिया या जीरोसिस** (Zeropthalmia, Zerosis)—यह एक प्रकार का नैत्राभिष्यन्द है जिसमें नेत्र का श्लेष्मल पटल यद्यपि शोथयुक्त होता है तथापि वह सूख सा जाता है और उससे कोई स्राव नहीं निकलता, आँसू नहीं गिरते।

यद्यपि उपर्युक्त दोनों दशाएँ प्रायः एक साथ उत्पन्न होती हैं किन्तु प्रथम दशा नेत्र में विटामिन की कमी से उत्पन्न होती है और दूसरी समस्त शरीर में विटामिन की न्यूनता का परिणाम है। एक दूसरी दशा जो इतनी तीव्र नहीं है, वह 'बिटोट के विन्दु' (Bitot's spots) कही जाती है। नेत्रों के श्वेत भाग में श्लेष्मल पटल के नीचे कोनों पास खड़िया के समान श्वेत रङ्ग के त्रिकोणाकार विन्दु बन जाते हैं।

३. दशा के अधिक तीव्र होने पर किरेटोमैलेशिया (Keratomalacia) हो जाती है जिसमें नेत्र का पारदर्शी भाग कार्निया मृदु होकर सिकुड़ सा जाता है। उस पर व्रण बन जाते हैं, नेत्र में पूय पड़ जाती है और नेत्र विदार (Perforation) हो जाता है जिससे रोगी की दृष्टि नष्ट हो जाती है।

४. अन्धेरे में जाने पर साधारणतया कुछ समय पश्चात् थोड़ा दिखाई देने लगता है। यह Dark adaptation या अन्धकारानुकूलन कहलाता है। विटामिन की न्यूनता से यह शक्ति नष्ट हो जाती है या उसका ह्रास हो जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

५. त्वचा कड़ी पड़ जाती है (Keratinisation)। उस पर कड़े-कड़े अङ्कुर से बन जाते हैं।

६. व्यक्ति की संक्रामक रोगों की प्रतिरोध करने की क्षमता का भी ह्रास हो जाता है। फोड़े फुन्सी बहुत होने लगते हैं।

प्रयोगशालाओं में किये गये पशुओं पर प्रयोगों के परिणाम अधिक तीव्र और विस्तृत हुए हैं। ऊपर लिखी हुई दशाओं के अतिरिक्त उनमें निम्नलिखित रोगों की उत्पत्ति और हानिकारक प्रभाव भी पाये गये हैं—

(१) शरीर की अस्थियों की वृद्धि रुक जाती है या धीमी हो जाती है। इस कारण सारा शरीर वामन (बौना) सा रह जाता है।

(२) रोगों की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। जिन चूहों पर प्रयोग किये गये थे उनमें फुफ्फुस और मूत्रवाहक तन्त्र, वृक्क, मूत्राशय आदि अधिक रोगाक्रान्त हुए। लाला रसोत्पादक ग्रन्थियों के रोग भी अधिक पाये गये।

(३) अस्थि-विकृति तथा वक्रता भी अधिक होती है। पालतू पशुओं को चुकन्दर या ऐसे ही अधिक श्वेतसार या शर्करायुक्त पदार्थों को खिलाने से ऐसी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। कपाल की अस्थियाँ विकृत होकर मस्तिष्क की वृद्धि नहीं होने देतीं। गर्भ की अवस्था में सूअरियों को विटामिन 'ए' रहित भोजन देने से भ्रूणों में ऐसी विकृतियाँ उत्पन्न हो गईं जैसे नेत्र-हीनता, हृदय की विकृत रचना, मूत्रवाहक तन्त्र की अपूर्णता, शिरोदकता (Hydrocephalus) आदि।

(४) आन्त्र तथा अन्य प्रणालों की उपकला का ह्रास (Atrophy)।

(५) अश्मरियों (Calculi) की उत्पत्ति।

स्वास्थ्य के लिए दैनिक आवश्यकता

दैनिक आवश्यकता दो प्रकार से मालूम की जाती है। जिन देशों की जनता में इस प्रकार के रोग अधिक पाये जाते हैं तथा जिनमें नहीं पाये जाते उनकी भी जनता के आहार के विटामिन अवयव का मूल्याङ्कन किया जाता है। इससे पता लगता है कि जहाँ रोग अधिक होता है वहाँ के आहार में कितनी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विटामिन की वृद्धि की जाय कि वह स्वस्थ व्यक्ति समुदाय के आहार के समान हो जाय। दूसरे कुछ व्यक्तियों पर प्रयोग किये जाते हैं। उनकी विटामिन की मात्रा को इतना घटा दिया जाता है कि उनमें अन्धकारानुकूलता नष्ट हो जाती है। तब फिर उनके आहार में शनैः-शनैः विटामिन की मात्रा बढ़ाई जाती है जब तक वे पूर्ववत स्वस्थ नहीं हो जाते। इस प्रकार के प्रयोगों में समय बहुत लगता है। पशुओं पर भी इसी प्रकार के अनेक प्रयोग किये जा चुके हैं।

इन सब प्रयोगों से स्वास्थ्य के लिए ३००० से ४००० मात्रक (i. u.) विटामिन–'ए' का दैनिक प्रयोग निर्धारित किया गया है। यह मात्रा साधारण परिश्रम करने वाले १२० पौंड शरीर भार के युवक के लिए है।

विटामिन कैरोटीन के रूप में भी ली जा सकती है। पहले कह आये हैं कि कैरोटीन शरीर में विटामिन–'ए' में परिवर्तित हो जाती है। इस कारण उसको प्रो-विटामिन–'ए' भी कहा जाता है। अतएव इसके द्वारा भी विटामिन 'ए' की न्यूनता को पूरा किया जा सकता है। हरे शाकों की पत्तियों में कैरोटीन बहुतायत से होती है। आगामी पृष्ठों में दी हुई सारणी में भिन्न-भिन्न शाकों में उपस्थित केरोटीन की मात्रा दिखाई गई है। विटामिन 'ए' जान्तव भोज्य पदार्थों में पाई जाती है जिनका मूल्य अधिक होता है। बानस्पतिक पदार्थों के दाम कम होते हैं। उनको प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। पालक, सोया, सलाद, धनियाँ, बथुआ, पत्ता गोभी, पके हुए फल, पपीता, आम, टमाटर, केला, बेर, सन्तरा, खजूर आदि से कैरोटीन पर्याप्त मात्रा में प्राप्त की जा सकती है।

कैरोटीन का विटामिन 'ए' की अपेक्षा कम शोषण होता है। इस कारण उसको अधिक मात्रा में प्रयोग करना उचित है। विटामिन की अपेक्षा उसको तिगुना या चार गुना लेना चाहिये। कैरोटीन और विटामिन 'ए' दोनों को मिलाकर लेने से विटामिन की शारीरिक आवश्यकतायें पूरी करना अत्युत्तम है। एक भाग विटामिन और दो या तीन भाग कैरोटीन लेने की ब्रिटिश मेडिकल ऐसोसियेशन ने सिफारिश (१९४९–५०) की है, जो निम्नलिखित है—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

	विटामिन 'ए'		कैरोटीन
बालक (१५ वर्ष से कम)	१५०० i. u.	अथवा	४५०० i. u.
	१।३ विटामिन 'ए' और २।३ कैरोटीन		३००० i.u.
युवक तथा वयस्क	२५०० i. u.	अथवा	७५०० i. u.
	१।३ विटामिन 'ए' और २।३ कैरोटीन		५००० i.u.
गर्भिणी स्त्री	३००० i. u.	अथवा	९००० i. u.
	१।३ विटामिन और २।३ कैरोटीन		६००० i. u.
शिशु को दूध पिलाने	४००० i. u.	अथवा	१२००० i. u.
वाली अवस्था में	१।३ विटामिन और २।३ कैरोटीन		८००० i. u.

१ मिलीग्राम विटामिन 'ए' = ३३०० मात्रक i. u.

१ मिलीग्राम कैरोटीन = १६६६ ,, i. u.

उपर्युक्त मात्रायें व्यक्ति को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक मानी गई हैं। जो विटामिन न्यूनता से ग्रस्त हों उनके लिए अधिक मात्रा आवश्यक है। लक्षणों के तीव्र होने पर प्रति एक सेर शरीर भार के लिए २००० i. u. देना उचित है। यदि शरीर भार ६० सेर है तो उसको विटामिन 'ए' १२०००० i.u. प्रति दिन देना चाहिये जो ३५ मिलीग्राम विटामिन 'ए' अथवा १०० मिलीग्राम कैरोटीन से प्राप्त हो जायेंगे। रोग के शान्त हो जाने पर फिर पूर्ववत् मात्रा का प्रयोग उचित है। लम्बी अवधि वाले सामान्य रोगों में भी जैसे कैन्सर या राजयक्ष्मा उनमें इस विटामिन की शरीर में कमी हो जाती है। उसकी पूर्ति आवश्यक है। इस कारण ऐसी अवस्थाओं में मात्रा को बढ़ा देना उचित है। यह पाया गया है कि कुल ५०००० i. u. से यह कमी पूरी हो जाती है। २०००० मात्रक प्रति दिन तीन-चार दिन तक देकर इस कमी को पूरा कर देना उचित है जिससे रोगी के बल की रक्षा होती रहे।

किन वस्तुओं से विटामिन 'ए' प्राप्त की जाय—

विटामिन 'ए' सब जान्तव पदार्थों में विशेषकर स्नेह में उपस्थित है। दूध, मक्खन, घी, अण्डा, मांस, विशेषकर यकृत में यह विटामिन बहुत अधिक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मात्रा में पाई जाती है। शरीर में यह यकृत ही में एकत्र होती रहती है। इस कारण काड या हैलीबट मछलियों के यकृत से तेल निकालकर उसका विटामिन 'ए' के लिए प्रयोग करवाया जाता था। यह विशेषकर नार्वे से आता था। गत महायुद्ध में इसका आना बन्द हो गया। उस समय हमारे ही देश में शार्क नामक मछली से, अनेक खोजों के पश्चात्, यह तेल बनाना प्रारम्भ हुआ। यह मछली हमारे देश के पश्चिमी तट के पास समुद्र में करांची से लेकर कन्याकुमारी तक बहुतायत से पाई जाती है। अब यह उद्योग बहुत उन्नति कर गया है और देश की आवश्यकता के लिए पर्याप्त मात्रा में तैल यहीं तैयार किया जाता है। काड या हैलीबट के तेल की अपेक्षा शार्क के यकृत का तैल उत्तम प्रमाणित हुआ है। यह शार्क लिवर आयल के नाम से बिकता है। कई कम्पनियों ने इसके ऐसे योग तैयार किये हैं जिनमें गन्ध नहीं है और स्वादिष्ट हैं। शार्कोफैरोल (Sharkoferol) एक ऐसा ही योग है। उसमें लौह भी है जो रक्तक्षीणता (Anaemia) में लाभ करता है।

वानस्पतिक पदार्थों से प्राप्त कैरोटीन का पहले उल्लेख किया जा चुका है जिसके द्वारा विटामिन 'ए' प्राप्त हो सकती है।

अति मात्रा से हानि—

विटामिन 'ए' तथा केरोटीन की अत्यधिक मात्रा से हानि हो सकती है। जिन चूहों को अधिक मात्रा दी जाती है उनमें अस्थिभग्न अधिक होते हैं। उत्तरी ध्रुव पर जो भालू पाया जाता है (Polar Bear) उसके यकृत में इतनी अधिक विटामिन होती है कि जितनी भी अन्वेषक पार्टियाँ वहाँ गई हैं उनके सदस्यों को इस भालू के यकृत को खाने के कारण अति विटामिनता (Hypervitaminosis) से ग्रस्त होना पड़ा है। अमरीका और फ्रान्स से विशेषकर ऐसे रोगियों की रिपोर्ट आई हैं। शिशुओं को इस विटामिन का ऊपर से प्रयोग करवाने की प्रथा सी है। जिनको अत्यधिक मात्रा में प्रयोग करवाया गया है उनमें दो प्रकार के लक्षण मिले हैं। ३००००० i. u. मात्रक की शिशु को एक मात्रा देने से चौबीस घण्टे के भीतर उसके रन्ध्रों

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(Fontanelles) पर उभार से बन गये। तथा उसको वमन होने लगा। इसका कारण मस्तिष्क मेरु-द्रव (Cerebrospinal fluid) का अधिक मात्रा में बनना था। विटामिन की अनुपस्थिति से भी ऐसा ही होता है। दूसरे प्रकार के लक्षणों में अस्थियों की अति तथा अनुचित वृद्धि, यकृत तथा प्लीहा की वृद्धि, रक्ताल्पता (जिसका कारण रक्त बनाने वाले अंगों की अशक्यता थी) अंगुलियों के अन्तिम पोरवों का मोटा हो जाना (Clubbing) तथा बालों का मोटे कड़े चमकरहित हो जाना ये लक्षण थे। एक तीन वर्ष के शिशु में ऐसे लक्षणों की रिपोर्ट निकली थी। एक २८ वर्ष की स्त्री जो चर्म रोग के लिए ८ वर्ष से ५००००० i. u. विटामिन 'ए' प्रतिदिन ले रही थी उसको शिर दर्द, खुजली, दृष्टि की मन्दता, द्विदृष्टि (Diplopia) और बाहुओं, टाँगों और हाथ पाँवों तथा पीठ में पीड़ा हो गई। कपाल के पार्श्वप्रान्त में एक उभार बन गया था। ग्रीवा की पीत स्नायु और जानु प्रान्त की अधोजान्विका स्नायु कड़ी पड़ गई। ऐक्सरे चित्रों से मालूम हुआ कि उसकी अस्थियों में भी कई स्थानों पर परिवर्तन हो चुके थे। उसको चलना-फिरना भी कठिन हो गया था। अनेकों ने उस रोगी की परीक्षा की, कई अस्पतालों में उसको भरती किया गया। मस्तिष्क में अर्बुद, ऐडीसन रोग, मानस भ्रान्ति, सन्ध्यार्त्ति, यकृत शोथ आदि अनेक रोगों का निदान हुआ। अन्त में डाक्टर सोवेल और उनके सहायकों ने रोगी से पूछताछ कर मालूम किया कि वह सात-आठ साल से ५००००० i. u. विटामिन 'ए' नित्य प्रति अपनी चिकित्सा के हेतु ले रही थी। उसको बन्द करते ही रोगी की दशा में सुधार होने लगा। १७ दिन के पश्चात् खुजली बन्द हो गई, एक मास में चर्म की दशा सुधर गई और दो महीने पश्चात् उसकी पीठ, टाँगों और बाहुओं की पीड़ा जाती रही। किन्तु रोगी को सामान्य स्वास्थ्य लाभ करने में ८ मास लग गये। और तब जाकर उसके रुधिर में विटामिन 'ए' की मात्रा अपने सामान्य स्तर पर आई। अर्थात् उसके शरीर में इस विटामिन की जो राशि एकत्र हो गई थी वह ८ मास में समाप्त हुई। तब उसकी दशा सुधरी।

कैरोटीन की अधिकता से रोगी को ऐसे लक्षण उत्पन्न होते हैं जिनसे वह

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भयभीत हो जाते हैं, यद्यपि उनका स्वास्थ्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। चर्म पीला पड़ जाता है, किन्तु कामला के समान नेत्र का श्वेत भाग पीला नहीं होता। गाजर अधिक खाने से इस प्रकार के लक्षण रिपोर्ट किये गये हैं। गत महायुद्ध में गाजर अधिक खाने का प्रचार किया गया था। उससे कितने ही व्यक्तियों का चर्म पीला हो गया। गाजर खाना बन्द करने से रङ्ग जाता रहा।

गाजर[1] कैरोटीन का विशेष स्रोत है। हमारे देश में इनको बहुत खाया जाता था। किन्तु इधर उनका प्रयोग घट गया है।

खाद्य पदार्थ	विटामिन 'ए' की मात्रा प्रति १०० ग्राम	
हैलीवट मछली के यकृत का तेल	४००००००	मात्रक (i. u)
काड मछली के यकृत का तेल	२०००००	,,
भेड़ का यकृत	४५०००	,,
बैल का यकृत	१५०००	,,
सूअर का यकृत	५०००	,,
बछड़े का यकृत	४०००	,,
मक्खन	३५००	,,
चीज़ (Cheese)	१५००	,,
अण्डा मुर्गी का	११००	,,
वृषण, बैल के	१०००	,,
सामन मछली, टीन में बन्द	२५०	,,
दूध (गरमी के मौसम का)	१५०	,,
दूध (जाड़े का)	६५	,,
हैरिङ्ग मछली	१००	,,
मांस, बैल या हिरन का	२०	,,

१. अंग्रेजी में गाजर को Carot कहते हैं, जिससे कैरोटीन शब्द निकला है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

खाद्य पदार्थ	कैरोटीन की मात्रा प्रति १०० ग्राम	
गाजर पकी हुई	२०,०००	मात्रक (i. u)
पालक	१३,०००	,,
गाजर बिना पकी हुई	१०,०००	,,
जल सिंवार	८८००	,,
शकरकन्दी	६०००	,,
टमाटर	१२००	,,
आड़	८००	,,
पत्ता गोभी	५००	,,
	३५०	,,
मकई	२०००	,,
खूबानी	३००	,,

औषधि के रूप में प्रयोग—

अनेक विश्वस्त कम्पनियों के बने हुए विटामिन 'ए' के योग बाज़ार में मिलते हैं। काड लिवर तथा हेलीवट लिवर आइल के नाम से ये शुद्ध तैल किसी भी बड़ी दुकान पर मिल सकते हैं। शार्क लिवर आयल भी मिलता है। जहाँ तक हो सके इन शुद्ध रूपों का ही उपयोग करना चाहिए।

प्रयोग की सुविधा के लिए कुछ कम्पनियों ने इनका संकेन्द्रण करके विशेष रासायनिक विधियों द्वारा तथा अन्य उपयुक्त पदार्थ मिलाकर उनकी गन्ध और स्वाद को उन्नत करने का प्रयत्न किया है। शिशुओं को कुछ बूँदें देनी पर्याप्त होती हैं।

विटामिन 'डी'

यह भी स्नेह में घुलने वाली विटामिन है। इसकी विशेषता यह है कि यह स्वयं शरीर में त्वचा पर धूप पड़ने से त्वचा के नीचे ही अर्गोस्टिरौल (ergosterol) नामक पदार्थ के रूप में बन जाती है और वहाँ वसा में एकत्र हो जाती है। इस कारण आर्गोस्टिरोल को विटामिन 'डी' का पूर्वरूप माना जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कई अन्वेषकों के प्रयोगों से पता चला है कि कुछ अन्य वस्तुएँ भी सूर्यप्रकाश के त्वचा पर पड़ने से सक्रिय होकर रिकेट्स (rickets) नामक रोग नहीं उत्पन्न होने देतीं। इस विटामिन की यही विशेष क्रिया है। इस कारण इसको रिकेट्सरोधक विटामिन कहा जाता है। बड़ी आयु में होने वाला अस्थिमृदुता (Ostomalacia) रोग भी इस विटामिन की कमी से होता है।

सन् १८९० में प्रोफ़ेसर पाम ने सूर्यप्रकाश के महत्त्व की ओर योरुप का ध्यान आकर्षित किया था। हमारे देश में सदा से ही सूर्य का महत्त्व मालूम था। इसी कारण प्रातःकाल का नदी-स्नान, सूर्य को अर्घ्य देना तथा सूर्य पूजा का विधान किया गया था। पश्चिमी देशों में पाम ने यह दिखाया कि जो बच्चे या बालक अथवा अन्य व्यक्ति खुले हुए सूर्य-प्रकाश से आलोकित स्थानों में रहते हैं उनका स्वास्थ्य उत्तम होता है। उनमें महामारी के रोगों को रोकने की सामर्थ्य होती है। अब इस तथ्य से सभी सहमत हैं।

इस विटामिन के सम्बन्ध में प्रथम विश्वयुद्ध अर्थात् १९१४-१८ के पश्चात् अन्वेषण प्रारम्भ हुये जिसमें मैकोलम, मिलेनबी, हेस, उंगर, ह्यूम चिक तथा बोर्डिलों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं जिन्होंने इस विटामिन का स्वास्थ्य के लिए महत्त्व प्रतिपादित किया। किन्तु उससे पाम के कथन का महत्त्व कम नहीं होता। यदि प्रत्येक व्यक्ति विशेषकर गर्भवती और दूध पिलाने वाली स्त्रियाँ तथा शिशु और बालक सूर्य-प्रकाश में अधिक समय व्यतीत कर सकते तो इतनी विटामिन 'डी' का प्रयोग न करना पड़ता जितना आज किया जाता है।

विटामिन 'डी' की शरीर में क्रिया—

यह विटामिन किस प्रकार शरीर में क्रिया करती है इसका अभी तक स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सका है। इसकी न्यूनता से रिकेट्स रोग उत्पन्न हो जाता है जिसका मुख्य लक्षण अस्थियों का विकृत तथा टेढ़ी पड़ जाना है। इसका कारण अस्थियों में कैलसियम और फ़ासफ़ोरस की कमी है। यह पाया गया है कि इस विटामिन की कमी होने पर अंत्रियों से कैलसियम का पूर्ण शोषण नहीं हो पाता, और न वृक्क की अणु नलिकाओं से फास्फेट का पुनः शोषण

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(Reabsorption) होता है। न ये दोनों वस्तुएँ अस्थियों में एकत्र हो पाती हैं।

विद्वानों की सम्मत्ति में इस विटामिन के और भी काम हैं। इसको न देने से चूहों की पेशियों में 'ऐडिनोसीन ट्राई फ़ास्फोरिक एसिड' कम हो जाता है। विटामिन की अधिक मात्रा देने से इस वस्तु की मात्रा अधिक हो जाती है। रिकेट्स ग्रस्त बच्चों के मूत्र में अधिक अमीनो अम्ल निकलते हैं। उनको कैल्सीफ़रोल (अर्गोस्टरोल का दूसरा रूप) खिलाने से अमीना अम्लों का निकलना बन्द हो जाता है।

यद्यपि इसका ठीक-ठीक पता नहीं लग सका है कि किस क्रिया से यह विटामिन कैलसियम और फ़ास्फोरस को अस्थि में सन्निहित करती है किन्तु इतना निश्चित रूप से प्रमाणित हो चुका है कि यह कैलसियम और फ़ास्फोरस के शरीर द्वारा स्वाङ्गीकृत होने का विशेष कारण होती है। इसकी न्यूनता से कैलसियम और फ़ासफोरस के पर्याप्त मात्रा में न पहुँचने पर अस्थियाँ मृदु होकर टेढ़ी हो जाती हैं। उनकी वृद्धि नहीं होती। बालक दुर्बल और क्षीण हो जाते हैं। उनको अतिसार के समान लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

कितनी विटामिन 'डी' आवश्यक है—

साधारणतया ४०० मात्रक i. u. विटामिन 'डी' प्रति दिन बालकों के स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त है। रिकेट्स से किसी सामान्य बालक की रक्षा करने के लिए १०० i. u. भी पर्याप्त हो सकते हैं। किन्तु ४०० मात्रक को अत्युत्तम माना जाता है जिससे रोग के रक्षा के अतिरिक्त शारीरिक क्रियायें भी उत्तम प्रकार से होती रहती हैं। गर्भावस्था तथा दूध पिलाने के समय में इसकी मात्रा ८०० मात्रक कर देनी चाहिये।

सूर्य-प्रकाश का इस संबंध में महत्त्व न भूलना चाहिये। बहुत से बालकों को विटामिन नहीं मिलती, किन्तु वे स्वस्थ रहते हैं। इसका कारण उनका बहुत सा समय कमरों से बाहर खुले स्थानों में खेलना है जहाँ उनको सूर्य-प्रकाश और शुद्ध वायु दोनों मिलते हैं। युवा तथा वृद्धों को भी इस विटामिन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

की आवश्यकता होती है जो उनको नित्यप्रति के आहार तथा धूप के द्वारा मिल जाती है। यदि इसमें सन्देह हो तो ऊपर से विटामिन देनी चाहिये।

विटामिन 'डी' का स्रोत—

हेलीउट, काउ, तथा शार्क के यकृत तथा यकृत के तेलों में विटामिन 'डी' की बहुत अधिक मात्रा होती है। इनके अतिरिक्त अण्डे तथा दूध और दूध से उत्पन्न हुये पदार्थों, घी आदि में भी अधिक मात्रा में उपस्थित रहती है। सूर्य-प्रकाश के चर्म पर पड़ने से शरीर में उसकी उत्पत्ति का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। यह विटामिन 'डी' को पाने का अत्यन्त सस्ता और सहज उपाय है। जो निर्धन व्यक्ति इसको बाज़ार से मोल लेने में असमर्थ हों उनके लिये यह उत्तम उपाय है। उनका शरीर से वस्त्रों को हटाकर कुछ समय तक धूप में जब यह अति तीव्र या असह्य न हो बैठना उचित है। शिशुओं को वस्त्र उतार कर धूप में कुछ समय तक रखना आवश्यक है। बालकों को जाँघिये के अतिरिक्त अन्य वस्त्रों को उतार कर धूप में खेलने के लिए उत्साहित करना चाहिये।

काउ, हैलीवट तथा शार्क के अतिरिक्त अन्य मछलियों, विशेषकर दाँतुर मछली (Sawfish) के यकृत तेलों में भी बहुत विटामिन 'डी' होती है। गो के दूध के घी में भी इस विटामिन की अधिक मात्रा पाई जाती है। किन्तु भैंस के दूध में इसकी अत्यन्त न्यूनता होती है। मूँगफली के तेल में यह नहीं होती। अन्य वानस्पतिक तेल भी इससे वञ्चित ही के समान होते हैं किन्तु अल्ट्रावायोलेट किरणों में रखने से बहुतों में यह विटामिन उत्पन्न हो जाती है। ऐसे तेलों को, विशेषकर मूँगफली के तेल को शार्क के यकृत तेल में मिलाकर उसकी विटामिन की मात्रा को काउ के यकृत तेल के समान कर दिया जाता है। तथा मूँगफली के तैल में कैलसीफ़ेरोल को मिलाकर, जो अब फैक्टरियों में निर्माण किया जाता है, उसको विटामिन 'डी' के लिये प्रयोग करवाया जा सकता है। आजकल अनेक खाद्य पदार्थों, दालदा, आटा, बिस्कुट, शुष्क दूध आदि में इस वस्तु को ऊपर से मिलाया जाता है जिससे उन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पदार्थों की पोषक शक्ति बढ़ जाय। ऐसे पदार्थों को प्रवलीकृत (Fortified) खाद्य कहा जाता है। यद्यपि कैल्सीफ़रोल का रासायनिक संघटन स्वाभाविक विटामिन 'डी' से कुछ भिन्न है, किन्तु उसकी क्रिया विटामिन 'डी' के समान है। एक बालक के लिए ४०० से ८०० (i.u.) मात्रक पर्याप्त है। इस वस्तु का अब बहुत निर्माण होता है और उसका बहुत से खाद्य पदार्थों के प्रवलीकरण के लिये प्रयोग किया जाता है। सरकार के स्वास्थ्य विभाग की ओर से इस सम्बन्धी नियम बना दिये गये हैं। विटामिन के एक ग्राम (८½ रत्ती) में ४०००००० i. u. मात्रक होते हैं। इससे स्पष्ट है कि कितनी थोड़ी मात्रा से शारीरिक आवश्यकता पूरी हो जाती है।

विटामिन की न्यूनता से हानि—

ऊपर कहा गया है कि इस विटामिन की न्यूनता से बालकों में रिकेट्स नामक रोग उत्पन्न हो जाता है। इसी कारण इसका नाम ऐन्टीरिकेटिक अर्थात् रिकेटरोधी विटामिन पड़ा है। युवावस्था में विशेषकर स्त्रियों को प्रसव के पश्चात् अस्थिमृदुता जो अंग्रेजी में ओस्टोमेलेशिया (Ostomalacia) रोग कहलाता है, उत्पन्न हो जाता है। उसका कारण भी इसी विटामिन की कमी होती है।

विटामिन-'डी' की अधिक मात्रा से हानि—

सन् १८६८ में इङ्गलैण्ड में यह अनुमान किया गया था कि उस देश के ३३% बच्चे और बालक तीव्र रिकेट्स रोग से ग्रस्त थे। १९३३ में फिर इसी प्रकार का सर्वेक्षण (Survey) किया गया। भिन्न-भिन्न नगरों या प्रान्तों में भिन्न-भिन्न व्यवसाय और समुदाय तथा स्थितियों के व्यक्तियों के बालकों की परीक्षायें की गईं। उनके एक्सरे चित्र लेकर अस्थियों की दशा देखी गई। इसके फलस्वरूप केवल ५% प्रतिशत से कुछ अधिक बालक रोग से ग्रस्त मिले। यह संख्या सन् १९३३ में घट कर अब केवल ०.५% प्रतिशत रह गई है। अर्थात् ५५ वर्ष में रोग जो देश भर के बालकों में इतनी भयङ्कर संख्या में फैला हुआ था घटकर नाम मात्र को रह गया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह सब उस प्रचार का फल था जो विटामिन 'डी' के प्रयोग के लिए किया गया था। न केवल जनता में यह ज्ञान फैलाया गया किन्तु खाद्य पदार्थों को बनाने वालों को भी कानून द्वारा बाध्य किया गया कि वे उन पदार्थों को बनाते समय उसमें विटामिन 'डी' मिलावें। उन निर्माणकर्ताओं ने भी अपने बनाये हुए पदार्थों का विज्ञापनों, पत्रों आदि द्वारा प्रचार किया जिससे जनता में विटामिनों का ज्ञान फैल गया और वे स्वयं उनका उपयोग करने लगे।

अब इसका परिणाम यह हुआ है कि विटामिन का अतिप्रयोग होने लगा है जिससे अति विटामिनता (Hyfervitaminosis) से लोग ग्रस्त होने लगे हैं। अति मात्रा के प्रयोग से रक्त में कैलसियम अधिक मात्रा में एकत्र हो जाता है जिसको हाईपरकैल्सीमिया (Hypercalcaemia) या अतिकेलसियमरक्तमयता कहा जाता है। इस रोग से आक्रान्त शिशुओं को वमन, अरुचि, कोष्ठबद्धता आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। वृद्धि रुक जाती है। रक्त में उपस्थित केलसियम और कौलेस्टरोल की मात्रा बढ़ जाती है। और भी अधिक तीव्र लक्षण हो सकते हैं। शरीर में जहाँ-तहाँ अन्य अङ्गों में केलसियम एकत्र हो जाता है। यहाँ तक कि मृत्यु हो सकती है। कुछ विद्वानों ने इसमें सन्देह किया कि विटामिन 'डी' की ही अधिकता से ऐसे परिणाम हो सकते हैं। एक कमेटी द्वारा अन्वेषण किया गया। और यद्यपि कोई विशिष्ट निष्कर्ष अभी तक नहीं निकाला जा सका है तो भी विटामिन 'डी' की मात्रा को घटाने की सिफ़ारिश की गई है और उसका प्रचार भी किया गया है। एक बात चिकित्सक ने रिपोर्ट भी की है (१९५८) कि अतिकेल्सीमिया की दशा घट रही है।

औषधि के रूप में प्रयोग—

पहिले कहा जा चुका है कि प्रायः विटामिन 'ए' और 'डी' एक साथ उपस्थित होते हैं। हेलीवट, काउ, शार्क तथा दांतुर मछलियों के यकृत तेल में इस विटामिन की बहुत मात्रा रहती है। कुछ अन्वेषकों की सम्मति में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उनमें 'ए' की अपेक्षा विटामिन 'डी' ही अधिक होती है। इनका प्रयोग औषधि के रूप में किया जा सकता है यद्यपि वे वास्तव में सहायक खाद्य पदार्थ ही हैं। औषधियों में निम्नलिखित मुख्य हैं जिनका विटामिन 'ए' के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है :—ऐकेक्सोलीन्, औस्येलीन, हैलीवरोल, आदि। इनके कैप्सूल और इंजेक्शन भी बनाये जाते हैं।

चर्म क्षय में प्रयोग भारी मात्रा में ५०००० से १००००० i. u. मात्रक प्रतिदिन तक दिये जाते हैं।

विटामिन 'बी' जटिल (B.Complex)

यह एक विस्तृत समूह है जिसमें १२ वस्तुयें सम्मिलित हैं। ये सब पृथक-पृथक वस्तुएँ हैं जिनके रासायनिक संगठन तथा प्रभाव कार्य आदि भी पृथक हैं। उनमें से प्रत्येक को शुद्ध रासायनिक रूप में पृथक किया जा चुका है तथा रासायनिक विधियों से तैयार भी किया गया है। स्वास्थ्य के लिए यह सारा समूह विशेषकर इसके प्रथम आठ सदस्य अत्यन्त आवश्यक हैं। ये निम्नलिखित हैं—

१. थियामीन, ऐन्यूरीन या विटामिन बी१. (Thiamine, Aneuryn).
२. राइबोफ्लेवीन, लैक्टोफ्लेवीन या विटामिन बी २. (Riboflavin)
३. पायरेडोक्सीन, ऐडर्मीन या विटामिन बी ६. (paradoxine hydrochloride).
४. निकोटिनिक एसिड (Nicotinic acid).
५. पैन्टोथीनिक एसिड (Pentothenic acid).
६. फौलिक एसिड (Folic acid).
७. विटामिन बी१२ (Cynocohalamine).
८. बायोटीन (Biotin).
९. ईनोसीटोल (Inositol)
१०. कोलीन (Choline)
११. पैरा 'अमीनोबैंजोइक एसिड; और (Para-amino Benzoicacid)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१२. एडेनिलिक एसिड (Adanylic acid)

कुछ विद्वान अंतिम चार पदार्थों को विटामिन बी के समूह में नहीं गिनते।

थियामीन या ऐन्यूरीन

इसको ऐन्यूरीन कहा जाता था किन्तु अब सर्वसम्मति से उसको थियामीन का नाम दिया गया है। इसको विटामिन बी१ तथा बेरीबेरी-रोधक और नाडीशोथरोधक (antiberi beri, anti neuritic) भी कहा जाता है। इसी का सबसे पूर्व इस समूह में पता लगा था। यह एक श्वेतरंग का जल में घुलने वाला चूर्ण है जिसमें विशेष प्रकार की गन्ध होती है। यह विटामिन शरीर के प्रत्येक अंग अथवा उसके ऊतकों की उचित और उपयुक्त क्रिया के लिये आवश्यक है। इसका शोषण आन्त्र में होता है। किन्तु यह शरीर में कहीं एकत्र नहीं होता। शोषित थियामीन का शरीर से शीघ्र ही उत्सर्जन हो जाता है। इस कारण मूत्र में उपस्थित थियामीन की मात्रा से शरीर में शोषित हुई तथा स्वास्थ्य के लिये आवश्यक मात्रा को निर्धारित किया जाता है। इसका उत्सर्जन स्वेद तथा दुग्ध के द्वारा भी होता है।

क्रिया—शरीर द्वारा कार्बोहाइड्रेट के आत्मीकरण अथवा उसके चयापचय से थियामीन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसकी अनुपस्थिति में शरीर कार्बोहाइड्रेटों का पूर्ण उपयोग नहीं कर सकता। ग्लूकोज का पूर्ण आक्सीकरण नहीं होता। इसकी कमी से पायरूवेट लवण शरीर के ऊतकों में एकत्र हो जाते हैं और अन्तिम रूप में नहीं पहुँच पाते।

शरीर में स्वयं थियामीन बनती रहती है। अंत्रियों में उपस्थित बहुत से जीवाणुओं में थियामीन बनाने की शक्ति होती है। वे थियामीन बनाते रहते हैं। घास खाने वाले पशुओं में इस विटामिन की न्यूनता के लक्षण नहीं पाये जाते। उनके आन्त्र में जीवाणुओं की संख्या बहुत अधिक होती है। वे ही थियामीन बनाते रहते हैं। इस कारण ये पशु विटामिन-न्यूनता से ग्रस्त नहीं हो पाते।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

न्यूनता के लक्षण—

थाइमिन की न्यूनता से वे लक्षण उत्पन्न हो जाते है जिनको बेरी-बेरी कहा जाता है। यद्यपि यह रोग अधिकतर युवा या प्रौढावस्था में होता है किन्तु शिशुओं को भी होता है जिनमें अधिक आयु वालों की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न लक्षण होते हैं।

शिशुवों में लक्षण—

प्रायः आयु के प्रथम छः मास में रोग होता है जो अकस्मात् प्रारंभ होकर एक या दो दिन में शिशु का प्राणान्त कर देता है। क्षुधा का ह्रास, वमन, बेचैनी, उदरशूल तथा ठहर-ठहर कर बच्चे का चीखना, ये लक्षण प्रारंभ होते हैं। शीघ्र ही शरीर पर शोफ (oedema), हो जाता है। श्वास शीघ्र और कष्ट से आते हैं, और थोड़े ही समय में कण्ठदाह या स्वरयन्त्र के शोफ युक्त हो जाने से शिशु रोने या चिल्लाने में असमर्थ हो जाता है। मुँह से शब्द नहीं निकलता। हृदय का अवसाद बढ़जाता है। अन्तर्मस्तिष्कीय भार बढ़ने से पेशियों में कम्पनायें होने लगती हैं, मूर्च्छा हो जाती है और शीघ्र ही शिशु की मृत्यु हो जाती है।

अधिक आयु वालों में लक्षण—

ये वही लक्षण होते हैं जिनको साधारणतया बेरी-बेरी कहा जाता है। रोग प्रायः जीर्ण होता है और धीरे-धीरे आरंभ होता है। प्रारंभ में क्षुधा-ह्रास, अरुचि, कोष्ठबद्धता, जी मिचलाना, उदर-विकार, दुर्बलता विशेषकर और पंजों में, हाथों पावों का सुन्न हो जाना तथा उनमें चुनचुनाहट प्रतीत होना, ये विशेष लक्षण होते हैं। आगे चलकर हृदय की द्रुतगति, और पाँवों तथा टाँगों पर सूजन या शोफ हो जाता है। और आगे चलकर रोग दो रूप ले सकता है। एक में शरीर के निचले भाग पर सूजन आ जाती है जो ऊपर के भाग पर भी फैल जाती है। हृदय की दुर्बलता बढ़ती जाती है। हृत्क्षेत्र में पीड़ा, हृदय की धड़कन का बढ़ जाना, श्वास लेने में कष्ट होना आदि हृदय के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अवसाद के लक्षण उत्पन्न होकर कुछ समय पश्चात् हृदय की क्रिया बन्द होने से मृत्यु हो जाती है।

दूसरे रूप में लक्षण विशेषकर प्रान्तिकवह नाड़ी शोथ (Peripheralpoly neuritis) के होते हैं। इसमें शोफ नहीं होता। नाड़ियों के ह्रास के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। हाथ पाँव या टाँगों बाहों की पेशियाँ सूख सी जाती हैं। टाँग की पिंडिका की पेशियों में, पीड़ा रहती है। हाथ या पाँव नीचे को लटक से जाते हैं। अंगुलियों से कुछ पकड़ा नहीं जाता। वे संकुचित हो जाती हैं। पाँव नीचे को झुका हुआ रहता है जिससे रोगी चल नहीं पाता। इन अंगों की प्रेरक पेशियों का स्तंभ हो जाता है। उसके पश्चात् उनका क्षय होने लगता है। तत्पश्चात् वे संकुचित होने लगती हैं जिससे अंग विकृत दिखाई देते हैं। रोगी की दशा अकस्मात् बिगड़ने लगती है और उसकी मृत्यु हो जाती है।

अधिकतर रोगियों में रोग जीर्ण रूप का होता है और बहुत समय तक चलता रहता है। मृत्यु का कारण कोई अन्य ही रोग होता है जो रोगी के दुर्बल और अशक्त होने पर उसको दबा लेता है और उसके जीवन का अन्त कर देता है।

प्रारंभिक अवस्था में बेरी-बेरी रोग का निश्चय कठिन होता है। कई अन्य भी ऐसे रोग हैं जिनमें प्रारंभिक लक्षण समान होते हैं। फिर विटामिन-न्यूनता अन्य कारणों से भी होती है। गर्भावस्था में अतिवमन, प्रवाहिका तथा अन्य रोगों से जिनमें आहार के अवयव आन्त्र से शीघ्र ही निकल जाते हैं उन सबों में थियामीन की रक्त में कमी हो जाती है। बहुधा इस विटामिन के साथ रोगियों में अन्य विटामिनों की भी त्रुटि होती है। विटामिन ए तथा सी की न्यूनता थियामीन की कमी के साथ प्रायः पाई जाती है, ऐसी दशाओं में अन्य विटामिनों अथवा बहुविटामिनों (Multivitamine) का प्रयोग आवश्यक है। बेरी-बेरी का निश्चय करने के लिये रोगी के आहार का अन्वेषण करना होगा। उसके आहार की न्यूनता

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मालूम हो जाने पर ही बेरी-बेरी रोग का निश्चय करना चाहिये। फिर स्थान देशकाल का भी ध्यान रखना चाहिये। यह रोग प्रायः उन्हीं प्रान्तों में होता है जहाँ पालिश किये हुये चावलों का प्रयोग अधिक किया जाता है, जहाँ का मुख्य आहार ही चावल है।

थियामीन का स्रोत—

अन्न के दानों के छिलकों में थियामीन बहुतायत में उपस्थित होती है। दाल तथा शुष्क फलों विशेषकर मूँगफली में थियामीन की बहुत मात्रा होती है। मांस, अंडे, मछली, शाक, हरे फल तथा दूध में इसकी मात्रा कम होती है। मिलों में पालिश किये हुये चावलों में ऊपर का सारा छिलका उतर जाने से थियामीन नष्टप्राय हो जाता है। किन्तु सेला चावल में बना रहता है। उनको जल में गरम करने या उबालने से थियामीन छिलके से सारे दाने में विस्तृत हो जाता है। इस कारण उबालकर पालिश करने पर उसका बहुत सा भाग बना रहता है जो बेरी-बेरी को रोकने में समर्थ होता है।

चावल को धोने और पकाने की विधि से भी इस विटामिन का बहुत कुछ संबंध है। यह पाया गया है कि प्रथम बार चावलों को धोने ही में बहुत सा विटामिन जल के साथ निकल जाता है और निकोटिनिक एसिड, फ़ास्फोट तथा अन्य पोषक अवयवों की भी हानि हो जाती है। चावलों को जितना धोया जायगा उतना ही इन अवयवों का नाश होगा, यद्यपि सबसे अधिक नाश पहले बार के धोने से होता है। चावलों को उबाल कर मांड को फेंक देने से और भी पोषक अवयवों और विटामिनों की हानि होती है। चावलों को उचित प्रकार से न रखने तथा उनमें कीड़ों के पड़ जाने से भी चावल बिगड़ जाते हैं। ऐसे चावलों के बहुत काल तक उपभोग करने से बेरी-बेरी तथा अन्य न्यूनताजन्य रोग उत्पन्न होते हैं।

दैनिक मात्रा—

यह कई बातों पर निर्भर करता है। आहार किस प्रकार का है, उससे

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कितनी थियामीन उपलब्ध है। व्यक्ति का व्यवसाय तथा परिश्रम, शारीरिक दशा आदि सब का ध्यान रखना चाहिये। साधारण संतुलित आहार करने वाले स्कूल के विद्यार्थी के लिये दैनिक थियामीन के ३३०१.४ पर्याप्त हैं जो १ मिलीग्राम में उपस्थित होते हैं। यह अत्यल्प मात्रा प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त हो सकती है। गर्भावस्था तथा दूध पिलाने वाली स्त्रियों के आहार में तिगुनी विटामिन होना चाहिये।

थियामीन-न्यूनता की चिकित्सा—

थियामीन को अधिक मात्रा में शरीर में पहुँचाना है। यह दो प्रकार से किया जाता है, आहार द्वारा तथा शुद्ध थियामीन को मुँह से खिला कर अथवा इंजेक्शन देकर। जिन देशों में आहार की त्रुटि से यह रोग चिरकालिक हो गया है और सदा बना रहता है वहाँ आहार को सुधारना आवश्यक है। पालिश किये हुए चावल का प्रयोग कम किया जाय तथा सरकारी विधान के अनुसार पालिशदार चावल में बिना पालिश का चावल मिला कर जनता को दिया जाय अथवा पालिशदार चावल में थियामीन मिला कर उसको प्रबल कर दिया जाय। यह विधि फिलिपाइन में बहुत संतोषजनक प्रमाणित हुई है। सेले चावल का प्रयोग बढ़ाया जाय। यह प्रश्न पूर्वी देशों में अधिक है जहाँ की जनता का आहार ९० प्रतिशत चावल का होता है। वहाँ की जनता को अधिक शाक तथा फलों का प्रयोग करने के लिये उत्साहित करना चाहिये।

रोग जब उग्र हो, हृदयावसाद के लक्षण विषम दिखाई दें, शोफ बढ़ गया हो तो थियामीन पूर्णमात्रा में देना आवश्यक है। कई गुना मात्रा दी जा सकती है।—मुँह से खिलाने से भी तुरन्त लाभ होता है। इंजेक्शन भी दिये जाते हैं। किन्तु प्रायः खिलाने ही से कुछ ही घंटों में उन्नति के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। खिलाने के एक घंटे के भीतर उसका शोषण होकर प्रभाव दिखाई देने लगता है। दो दिन में शोफ घट जाता है। अन्य लक्षणों में भी बहुत उन्नति हो जाती है। नाड़ी जन्य लक्षणों के ठीक होने में अधिक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

समय लगता है। दृष्टिनाड़ीक्षय तथा स्तंभ यदि दीर्घकाल से है तो वे पूर्णतया कभी नहीं जाते। ऐसी दशा में विटामिन का कई महीनों तक प्रयोग करवाया जाता है।

अन्य रोगों में विटामिन का प्रयोग—

बेरी-बेरी के बहुत प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं। विशेषकर नाडीशोथ संबन्धी लक्षण अधिक होते हैं, थियामीन के प्रयोग से लक्षण जाते रहते हैं। रोगी को निश्चित लाभ होता है। इस कारण यह समझा जाता है कि किसी भी कारण से ये लक्षण उत्पन्न हों उनमें थियामीन से लाभ अवश्य होगा। इस सिद्धान्त पर जहाँ भी नाड़ीशोथ के लक्षण दिखाई दिये हैं वहीं थियामीन का प्रयोग किया गया है। निम्नलिखित दशाओं में इस वस्तु का बहुत प्रयोग किया गया है और अब भी किया जाता है। गृध्रसी (Sciatica), बाहवीय नाड़ीशोथ (brachial neuritis), टांगों में पीड़ा, दृष्टि नाड़ीशोथ (Optic neuritis), पारद, संखिया, यशद आदि के कारण उत्पन्न हुए विषजन्य नाड़ीशोथ, दृष्टि-विकार तथा शरीर में अन्य स्थानों विशेषकर पीठ की पेशियों में तनाव या पीड़ा। एक स्त्री को पीठ के निचले भाग की पीड़ा के लिये महीनों तक थियामीन के इन्जेक्शन दिये गये। परीक्षा करने पर पता चला कि उसके पीठ का एक कशेरुका गल गया था जिससे ऊपर का कशेरुक ने नीचे के कशेरुक पर बैठकर नाड़ियों को दाब दिया था। थियामीन का अरुचि, कोष्ठबद्धता, वाराक की शरीरवृद्धि आदि दशाओं के लिये भी प्रयोग किया गया है। ऐसी दशाओं में इसके प्रयोग से लाभ की आशा नहीं की जा सकती। औषधि को व्यर्थ नष्ट करना है। कितने ही चिकित्सकों ने लाभ का उल्लेख किया है। वह अन्य कारणों का फल हो सकता है।

अतिमात्रा से हानि—

थियामीन की अतिमात्रा से कोई हानि के लक्षण नहीं उत्पन्न हुये हैं। महीनों तक उसकी प्रचुर मात्रायें खिलाई गई हैं किन्तु व्यक्ति में किसी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रकार का हानिकारक प्रभाव नहीं देखा गया है। प्रयोगों में ऐसे जन्तुओं में कुछ विषैले लक्षण उत्पन्न हुए हैं जिनको थियामीन की सामान्य से १००० गुना अधिक मात्रा दी गई है। यह वस्तु शरीर में एकत्र नहीं होती। उसका शरीर से शीघ्र ही त्याग हो जाता है। कुछ भाग शरीर में नष्ट हो जाता है।

इस औषधि को मुँह से खिलाना उतना ही लाभदायक है जितना इञ्जेक्शन से देना। इंजेक्शन द्वारा देने से कोई विशेष लाभ नहीं है। यह पाया गया है कि मुँह से देने पर एक घंटे के भीतर थियामीन रक्त में पहुँच कर अपनी क्रिया करने लगती है। यीस्ट में थियामीन बहुत होती है।

राइबोफ्लेवीन (विटामिन बी २)

यह एक पीले रंग का करनयुक्त चूर्ण होता है जो जल में थोड़ा घुलनशील है। १०००० भाग जल में एक भाग राइबोफ्लेवीन घुलती है। लवण-युक्त जल में यह अधिक घुलनशील है। यूरिया और निकोटिनेमाइड के मिला देने से घुलनशीलता बढ़ जाती है। राइबोफ्लेवीन-फास्फेट राइबोफ्लेवीन-फास्फेट-डाईथेनोलेमीन लवण जल में १०० और २०० गुना अधिक घुलनशील हैं।

न्यूनता के लक्षण—

इस विटामिन के न्यूनता के कोई ऐसे विशेष लक्षण नहीं हैं जिनसे शरीर को अधिक हानि पहुँचे। जिन चूहों पर प्रयोग किये हैं उनमें निम्नलिखित परिवर्त्तन पाये गये हैं।

१. नेत्र की कार्निया में रक्तवाहिनी केशिकाओं का बन जाना (Vascularization of cornea)—कारनिया अत्यन्त पारदर्शी होता है। उसमें रक्तवाहिनियाँ नहीं होतीं। उसके भीतर होनेवाली आक्सीकरण की क्रियाओं, जो शरीर की प्रत्येक केशिका में होती है, के होने के लिये फ्लेवो-प्रोटीन नामक वस्तु आवश्यक है। ये वस्तुयें स्वयं वहाँ ही संश्लिष्ट (Synth-esised) हो जाती हैं। किन्तु उनके संश्लेषण के लिये राइबोफ्लेवीन की

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आवश्यकता होती है जो कारनिया के अग्रिम स्तर पर वहने वाले आँसुओं से उसको मिल जाती है। यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि (Philpot and Piric–1943) अश्रुओं में राइबोफ्लेवीन की बहुत मात्रा होती है।

जिन चूहों को आहार में राइबोफ्लेवीन नहीं दिया गया उनकी कारनिया में रक्त केशिकाएँ बन गईं। मनुष्य में इस प्रकार का विकार दक्षिणी अमरीका के कुछ भागों में उन रोगियों में किया था जिनको पैलाग्रा रोग से ग्रस्त निश्चित किया गया था। किन्तु उपयुक्त चिकित्सा द्वारा पैलाग्रा के शमन के पश्चात् भी यह लक्षण बना रहा और राइबोफ्लेवीन देने ही पर दूर हुआ।

२. मुख के कोनों पर श्वेत धूसर रंग के उठे हुये किनारों वाले विदार बन जाते हैं। कभी-कभी त्वचा नहीं फटता। उसी पर ऐसा पदार्थ जमा हो जाता है। इसको angular stomatitis कहते हैं। और जहाँ ओष्ठ बन्द होते हैं वहाँ चर्म के फटने के एक खुर्ची हुई सी उपकला की लाल रेखा बन जाती है। इस दशा को (Cheilosis) कहते हैं। पैलाग्रा के रोगियों में ये लक्षण पाये गये हैं जो केवल वाइबोफ्लेवीन देने ही पर गये। यह दशा कृश, और क्षीण शरीर वाले व्यक्तियों में भी कई वार पाई गई है।

३. यह तीसरा विचित्र लक्षण है। मुख पर पामा (eczema) सा बन जाता है जिससे तेल के समान पदार्थ निकला करता है। और प्रजनन अंगों के पास चर्म में शोफ हो जाता है, वहाँ चकत्ते बन जाते हैं जिनमें खुजली आती रहती है। यह दशा किसी एक विटामिन से नहीं जाती। किन्तु समस्त बी-जटिल विटामिनों से शीघ्र ही लाभ होता है।

राइबोफ्लेवीन की न्यूनता से उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट लक्षणों का अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चला है। उपर्युक्त लक्षण तथा जिह्वाशोथ (Glossitis) को इस विटामीन की कमी से उत्पन्न लक्षण माना जाता है।

दैनिक आवश्यकता—

इसके प्रमाण मिल चुके हैं कि शरीर में स्वयं इस विटामिन का संश्लेषण

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होता है। तथा आन्त्र में उपस्थित जीवाणु भी राइबोफ्लेवीन का संश्लेषण करते हैं। ऐसी दशा में और इस विटामिन की न्यूनता से उत्पन्न होने वाले लक्षणों का पूर्ण ज्ञान न होने पर इसकी आवश्यक मात्रा को निर्धारित करना कठिन है। ब्रिटिश मेडिकल असोसियेशन की पोषण सम्बन्धी समिति ने प्रति १००० केलोरी के आहार के लिये ०·६ मिलीग्राम राइबोफ्लेवीन की सिफ़ारिश की है। अर्थात् १½ से २ मिलीग्राम प्रतिदिन स्वास्थ्य के लिये पर्याप्त है।

चिकित्सा—के लिये राइबोफ्लेवीन १० मिली ग्राम प्रति दिन खिलाना उपयुक्त माना गया है। इसका शोषण आन्त्र से शीघ्र ही होता है। इस कारण इंजेक्शन द्वारा देने से कोई विशेष लाभ नहीं है।

राइबोफ्लेवीन का स्रोत—

यह विटामिन शाकों तथा दूध में पर्याप्त मात्रा में होती है। यकृत और अंडों में भी होती है। किन्तु शाकों को उबालकर उबले हुये जल को फेंक देने से उसकी हानि होती है। सूर्यप्रकाश से भी उसका नाश होता है। पकाने से उसका थोड़ा ही ह्रास होता है। यीस्ट में इसकी प्रचुर मात्रा होती है।

राइबोफ्लेवीन एक ऐसा विटामिन है जिसको रासायनिक उद्योग ने आवश्यकता न होने पर भी चिकित्सा व्यवसायियों पर लाद दिया है और उसको जाने या बिना जाने ही प्रयोग करने पर प्रचार द्वारा विवश कर दिया है। प्रत्येक मल्टीविटामिन के योगों में वह उपस्थित रहती है। किन्तु शरीर के भीतर वह क्या क्रिया करती है यह अभी तक नहीं मालूम है। एडिनबरा यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर मैकलजोहन के अनुसार इसका विशिष्ट उपयोग केवल किरेटो मैलेशिया (Keratomalacia) रोग में है जिसमें नेत्र का कार्निया विकृत या सिकुड़-सा जाता है। यह रोग हमारे देश, लंका, चीन आदि में बहुत होता है और बच्चों में अंधता का एक विशेष कारण है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शरीर में इस विटामिन की विशेष क्रिया ऊतकों के श्वास कर्म के संबंध में मालूम होती है।

पायरिडौक्सिन (विटामिन बी ६)

यह विटामिन वास्तव में तीन पदार्थों का समूह जिनको पायरिडौक्सीन, पायरिडौक्साल और पायरिडौक्सेमीन कहते हैं। इन तीनों वस्तुओं के रासायनिक संगठन में बहुत थोड़ा-थोड़ा भेद है। अन्तिम दोनों वस्तुयें पायरिडौक्सीन के ऐल्डीहाइड और रोमीन रूप हैं और ये दोनों भी शरीर में होते हैं तथा विटामिन ही की भाँति कार्य करती हैं। इस कारण इन तीनों का समूह विटामिन ६ के नाम से भी संबोधित किया जाता है।

न्यूनता के लक्षण—

जब इस विटामिन की न्यूनता होती है तो उसके साथ अन्य विटामिनों की न्यूनता भी होती है। इस कारण केवल इस विटामिन की न्यूनता के लक्षण जानना कठिन है। प्रायः सब बी-जटिल समूह की न्यूनता के लक्षण मिले रहते हैं। इस कारण बी ६ की कमी के जिन लक्षणों का उल्लेख किया गया है वे चूहों या अन्य पशुओं को विटामिन बी ६ रहित भोजन देने से उत्पन्न हुये लक्षण हैं। अथवा उनको इस विटामिन की नाशक वस्तुओं को खिलाकर उत्पन्न किया गया है। ऐसी वस्तुओं में डिसौक्सीपायरिडौक्सीन सबसे प्रबल रासायनिक पदार्थ है।

दो तीन सप्ताह तक इस प्रकार का आहार देने से सैबोरिया (Sabor-rhoea) के समान चर्म रोग नेत्र, नाक तथा मुख के चारो ओर शोथ उत्पन्न हो गया। उसके साथ जिह्वाशोथ, कीगोसिस, वमन, चक्कर आना तथा अतिदुर्बलता भी प्रतीत होने लगी। रक्त में लसीकाणुओं (Lympho-cytosis) की कमी हो गई। केवल पायरीडौक्सीन देने पर तीन दिनों में यह दशा ठीक हो गई। किन्तु थियामीन, राइबोफ्लेवीन आदि देने से कोई लाभ नहीं हुआ। इस विटामीन की कमी से उपत्वचा, रोमकूप तथा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

त्वग्वसा ग्रन्थियों (Schaceonoglands) के क्षय का उल्लेख भी मिलता है। तथा नाड़ी-शोथ के समान लक्षण भी देखे गये हैं।

शिशुओं में बड़ी आयु वालों की अपेक्षा विषम परिणाम होते हैं। एक या दो महीने तक विटामिन बी$_{\varepsilon}$ में न्यून आहार को लेने के पश्चात् उनकी वृद्धि रुक जाती है और रक्त-क्षय (Anaemia) हो जाता है। बांयठें आने लगते हैं। पायरिडौक्सीन देने से दशा शीघ्र ही ठीक हो जाती है।

पायरिडौक्सीन का स्रोत—

अन्न के दानों, ख़मीर (यीस्ट) तथा यकृत में इस विटामीन का बाहुल्य होता है। मछली में भी इसकी मात्रा अधिक होती है। किन्तु दूध और शाकों में कम होती है। दो या ढाई सेर दूध में केवल ०·३ मिलीग्राम विटामिन बी$_{\varepsilon}$ होता है। वह दूध को उबालने से नष्ट या कम नहीं होता। निम्नलिखित तालिका में कुछ मुख्य खाद्यों के सौ ग्राम में विटामिन बी$_{\varepsilon}$ की मात्रा दिखाई गई है।

गेहूँ	४·२ मि० ग्राम	बन्दगोभी	१·२ मि० ग्राम
यीस्ट (ख़मीर)	३·४ ,,	गाजर	१·२ ,,
मटर (शुष्क)	३·० ,,	मारमाइट	४·० ,,
आलू	२·२ से ३·२ ,,	सन्तरा	०·८ ,,
		यकृत	१·७·
सेम (सब प्रकार के बीन शुष्क)	५·५ ,,	सामन मछली	४·५·
केला	२·२ ,,	हैलीबट	१·१·

दैनिक आवश्यकता—

स्वस्थ युवा व्यक्ति के लिये १ से २ मि० ग्राम प्रति दिन उपयुक्त मात्रा मानी गई है। शिशुओं के लिये ०·२ से ०·३ मि० ग्राम पर्याप्त हैं जो उनको माता के दूध से अथवा ऊपरी दूध पीने वालों को शुष्क किये हुये दूधों से, ग्लैक्सो आदि जो प्रायः उनको पिलाये जाते हैं, उनसे मिल जाते हैं। जिनके आहार में प्रोटीन की मात्रा अधिक और आवश्यक वसाम्लों की कमी रहती है उनको विटामीन की अधिक मात्रा आवश्यक होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अन्य रोगों में प्रयोग—

थियामीन और राइबोफ़्लेवीन की भाँति पायरिडौक्सिन का प्रयोग भी अनेक रोगों में किया जाता है। इसकी न्यूनता से जितने भी लक्षण उत्पन्न होते हैं उन सबों में, कारण का विना विचार किये हुये, इसका प्रयोग हुआ है। इस कारण उसका फल सन्तोषजनक नहीं हुआ। किसी रोगी को कुछ लाभ हो गया, दूसरे को नहीं हुआ।

पायरिडौक्सीन का उपयोग रक्ताल्पता, नाड़ी तथा नाड़ी-पेशी संबंधी रोगों में किया गया है। आजकल राजयक्ष्मा की चिकित्सा के लिये आइसो-नियोज़ाइड का बहुत प्रयोग किया जाता है। उससे कभी-कभी प्रान्तिक नाड़ी शोथ हो जाता है। ऐसी दशा में इस विटामिन के प्रयोग से उसमें बहुत लाभ होता है। ५० मिलीग्राम प्रति दिन देने से लक्षण शान्त हो जाते हैं। शिशुओं में बी६ की कमी से भी बांयटें और अपस्मार के समान प्रकोप होते हैं। उनको रोकने में पायरिडौक्सीन सफल होती है। गर्भावस्था के वमनों को रोकने तथा एक्सरे, रेडियम आदि के रोगियों में भी उसका प्रयोग किया गया है।

इसके अति प्रयोग से कोई हानि के लक्षणों का उल्लेख नहीं किया गया है।

निकोटिनिक अम्ल, निकोटिनेमाइड

पैलाग्रा रोग के लक्षणों को दूर करने में दोनों पदार्थ समान तथा लाभ-दायक हैं और खाद्य पदार्थों के अवयव होते हैं। किन्तु रासायनिक संगठन में कुछ भेद है।

निकोटिनेमाइड एक श्वेतकणयुक्त चूर्ण होता है जो जल में घुल जाता है। इसका स्वाद कुछ कड़ुवा होता है। निकोटिनेमाइड निकोटिनिक अम्ल का ऐमाइड लवण है। यद्यपि ये पदार्थ स्वास्थ्य के लिये आवश्यक हैं किन्तु इनका आहार में सम्मिलित होना आवश्यक नहीं है क्योंकि स्वयं शरीर ट्रिप्टोफेन नामक अमीनोअम्ल से इनको बना लेता है। ट्रिप्टोफेन प्रोटीन पाचन का एक अन्तिम पदार्थ है जो हमारे आहार के पाचन से उत्पन्न होता

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। पाचक रसों की रासायनिक क्रियाओं से ट्रिप्टोफेन से निकोटिनिक अम्ल बनता है जो निकोटिनेमाइड में परिवर्त्तित हो जाता है। किन्तु ट्रिप्टोफेन से निकोटिनिक अम्ल बनने के लिये पायरिडौक्सीन, थियामीन और राइबो-फ्लेवीन तीनों विटामिनों की आवश्यकता होती है। इसका अर्थ यह है कि निकोटिनिक अम्ल की न्यूनता को इन तीनों विटामिनों की उपस्थिति में ट्रिप्टोफेन दूर कर सकता है और ट्रिप्टोफेन की कमी से निकोटिनिक अम्ल की न्यूनता के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

निकोटिनिक अम्ल का स्रोत—

निकोटिनिक अम्ल जिसका ऐमाइडरूप ही प्रकृति में पाया जाता है सब ही प्रकार के खाद्य पदार्थों में उपस्थित होता है। मांस, अंडा, अन्न के सम्पूर्ण दाने, यीस्ट, साधारण पालिश किये हुये चावल, हर फल, शाक तथा दूध सबों में यह उपस्थित रहता है। किन्तु प्रथम चार पदार्थों में इसकी मात्रा अधिक होती है। मकई में इसकी बहुत कम मात्रा पाई जाती है। मकई की प्रोटीन में ट्रिप्टोफेन नाममात्र को होता है। इसी कारण प्रायः उस दरिद्रता से पीडित जनसमुदाय में न्यूनता के लक्षण पाये जाते हैं जिनका आहार विशेषकर मकई का होता है।

न्यूनता के लक्षण—

निकोटिनेमाइड की न्यूनता से वे लक्षण उत्पन्न होते हैं जो पैलाग्रा रोग के कहे जाते हैं। हमारे देश में यह रोग कम होता है। दक्षिणी अमरीका में १९४५ से पूर्व यह रोग बहुत होता था। १९३८ में तो इस रोग की महामारी फैली थी जिसमें २ लाख से ऊपर व्यक्ति रोगग्रस्त हुए, जिनमें से ३२०० की मृत्यु हुई। अब विद्या-प्रचार तथा आहार-शोधन के प्रसार से रोग बहुत घट गया है। यह रोग कंगाली, अभाव, खाद्य की हीनता, अस्वच्छता तथा अविद्या का फल है।

रोग के दो रूप होते हैं, एक प्राथमिक और दूसरा गौण। प्राथमिक रूप आहार में निकोटिनेमाइड की कमी अथवा शरीर में निकोटिनिक अम्ल की

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उत्पत्ति न होने से होता है। प्रारंभिक लक्षण अपच, कोष्ठबद्धता अथवा अतिसार, दुर्बलता, आलस्य, शिरदर्द, हृदय की धड़कन का बढ़ जाना, अरुचि, चिड़चिड़ापन, देहभार का घटना होते हैं। इन अविशिष्ट लक्षणों के रोग पहिचानना कठिन होता है। कुछ समय के पश्चात् विशिष्ट लक्षण प्रगट होते हैं जो चर्म, आन्त्र और मानस से संबंधित होते हैं। चर्म पर, विशेषकर उन भागों पर जो खुले रहते हैं, लाल-लाल उभरे हुए चकत्ते बन जाते हैं। कुछ समय पश्चात् इनका रंग गहरा, कालिमायुक्त हो जाता है और अन्त में उन पर से रूसी उतरने लगती है। श्वेत वस्त्र से उतर आते हैं। अधिक काल तक रोगग्रस्त रहने से यह वर्ण स्थायी हो जाता है। उन विवर्ण के क्षेत्रों की दोनों ओर के अंगों पर समान स्थिति होती है और वे त्वचा से उभरे रहते हैं। कई बार आक्रमण के पश्चात् त्वचा मोटी पड़ जाती है और विवर्ण के प्रान्त सदा के लिये स्थायी हो जाते हैं। श्लैष्मिक कण पर, विशेषतया मुँह के भीतर, लाल-लाल गले हुए से क्षेत्र बन जाते हैं जिनमें जीवाणु प्रवेश होकर व्रण बन सकते हैं। आन्त्र संबंधी के लक्षणों में क्षुधानाश, अतिसार तथा आध्मान होते हैं। अतिसार तीव्र हो सकता है। मानसिक लक्षण मनोभ्रंश (Dementia) और निर्मूलभ्रम (Hallucination) के होते हैं। रोगियों के लक्षणों में बहुत भिन्नता होती है। प्रत्येक रोगी के अपने विशेष लक्षण होते हैं। किन्तु प्रत्येक आक्रमण में उन्हीं लक्षणों की पुनरावृत्ति होती है।

रोग का गौण रूप बहुत कम होता है। वह ऐसे कारणों से उत्पन्न हो सकता है जिनसे आहार ग्रहण करना तथा पचाना या उसका आन्त्र में रहना असंभव हो जाता है, जैसे मुँह के रोग, अतिसार, प्रवाहिका आदि। कैंसर से भी गौण रोग हो सकता है। इस रोग में ६०% ट्रिप्टोफेन एक अन्य प्रकार की प्रोटीन (सिरोटोनीन) में परिवर्त्तित हो जाता है। निकोटिनिक अम्ल बनने के लिए बहुत कम रह जाता है। इसके साथ अरुचि, अतिसार, दुर्बलता आदि के कारण व्यक्ति के आहार की मात्रा में विशेष कमी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हो जाती है। इन कारणों से शरीर को निकोटिनिक अम्ल पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता। आइसोनियोज़ाइड के प्रयोग से भी कभी-कभी ऐसे ही लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। आज कल आइसोनियोज़ाइड (Isoneohydrazide) राजयक्ष्मा की एक विशेष औषधि है जिसका प्रयोग बहुत समय तक जारी रखना पड़ता है। इससे कुछ रोगियों में उपर्युक्त के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इसका कारण अभी तक नहीं मालूम हुआ है। किन्तु वे निकोटिनेमाइड के प्रयोग से शान्त हो जाते हैं। आइसोनियोजाइड निकोटिनिक अम्ल का एक समवृत्त (analogue) है।

दैनिक आवश्यकता—

ब्रिटिश मेडीकल ऐसोसियेशन तथा अमरीका के खाद्य बोर्ड दोनों ने पुरुषों के लिये १५ से २० मिलीग्राम और स्त्रियों के लिये १० से १५ मिलीग्राम प्रतिदिन की सिफारिश की है। इस मात्रा को निर्धारित करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। शरीर में बनने वाले निकोटिनेमाइड की मात्रा, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की शारीरिक दशा, व्यवसाय, ऋतु, काल के अनुसार आवश्यकता में परिवर्त्तन होता रहता है।

औषधि के रूप में प्रयोग—

इंजेक्शन के रूप में निकोटिनेमाइड के ऐम्पूल बनाये जाते हैं जिनमें प्रति सी. सी. में १०० मिली ग्राम का घोल भरा रहता है। उसकी २२, ५० और १०० मिलीग्राम की टिकियाँ भी आती हैं। कैप्सूल भी बनाये जाते हैं। रोगों की उग्र अवस्था तथा पश्चात् की दौर्बल्यावस्था में २० से १०० मि. ग्रा. प्रति दिन रोगी को देना उचित है। पैलाग्रा रोग की उग्र अवस्था में ५० मि. ग्रा. दिन में ८ से १० बार तक देने चाहियें। यदि रोगी वमन कर रहा हो तो उसको ३०० मिलीग्राम ग्लूकोज के साथ शिरा द्वारा इंजेक्शन से दिये जांय।

पैन्टोथीनिक अम्ल

यह अकार्बनिक अम्ल प्रायः सब ही प्राकृतिक खाद्य पदार्थों में पाया जाता

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। मांस, अंडा, मछली, अन्न, फल, शाक तथा दूध सब ही में उपस्थित मिलता है। इसी कारण इसका यह नाम रखा गया है। पैन्टोथीन का अर्थ है 'सर्वत्र'। यह वस्तु सर्वत्र सब खाद्यों में रहती है। अतएव इसका नाम पैन्टोथीनिक अम्ल रख दिया गया है।

मनुष्य में इसकी न्यूनता के कोई लक्षण नहीं पाये गये हैं। कदाचित् इसकी न्यूनता होती ही न हो। सब ही खाद्यों में उपस्थित होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति को यह अम्ल उपलब्ध हो जाता है। पूय अन्वेषणों के पूर्व इसको बालों के काले रंग का कारण समझा जाता था और इसकी न्यूनता उनके श्वेत होने की उत्तरदायी मानी जाती थी। किन्तु यह विचार निर्मूल प्रमाणित हुआ।

चूहों पर जो प्रयोग किये गये हैं उनमें इस अम्ल की न्यूनता, अथवा, अनुपस्थिति से विशेष परिणाम निकले हैं। उनके चयापचय में इसकी विशेष क्रिया मालूम होती है। उनके शरीर में जो इन्जाइम (किण्व) क्रियायें होती हैं उनके लिये यह अम्ल आवश्यक प्रतीत होता है। इसकी कमी से चूहों की वृद्धि रुक जाती है। शरीर के बाल पतले, चमकरहित और श्वेत होने लगते हैं। उनमें रक्तस्राव, आमाशय में व्रणोत्पादन, रक्तक्षय, तथा अधिवृक्कों के बायें भागों (Cortex of Supra renal) की गलन भी देखी गयी है। कुत्तों में पैन्टोथीनिक की न्यूनता से रक्ताल्पता, प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट का आन्त्र की श्लैष्मिक कला द्वारा शोषण न होना या कम होना, अतिसार, वमन आदि लक्षण उत्पन्न हो गये। बन्दरों और सूअरों में रक्तक्षय और पाचन-विकार उत्पन्न हुए और शरीर में रोग-रोधक वस्तुयें बनना कम हो गया।

चार व्यक्तियों ने इन प्रयोगों के लिये स्वयं अपने को अर्पण किया। उन पर इसी प्रकार के प्रयोग किये गये। इस विटामिन से पूर्णतया रहित खाद्य पदार्थ पाने की कठिनाई के कारण आहार के साथ ऐसे रासायनिक पदार्थ भी दिये गये जो पैन्टोथीनिक अम्ल के नाशक थे। W-मिथाइल पैन्टोथीनिक अम्ल ऐसी ही वस्तु है जो पैन्टोथीनिक अम्ल को नष्ट करती है। ऐसे आहार

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

को खिलाने से इन चारों व्यक्तियों में अधिवृक्क के बहिर्भाग (प्रान्तस्था) में उत्पन्न होने वाले हारमोन की न्यूनता के लक्षण उत्पन्न हो गये, नाडी विकार भी प्रगट हुए। पैन्टोथीनिक अम्ल देने से इन लक्षणों में कमी हो गई। किन्तु सब अन्य विटामिनों युक्त आहार देने पर ही उन्होंने पूर्ण स्वास्थ्य लाभ किया। इस प्रयोग से ठीक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। संभव है विरोधी पदार्थ w-मिथाइल पैन्टोथीनिक अम्ल के उन व्यक्तियों पर विषैले प्रभाव हुए हों। आहार में अन्य विटामिनों की अनुपस्थिति ने उन लक्षणों की उत्पत्ति में विशेष सहायता दी हो। इस कारण किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये जो अन्वेषण हो रहे हैं उनकी अब भी प्रतीक्षा है।

किन्तु प्रयोगों के परिणाम के बल पर इतना कहा जा सकता है कि शरीर में होने वाली बहुत सी रासायनिक क्रियाओं के लिये यह विटामिन आवश्यक है। ये ही रासायनिक क्रियायें अन्य शारीरिक क्रियाओं की प्रवर्त्तक होती हैं।

शारीरिक आवश्यकता—

पैन्टोथीनिक अम्ल शारीरिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। उसकी सब खाद्यों में उपस्थिति ही इसका प्रमाण है। इसी कारण इसकी न्यूनता के रोगी नहीं मिलते, अथवा उसके लक्षण स्पष्ट नहीं होते। प्रतिदिन शरीर से इस विटामिन के २·५ से ३·५ मिलीग्राम मूत्र द्वारा निकलते हैं। इस कारण १० मिलीग्राम प्रति दिन इसकी आवश्यक मात्रा निर्धारित की गई है।

इसकी अति मात्रा से कोई हानि नहीं होती। २०० से ३०० मिलीग्राम प्रति दिन छः मास तक खिलाने से भी कोई हानिकारक लक्षण नहीं उत्पन्न हुये।

औषधि रूप में प्रयोग—

अन्य विटामिनों की भाँति इसका भी अनेक रोगों में या लक्षणों में प्रयोग किया गया है। चर्म के बहुत से रोगों में इसके प्रयोग द्वारा लाभ का कुछ विद्वानों द्वारा उल्लेख किया गया है। किन्तु रोगियों को उत्तम आहार भी दिया गया जिसमें सब विटामिन थीं। अतएव यह कहना कठिन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है कि उन्नति का कौन सा मुख्य कारण था। कुछ विद्वानों ने शस्त्रकर्मोत्तर आन्त्र स्तंभ (Postoperative Paralztroileno) में पैन्टोथिनिक अम्ल के ५० मिलीग्राम के अन्तर्पेशीय इन्जेक्शन से लाभ का उल्लेख किया है। कुछ ५०० मिलीग्राम से निश्चित लाभ बताते हैं। नाड़ी विकार सम्बन्धी लक्षणों में इसका प्रयोग किया गया है। हाथ और पाँवों की जलन में २० से ४० मिलीग्राम के प्रयोग से लाभ का उल्लेख मिलता है। किन्तु वह उत्तम आहार का फल हो सकता है। मानस विकारों में भी इसका प्रयोग हुआ है।

हाल ही में स्ट्रिप्टोमायसीन के इंजेक्शन लगने से उत्पन्न हुए नाड़ी विकारों के ३१ रोगियों को ५० मिलीग्राम पेन्टोथीनिक अम्ल दिन में तीन बार दिया गया। उनमें से २६ को रोगमुक्त रिपोर्ट किया गया। कई को स्ट्रिप्टोमायसीन बराबर मिलती रही।

वायोटीन

इस विटामिन को पहिली बार सन् १९४३ में तैयार किया गया था। पैन्टोथीनिक अम्ल की भाँति यह भी अनेकों खाद्यों में उपस्थित है और इस कारण इसकी न्यूनता के भी रोगी नहीं मिलते। यह विटामिन शरीर में होने वाली इंजाइम क्रियाओं में विशेष भाग लेती है। इसकी अनुपस्थिति से बहुत सी ये क्रियायें नहीं हो पातीं।

यह विटामिन एक प्रकार का ऐस्टर (Ester) है। सन् १९४१ में इसको यकृत् से पृथक् किया गया था। सन् १९२७ में मालूम हो गया था कि जिन चूहों को अंडे का श्वेत भाग पका कर दिया जाता था उनमें एक प्रकार का चर्मशोथ उत्पन्न हो जाता है जिसमें चर्म पर से उपत्वचा के स्तर की रूसी सी उतरती रहती है (Extoliative dermatitis)। फिर यह पाया गया कि यकृत् या यीस्ट को खिलाने से यह रोग जाता रहता था। इसका कारण विटामिन-एच या वायोटीन मानी गई। शरीर में स्वयं बायोटीन बनती है। अंडे के श्वेत भाग में एक प्रोटीन अविडीन होती है। यह

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वायोटीन के साथ मिलकर उसको निष्क्रिय कर देती है। इससे रोग उत्पन्न होता है।

शरीर में आन्त्र में उपस्थित जीवाणुओं की क्रिया से वायोटीन बन जाती है। इस कारण शरीर में इसकी न्यूनता नहीं होने पाती। जिन चूहों में अंडे की सफ़ेदी देकर इस विटामिन की न्यूनता उत्पन्न की गई उनमें नेत्रों के चारों ओर चर्मशोथ के घेरे बन गये, वृद्धि रुक गई और चलने में कठिनाई होने लगी। इस विटामीन को खिलाने से ये लक्षण जाते रहे। विटामिन के एक मिलीग्राम का दससहस्रवाँ भाग दशा को सुधारने के लिये पर्याप्त पाया गया।

दैनिक आवश्यकता—

शारीरिक क्रियाओं के लिये यह विटामिन अत्यन्त आवश्यक है। मूत्र में प्रतिदित ११ से १८३ माइक्रोग्राम (एक मिलीग्राम का १०००वाँ भाग) वायोटीन शरीर से निकलती है। किन्तु वायोटीन रहित भोज्य देने से भी इसकी मात्रा कम नहीं होती। शरीर स्वयं उसको बनाता है। कुछ व्यक्तियों को वायोटीनरहित भोजन ८ से १० सप्ताह तक देने से उनको चर्मशोथ, दुर्बलता, जिह्वा पर अंकुरों का नष्ट होना (Glossitis) तथा हलका सा रक्तक्षय उत्पन्न हो गया। १५० से ३०० मिलीग्राम विटामिन प्रतिदिन देने से ठीक हो गया।

१५० मिलीग्राम प्रतिदिन वायोटीन स्वास्थ्य के लिये उपयुक्त मानी जाती है।

चिकित्सा में प्रयोग—

उपर्युक्त चर्मशोथ (Extoliative dormatitis) में इसके प्रयोग से बहुत से चिकित्सकों को सन्तोषजनक परिणाम मिले हैं। शिशुओं में ५ मिलीग्राम के प्रतिदिन एक से दो सप्ताह तक इंजेक्शन दिये गये। सैवोरिया में भी अच्छे परिणाम मिले हैं। अर्बुदों की वृद्धि रोकने के लिये भी इसका प्रयोग किया गया है। किन्तु कोई विशेष लाभ हुआ नहीं प्रतीत होता।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फौलिक अम्ल

फौलिक अम्ल जिसका वैज्ञानिक नाम टेरोग्लूटेमिक एसिड (Pteros-glutamic acid) है रक्त की उत्पत्ति के लिये आवश्यक है। इसकी अनुपस्थिति से अस्थिमज्जा की क्रिया रुक जाती है। विटामिन बी$_{१२}$ फौलिक अम्ल तथा विटामीन-'सी' (ऐस्कोर्विक अम्ल) तीनों रक्त की उत्पत्ति के लिये अनिवार्य मालूम होते हैं। बी$_{१२}$ के इंजेक्शन से फौलिक अम्ल यकृत् से निकल कर विटामिन-सी के सहयोग से क्रिया करता है और अस्थिमज्जा को रक्तोत्पत्ति के लिये प्रेरित करता है। ऐस्कोर्विक अम्ल का काम फौलिक अम्ल को क्रियावान बनाने का प्रतीत होता है। वह इसको यकृत से संचालित नहीं करती। यह काम फौलिक अम्ल का है।

सन् १९४५ में ऐंजियर और उसके सहायकों ने फौलिक अम्ल को अपनी प्रयोगशाला में बनाया और उसके रासायनिक संघटन तथा गुणों का अध्ययन किया। अन्य अन्वेषक भी यकृत, यीस्ट और पालक से एक विशिष्ट पोषक तथा रक्तोत्पादक अवयव पृथक् करने में सफल हुए थे जो हीमोग्लोबिन की उत्पत्ति के लिये आवश्यक पाया गया। बन्दरों में रक्तहीनता और मुर्गियों के बच्चों की वृद्धि के लिये भी यह आवश्यक प्रमाणित हुआ। यही फौलिक अम्ल था।

फौलिक अम्ल अस्थिमज्जा की क्रिया के लिये आवश्यक है। जिन व्यक्तियों को फ़ौलिक अम्ल रहित भोजन दिया गया उनको रक्तक्षय (दीर्घकणिकी-Onacrocytic) हो गया। यह प्रतीत होता है कि प्रथम फौलिक अम्ल ऐस्कोर्विक अम्ल की सहायता से फौलिनिक अम्ल में, जिसको ल्यूकोवोरीन (Leucovorin) भी कहते हैं, परिवर्तित हो जाता है। और यह ल्यूको-वोरिन अस्थिमज्जा को रक्तोत्पत्ति के लिये प्रेरित करता है। स्वयं ल्यूकोवोरिन को खिलाने से भी यही परिणाम निकला। किन्तु फौलिक के साथ ऐस्कोर्विक अम्ल देना आवश्यक है। उसकी अनुपस्थिति में यह क्रिया नहीं होती। स्कर्वी रोग के रक्तक्षय में यही हुआ। फौलिक और ऐस्कोर्विक दोनों अम्लों को देने से लाभ हुआ। किन्तु केवल फौलिक अम्ल से कोई लाभ नहीं हुआ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चिकित्सा में प्रयोग—

निम्नलिखित रोगों में फौलिक अम्ल का प्रयोग किया गया है—

१. रक्तक्षय (Nutritional Macrocytic anaemia) १० से २० मिलीग्राम फौलिक अम्ल नित्यप्रति इन्जेक्शन द्वारा दी जाती है। रक्तोत्पत्ति शीघ्र ही उन्नत हो जाती है और थोड़े ही समय में रक्त स्वस्थ दशा को प्राप्त कर लेता है।

२. लौह की कमी से उत्पन्न हुआ लघुकणकी (Microcytic anaemia) रक्तक्षय में भी फौलिक अम्ल से लाभ होता है। कुछ विद्वानों ने इसमें सन्देह प्रगट किया है। किन्तु फौलिक अम्ल द्वारा रक्तोत्पादक अंगों की उत्तेजना का यह परिणाम हो सकता है।

३. पैलाग्रा तथा गर्भावस्था की दीर्घकणकी रक्तक्षय में भी इससे लाभ हुआ है।

४. स्प्रू (Sprue) नामक रोग की चिकित्सा में भी फौलिक अम्ल का प्रयोग किया जाता है।

औषधि का रूप—

फौलिक अम्ल हलके पीले रंग का कणमय चूर्ण होता है। इसके १० मिलीग्राम के कैप्सूल और टिकियाँ आती हैं। फौल्वाइट (Folvite) नाम की टिकिया और इन्जेक्शन के ऐम्पूल भी आते हैं।

विटामिन बी$_{१२}$ (साइनोकोबल एमीन)

यह कोवाल्ट नामक धातु का एक रासायनिक योग है जिसके कण लाल रंग के होते हैं। यह वस्तु स्वाद और गंध रहित होती है और जल में घुलनशील है। सन् १८५८ में इसको फाकर (Folkers) और उसके सहयोगियों ने यकृत से पृथक् किया था। यह शरीर में यकृत तथा हृदय की पेशी, वृक्क आदि में उपस्थित मिलती है। अन्य अंगों में भी इसकी कुछ मात्रा पाई जाती है। खाद्यों में मछली, अंडे के पीले भाग और चीज में यह पदार्थ पाया जाता

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। यह मनुष्य के मल में भी उपस्थित मिलता है। अतएव आन्त्र में जीवाणु अपनी क्रिया से उसको बनाते हैं।

न्यूनता के लक्षण—

दुष्ट रक्त क्षीणता (Pernicious anaemia) में इसकी विशेष कमी हो जाती है। सुषुम्ना के ह्रास (myelitis) और कुछ अन्य रक्तक्षीणताओं में भी इसकी कमी होती है। जिह्वा का क्षोभ तथा उस पर व्रणोत्पादन, आध्मान, अपच, भोजन करने के पश्चात् हृदाह, होते हैं। अन्तिम लक्षण जीर्ण रोगियों में बहुत पाया जाता है। कुछ समय पश्चात् मन्दाग्नि, अरुचि, पेट का फूलना, हृदय की धड़कन का बढ़ जाना, दुर्बलता, तनिक से श्रम से थक जाना और साँस फूलना आदि लक्षण प्रगट हो जाते हैं। थोड़े ही समय में रंग पीला पड़ जाता है और रक्तक्षीणता स्पष्ट हो जाती है। सुषुम्ना के आक्रान्त होने के लक्षण भी उत्पन्न होते हैं जिनमें पहला लक्षण हाथ पावों में चुनचुनाहट या चींटियाँ सी चलती मालूम होती हैं। आगे चल कर अन्य विषम लक्षण हो सकते हैं। कुछ रोगियों में मानस विकार तक मिलते हैं।

चिकित्सा—

रोग-निश्चिति रक्त-परीक्षा से हो जाती है। रक्त का चित्र विशिष्ट होता है। निश्चय होते ही चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिये। तुरन्त लाभ के लिये २५० माइक्रोग्राम साइनोकोबल ऐमीन के एक सप्ताह में दो या तीन इंजेक्शन देना पर्याप्त है। जब तक रक्त में विशेष उन्नति न दिखाई दे तब तक इसी प्रकार इंजेक्शन दिये जायँ। उसके पश्चात् सप्ताह में केवल एक इंजेक्शन पर्याप्त है। इसको चार या छ सप्ताह तक जारी रखा जाय जब तक कि रक्त पूर्ण स्वस्थ न हो जाय। रक्त-परीक्षा ही इसका मापदंड है। उसके पश्चात् भी कुछ समय तक चिकित्सा जारी रखनी चाहिये किन्तु औषधि की मात्रा घटा कर १०० मिली ग्राम कर देना उचित है जिसका एक-एक इंजेक्शन प्रति सप्ताह देना पर्याप्त होगा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

साइनोकोबल ऐमीन के खाने के भी कुछ योग बनाये गये हैं। किन्तु उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

अन्य दशाओं के लिये उपयोग—

साइनोकोबल ऐमीन का अन्य रोगों की चिकित्सा में भी उपयोग किया गया है। त्रिमूलिका शूल (Trigeminial Neuralgia), हर्पीज़ (Herpos zoster), कास (athma) तथा आधा सीसी (migraine) की चिकित्सा १००० माइक्रोग्राम साइनोकोबल ऐमीन प्रति दिन, १० से १२ दिन तक, देकर की गई। कुछ में सफलता भी प्राप्त हुई।

इतनी बड़ी मात्राओं के प्रयोग से हानि होने का अभी तक उल्लेख नहीं मिला है।

कोलीन (Choline)

यह भी खाद्य पदार्थों का एक अवयव है जिसको विटामिन 'बी' समूह का एक सदस्य माना गया है। इसीसे शरीर में एसिटिल कोलीन बनती है जो हमारे नाड़ीतन्त्र की क्रिया के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसका डाई-हाइड्रोजन साइट्रेट लवण टिकिया के रूप में बाज़ार में मिलता है जिसका चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। शरीर में कोलीन कोशिकाओं (Cells) के एक मुख्य अवयव लेसिथिन का एक भाग है। शरीर के द्वारा स्नेह के उपयोग और उसके परिवहन (एक जगह से दूसरे स्थान को जाने) में कोलीन बहुत बड़ा भाग लेती है।

चिकित्सा में प्रयोग—

यकृत् की सिरोसिस (Cirrhosis) में इसके प्रयोग से विशेष लाभ हुआ है, विशेषकर जब उसके साथ अति प्रोटीन, विटामिन और विशेष कार्बोहाइड्रेट वाला आहार रोगी को दिया जाता है। इसकी क्रिया यकृत् में एकत्र हुई वसा को वहाँ से निकालना है। इस कारण वह वसाद्रावक कहलाती है। इसके प्रयोग के पश्चात् यकृत् का आकार घट जाता है। उसकी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्रिया उन्नत हो जाती है और यदि उदर में जल एकत्र हो या शरीर पर शोफ हो तो वह भी कम हो जाता है। कुछ प्रकार के रक्तक्षयों में भी उसका उपयोग किया गया है। एक नेत्र विशेषज्ञ ने नेत्र के व्रणों या फुल्ली (Corneal opacity) में ५ प्रतिशत कोलीन-क्लोराइड के घोल को डालने से उत्तम परिणाम का उल्लेख किया है। मूत्र तथा चर्म संबंधी रोगों में भी उपयोग किया गया है।

मात्रा—

कोलीन डाई-हाइड्रोजन साइट्रेट की ०·६ ग्राम (१० ग्रेन) की टिकिया दिन में कई बार दी जा सकती है। एक विद्वान् ने इसे ६ ग्राम तक प्रति दिन देने की सम्मति दी है। उन्होंने कोलीन क्लोराइड का २५ प्रतिशत का शर्बत दिन में तीन बार दिया और बीच-बीच में जल अधिक मात्रा में पिलाया। इससे उनको संतोषजनक परिणाम मिले। यदि उससे अरुचि, वमन, जी मिचलाना आदि लक्षण होने लगें तो मात्रा को घटा देना चाहिये।

कोलीन ग्लूकोनेट का शर्बत बाज़ार में मिलता है। प्रत्येक सी० सी० में ०·६ ग्राम कोलीन होती है। इसकी क्रिया कोलीन के अन्य लक्षणों की ही भाँति होती है।

कोलीन की न्यूनता से यकृत् में वसा एकत्र हो जाती है और यकृत् कोशिकायें निष्क्रिय हो जाती हैं। इस कारण यकृत् की क्रिया भली भाँति नहीं होती। यकृत् तथा वृक्क दोनों में रक्तस्राव होता है। प्लीहा की भी वृद्धि हो जाती है और थाइमस ग्रन्थि सिकुड़ जाती है।

मीथियोनाइन (Methionine)—

यह एक आवश्यक प्रोटीन है जिसका काम कोलीन की न्यूनता के कारण यकृत में वसा के एकत्र होने को रोकना है। इस प्रकार यह वस्तु कोलीन की सहायक है और बहुत बार कोलीन के साथ प्रयोग करवाई जाती है। अन्य विषैले पदार्थों की हानिकारक क्रिया से भी यह यकृत् को बचाती है। इस

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कारण यकृत् के सब प्रकार के रोगों में इसका उपयोग किया गया है। अति-प्रोटीन के आहार के साथ यह ६ ग्राम मिथियोनाइन प्रति दिन प्रयोग की जाती है। २० ग्राम तक प्रति दिन प्रयोग करवाया गया है। इसकी अधिक मात्रा से कोई हानि नहीं होती।

आईनोसिटोल (Inositol)—

आईनोसिटील एक श्वेत रंग का कणयुक्त चूर्ण है जो जल में घुलनशील है। १९४० में पहली बार वूले (Wooley) के अन्वेषणों से विद्वानों का इसकी ओर ध्यान आकर्षित हुआ। जिन चूहों को इस वस्तु से रहित भोजन दिया गया उनके बाल गिर गये। जब आईनोसिटोल फिर मिला दिया गया तो उनके बाल फिर से उग आये।

कुछ विद्वानों का मत है कि आईनोसिटोल यकृत् को बचाने का काम करता है और इस कर्म में मिथियोनाइन और कोलीन की सहायता करता है। कोलीन और आईनोसिटोल दोनों यकृत् में वसा एकत्र नहीं होने देते। इनको न देने पर चूहों के यकृत् में वसा एकत्र होने लगती है। यकृत बढ़ जाता है और चूहे की मृत्यु हो जाती है।

विद्वानों के एक समूह का मत है कि आईनोसिटोल की शरीर में कोई क्रिया नहीं होती। वह यकृत् में वसा एकत्र होने को नहीं रोकता। किन्तु शरीर के पोषण में सहायता देता है। कुछ अन्वेषण-कर्त्ताओं की सम्मति है कि वह आन्त्र के जीवाणुओं द्वारा विटामिनों की उत्पत्ति को बढ़ाता है।

अभी इस वस्तु पर अन्वेषण हो रहे हैं। इसी प्रकार पैरा-ऐमीनोबैंज़ोइक तथा ऐडेनिलिक अम्ल की क्रिया का भी आगे विशेष ज्ञान नहीं प्राप्त हो सका है। यह खाद्य पदार्थों में उपस्थित रहनेवाली वस्तुयें हैं और इनका रासायनिक संगठन बहुत कुछ विटामिन 'बी' जटिल समूह के समान है जिससे इनको इस समूह में सम्मिलित कर लिया गया है।

विटामिन 'सी'

इस विटामिन का अन्वेषण १९१६ के पश्चात् प्रारंभ हुआ जब श्रीमती

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हैरीट चिक (Hariette Chick) ने यह सिद्ध कर दिया कि वृक्षों में होने वाली बहुत सी क्रियाओं का विटामिन 'सी' के साथ संबंध है। १८४१ में प्रोफेसर बड (Budd) ने लिखा था कि रसायनज्ञों को स्कर्वी रोगरोधक अवयव की खोज खाद्यों में करनी चाहिये। इसके बहुत काल के पश्चात् इस विटामिन की खोजें आरंभ हुईं। अन्वेषण-कर्त्ताओं को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, यहाँ तक कि अन्वेषण असंभव सा प्रतीत होने लगा। इसके विशेष दो कारण थे, एक शारीरिक क्रियाओं द्वारा इसकी वृक्षों तथा अन्य वानस्पतिक पदार्थों में उत्पत्ति और दूसरे इसकी अस्थिरता, जिससे वह शीघ्र ही अन्य रूपों में परिवर्त्तित हो जाती है। अन्त में सन् १९३२ में कई अन्वेषकों ने एक रासायनिक वस्तु का उल्लेख किया जिसको वे अपनी प्रयोगशालाओं में बनाने में सफल हुए थे। इसके प्रयोग से पशुओं में उत्पन्न हुआ स्कर्वी रोग रुक जाता था और रोगग्रस्त पशु आरोग्य हो जाते थे। इसके पश्चात् अन्वेषण द्रुत गति से होने लगे और इस विषय के ज्ञान में बहुत वृद्धि हुई।

बहुत काल पूर्व से स्कर्वी रोग का ज्ञान था, विशेषकर नाविकों को जिनको लम्बी-लम्बी समुद्र यात्रा पर जाना पड़ता था। उनको मालूम था कि मसूड़ों का सूज जाना, उनसे रक्तस्राव होना, रक्तक्षीणता (anaemia) और अत्यन्त दुर्बलता इन लक्षणों युक्त रोग की उत्पत्ति का आहार के साथ विशेष संबंध है। जहाज़ों पर लम्बी यात्रा के लिये एकत्र किये हुए खाद्य पदार्थों से नाविकों में इस प्रकार का रोग प्रायः फैल जाता था। यही रोग स्कर्वी था। उनको यह भी ज्ञान था कि नींबू, सन्तरा, हरे शाक और फल तथा अन्न या दालों के अंकुर फूटते हुए दानों को खिलाने से रोग शान्त हो जाता है। अन्वेषणों के पश्चात् यह मालूम हुआ कि विटामिन-सी की न्यूनता इस रोग का कारण है। इसको खिलाने से रोगी आरोग्य हो जाते हैं। इस कारण इसको स्कर्वी-रोधक विटामिन (anti scorbutic) कहा गया।

विटामिन-सी के रासायनिक संगठन का अध्ययन करने के पश्चात् इसको

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ऐस्कौर्बिक अम्ल का नाम दिया गया और यह भी पता लगा कि प्रकृति में ग्लूकोज़ ही निम्नलिखित रासायनिक प्रतिक्रिया के अनुसार ऐस्कौर्बिक अम्ल में परिवर्त्तित हो जाती है।

D ग्लूकोज़—D ग्लूकोरोनिक अम्ल—L ग्लूकोनिक अम्ल—L ऐस्कोर्बिक अम्ल।

ऐस्कोर्बिक अम्ल की क्रिया—

यह एक श्वेत या हलके पीले रंग का केलासीय चूर्ण (Crystaline) है जो जल में घुल जाता है जिसकी प्रतिक्रिया आम्लिक होती है। क्षार तथा गरम करने में इस वस्तु का विच्छेदन हो जाता है।

यह वस्तु आहार का एक विशिष्ट अवयव है। इसकी न्यूनता से स्कर्वी रोग उत्पन्न हो जाता है जिसके लक्षण ऊपर बताये जा चुके हैं, अर्थात् मसूड़ों का फूलना और उनसे रक्तस्राव, शरीर के अन्यस्थानों में भी रक्तस्राव, रक्तक्षीणता तथा दौर्बल्य अवसाद तथा अन्त में मृत्यु।

शरीर में घावों का भरना भी विटामिन 'सी' या ऐस्कोर्बिक अम्ल पर निर्भर करता है। इसकी अनुपस्थिति या न्यूनता से नया ऊतक-निर्माण नहीं होता। इस विषय का बहुत अध्ययन किया गया है जिससे पता चला है कि कौलेजिन (Collagen) नामक वस्तु के बनने के लिये ऐस्कौर्बिक अम्ल आवश्यक है। शरीर में सब अंगों तथा स्थानों में कोशिकाओं (Cells) के बीच अन्तर्कोषीय वस्तु (Intercellular Substance) होती है जिसमें कोशिका स्थित होती हैं। इस अन्तर्कोषीय वस्तु में विशेष भाग कौलेजिन का होता है। अस्थि और दाँत के कई भागों को बनाने वाली कोशिकायें कालोजिन के विकार से विकृत हो जाती हैं और अन्त को नष्ट हो जाती हैं और इस कारण उन भागों का निर्माण भी ठीक प्रकार से नहीं होता। विटामिन 'सी' देने से शेष कोशिकायें स्वस्थ हो जाती हैं और ठीक प्रकार से काम करने लगती हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व्रणरोहन या घाव भरने में भी ऐसा ही होता है। व्रणरोहन नये ऊतक निर्माण (Tissue formation) से होता है जिसके लिये प्रोटीन आवश्यक है। प्रोटीन शरीर का निर्माण करने वाली वस्तु है। अतएव व्रणरोहन के लिये प्रोटीन अवश्य ही उपलब्ध होनी चाहिये। इस कारण जिनके आहार में प्रोटीन की कमी होती है उनके घाव जल्दी नहीं भरते। किन्तु प्रोटीन के पूर्ण मात्रा में उपलब्ध होने पर भी विटामिन-'सी' की कमी से कौलेजिन नहीं बनती और व्रण नहीं भरते। विटामिन 'सी' देने पर ज्यों-ज्यों उसकी रक्त में मात्रा बढ़ती है त्यों-त्यों घाव भरता जाता है। स्कर्वी के रोगियों में यही होता है। ऐस्कौर्विक अम्ल की कमी से रोगियों के शरीर में प्रोटीन पर्याप्त मात्रा में उपस्थित होने पर भी शरीर उनका उपयोग नहीं कर सकता। १० मिलीग्राम ऐस्कोर्विक अम्ल प्रति दिन देने से शरीर की यह शक्ति लौट आती है। कौलोजिन स्वस्थ और पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होने से घाव शीघ्र भरने लगता है।

इससे यह न समझना चाहिये कि १० मिलीग्राम ऐस्कोर्विक अम्ल स्कर्वी को ठीक कर देने के लिये उपयुक्त मात्रा है। रक्त में उपस्थित मात्रा को जानने के पश्चात् ही इसका निश्चय किया जा सकता है। रोग के लक्षण जितने उग्र होंगे उतनी ही रक्त में ऐस्कोर्विक अम्ल की मात्रा कम होगी और उसी के अनुसार रोगी को उसकी आवश्यक मात्रा खिलानी या इन्जेक्शन द्वारा देनी होगी।

यह विटामिन अनेक वानस्पतिक भोज्य पदार्थों में उपस्थित रहती है और आन्त्र की श्लेष्मिक कला द्वारा इसका पूर्ण शोषण होता है। वृद्धावस्था में शोषण कम हो जाता है। यह विटामिन शरीर का मूत्र द्वारा त्याग करती है। प्रति दिन ३० से ४० मिलीग्राम शरीर से निकलते हैं। शरीर में उपस्थित मात्रा का रक्त अथवा रक्त प्लाविका (Plasma) में उपस्थित विटामिन की मात्रा से ठीक-ठीक पता चल सकता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि श्वेत कणिकाओं (White corponeals) में उपस्थित मात्रा अधिकविश्वसनीय है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दैनिक आवश्यकता—

लीग-आफ़-नेशन्स की पोषण विशेषज्ञ समिति ने ३० मिलीग्राम प्रति दिन ऐस्कोर्विक एसिड को स्वास्थ्य के लिये आवश्यक माना है। रोगी की दशा, उसके रक्त में उपस्थित मात्रा, रोग का रूप और उसकी विषमता पर बहुत कुछ मात्रा निर्भर करती है। गर्भावस्था, दूध पिलाने का काल, शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम या व्यथाओं में अधिक मात्रा आवश्यक है।

चिकित्सा में प्रयोग—

अनेक रोगों में विशेषकर ऐसे रोग जिसमें शारीरिक क्षय अधिक होता है, विटामिन 'सी' की विशेष कमी हो जाती है। राजयक्ष्मा, फुफ्फुस की विद्रधि, आमाशय तथा पक्वाशय के पेप्टिक व्रण (Peptic), रक्तक्षीणता, रूमेटिक ज्वर, टाइफाइड ज्वर आदि में विटामिन 'सी' की अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। विद्रधि, व्रण तथा अन्य पूयोत्पादन की अवस्था में भी विटामिन की प्रचुर मात्रा आवश्यक है। दाह के पश्चात् १ से २ ग्राम ऐस्कोर्विक अम्ल प्रति दिन देना उचित है। धातुओं के प्रयोग से उत्पन्न हुई विषाक्तता की दशा में भी इसके प्रयोग की अपेक्षा की गई है।

विटामिन 'सी' की न्यूनता की दशा में तो ऐस्कोर्विक अम्ल देने से लक्षण तुरन्त शान्त होने लगते हैं। एक सप्ताह में रोमकूपों में रक्तस्राव बन्द हो जाता है। दो सप्ताह में अन्य स्थानों का स्राव भी रुक जाता है। सात आठ सप्ताह में त्वचा की दशा साधारणतया सामान्य दशा को लौट आती है।

विटामिन 'सी' का स्रोत—

यह विटामिन विशेषकर फलों में उपस्थित रहता है। निम्नलिखित तालिका में प्रत्येक पदार्थ के १०० ग्राम (साढ़े आठ तोला) में ऐस्कोर्विक अम्ल की उपस्थित मात्रा दिखाई गई है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

टमाटर	१५ मिलीग्राम
सन्तरा	१४ से १८ मिलीग्राम
नीबू	१४ से १८ मिलीग्राम
ग्रेप फ्रूट (Grape fruit)	१४ से १८ मिलीग्राम
काली मुनक्का	१४० मिलीग्राम
बन्दगोभी	३० से ९० मिलीग्राम
पालक	३० से ९० मिलीग्राम
सलाद	३० से ९० मिलीग्राम
ताज़ा गाजर	५ से १५ मिलीग्राम
,, चुकन्दर	५ से १५ मिलीग्राम
,, प्याज़	५ से १५ मिलीग्राम
सेव	३ से १० मिलीग्राम
केला	३ से १० मिलीग्राम
आड़ू	३ से १० मिलीग्राम
अंगूर	३ से १० मिलीग्राम

विटामिन की मात्रा फल के पकने, उसके संग्रह तथा सुरक्षित करने पर भी बहुत कुछ निर्भर करती है। उनके वृक्षों में दी हुई खाद तथा धूप का भी विटामिन की मात्रा पर प्रभाव होता है। शाकों को उबालने तथा पकाने की विधि का तो विशेष प्रभाव होता है। जिस जल में उनको उबाला जाता है विटामीन का बहुत भाग उसमें घुल जाता है। फिर पकाने में आक्सीकरण से विटामिन और भी कम हो जाती है। कमरे के साधारण ताप पर रखने से शाकों की विटामिन 'सी' का ह्रास होता है। किन्तु फलों की विटामिन का नाश नहीं होता। आलू को बहुत समय तक रखने से उसकी ८० प्रतिशत विटामिन नष्ट हो जाती है। फलों को सुखाने, डिब्बों में बन्द करने तथा रेफ्रीजरेटर में रखने से बहुत समय तक विटामिन वैसी ही बनी रहती है।

अंडे, चीज़ तथा तेलों में यह विटामिन नहीं होती। दूध और मांस में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

२ प्रतिशत, यकृत में २५ और वृक्क में १४ प्रतिशत होती है। दूध को उबालने से और भी कम हो जाती है। इस कारण दूध पिलाने वाली माताओं के आहार में यह विटामिन प्रचुर मात्रा में रहनी चाहिये।

विटामिन 'सी' के औषधि रूप—

टिकिया के रूप में २५, ५० और १०० मिलीग्राम की टिकिया आती हैं। इंजेक्शन के लिये २ सी० सी० जल में ०.१ ग्राम और ०.५ ग्राम तथा ५ सी० सी० में ०.५ ग्राम तथा १.० ग्राम के ऐम्पूल आते हैं।

विटामिन ई

कुछ ही वर्ष पहिले तक इस विटामिन को सन्तानोत्पत्ति के लिये आवश्यक समझा जाता था। किन्तु हाल ही के अनुसंधानों से यह विश्वास निर्मूल साबित हुआ है। १९४४ से पूर्व खाद्य और रक्त में इस विटामिन की मात्रा को मापने की विधितक ठीक प्रकार से नहीं मालूम हो सकी थी। इस विधि के ठीक-ठीक ज्ञान होने के पश्चात् ही उपयुक्त प्रयोग किये जा सके हैं, और विटामिन का रासायनिक संगठन तथा कृत्रिम निर्माण हुआ है। तभी चूहों तथा अन्य पशुओं पर विश्वसनीय प्रयोग और उनके परिणामों की जाँच-पड़ताल हो सकी है जिससे यह ठीक पता लग गया है कि इस विटामिन और सन्तानोत्पत्ति या गर्भधारण में कोई संबंध नहीं है।

कुछ वर्ष पूर्व किये गये प्रयोगों से यह धारणा बन गई थी कि विटामिन ई की न्यूनता जिन चूहों में उत्पन्न की गई उनमें प्रारंभिक मासों ही में उनका गर्भ गिर गया। इस कारण जिन स्त्रियों को प्रायः गर्भपात हो जाता था उनको इसका प्रयोग उपयोगी बताया गया। विटामिन ई के इंजेक्शनों द्वारा चिकित्सा की गई। उसके रासायनिक संगठन के अन्वेषण हो चुकने पर उसको 'टोकोफेरोल' का नाम दिया गया। तीन प्रकार के टोकोफेरोल मालूम हुये, ऐल्फा, बीटा और गामा। इनमें से ऐल्फा टेकोफेरोल ही को विशिष्ट माना गया है। स्त्रियों को प्रायः होता रहता है तथा सामान्य गर्भवती स्त्रियों दोनों के रक्त की परीक्षा की गई। इसी प्रकार गर्भवती और जिनको

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गर्भ नहीं था ऐसी चुहियों के रक्त की भी परीक्षा हुई। इसी प्रकार के अन्य पशुओं की भी परीक्षा हुई। किन्तु दोनों प्रकार की स्त्रियों तथा मादा पशुओं के रक्त में उपस्थित टैकोफेरोल की मात्रा में कोई अन्तर नहीं मिला। प्रोफेसर स्क्रिमशार (Scrimshar) ने १९५२ में ७९ गर्भावस्था के रोगों से ग्रस्त स्त्रियों के (Eclampsia or pre-eclemptictoxaemia), जिनमें से १६ को अतिरक्त श्राव था और २५ को गर्भपात हो रहा था, तथा १९७ सामान्य स्त्रियों के रक्त में ऐल्फा-टोकोफेरोल की मात्रा मापी। दोनों समूहों में कोई अन्तर नहीं निकला। इसी वर्ष में श्री ऐंगिल (Engle) महोदय ने भी ऐसा ही मत प्रकाशित किया दोनों की सम्मति में टोकोफेरोल की मात्रा में और गर्भपात में कोई संबंध न था। न टोकोफेरोल अधिक खिलाने से जिनको गर्भपात होते थे उनको कोई लाभ हुआ।

२. कुछ पेशीसंबन्धी विकारों (Myopathies distrophies, atrophy) का कारण इस विटामिन की न्यूनता का मत कतिपय विद्वानों द्वारा प्रकट किया गया। किन्तु वह भी एक भ्रम ही प्रमाणित हुआ।

३. हृदय तथा रक्तवाहनियों के रोगों की चिकित्सा में इसके प्रयोग का कुछ विद्वानों ने समर्थन किया। किन्तु १९२० में ब्रिटिश काउन्सिल-आफ़-फारमेसी ने स्पष्टतया घोषित कर दिया कि हृद्रोगों में विटामिन ई का प्रयोग निरर्थक है। इसमें कोई लाभ नहीं है।

यद्यपि इस समय तक के प्रयोगों से इस विटामिन का कोई लाभ प्रमाणित नहीं हुआ है और न उसकी कमी या अनुपस्थिति से कोई हानि मालूम हुई है तो भी अभी अधिक अन्वेषण होना शेष है। यह नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में उसका कुछ उपयोग न निकलेया। शरीर के प्रत्येक भाग में वह उपस्थित मिलती है और खाद्यों में भी उसका इतना अधिक वितरण है कि उसका कुछ उपयोग तो अवश्यम्भावी प्रतीत होता है।

दैनिक आवश्यकता—

यह हिसाब लगाया गया है कि दैनिक आहार में १५ से २५ मिलीग्राम

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विटामिन ई रहती है जिसमें से २० से ६० प्रतिशत ऐल्फा-टोकोफेरोल होता है जिसका सबसे अधिक शोषण होता है और जो रक्त में पाया जाता है। इस कारण १२ से २० मिलीग्राम (१० से १८ i. u.) को दैनिक मात्रा माना गया है। यह सब वानस्पतिक तेलों में विशेषकर और पाशविक वसा में भी बहुतायत से पाई जाती है।

विटामिन के

सन् १९३४ में कोपेनहागन में प्रोफेसर डैम (Damm) ने मुर्गियों के बच्चों में एक ऐसा रोग देखा जिसमें उनके शरीर में रक्तस्राव होकर उनकी मृत्यु हो जाती थी। परीक्षा से मालूम हुआ कि रक्त के जमने का गुण नष्ट हो हो चुका था। अर्थात् शरीर पर घाव लग जाने से जो रक्त निकलता था वह जमता नहीं था। किन्तु हरे शाक, फल आदि को खिलाने से यह दशा ठीक हो जाती है। पहिले ऐस्कोर्विक अम्ल की अनुपस्थिति इसका कारण समझा गया। किन्तु अन्वेषणों से पता चला कि एक अन्य अवयव इस दशा के लिये उत्तरदायी है जिसको सन् १९३५ में डैम ने अन्य वसामय पदार्थों से निकाला। यह पाया गया कि इस अवयव की अनुपस्थिति से रक्त में प्रोथ्रोम्बिन (Prothrombin) नहीं बनता। उसकी कमी से यह रोग उत्पन्न हो जाता है। प्रोथ्रोम्बिन से थ्रोम्बिन बनता है जो कैलशियम की उपस्थिति में फ़ाइब्रिनोजन से बने हुये रक्त के फ़ाइब्रिन से मिलकर रक्त को जमाकर उसका थक्का बानता है। अतएव यह अवयव रक्त के जमने के लिये आवश्यक है। सन १९३८ से-४० के काल में इस अवयव के रासायनिक संगठन का अध्ययन किया गया और इसको विटामिन के का नाम दिया गया। सन् १९३९ में डोमज़ो ने ऐल्फा-ऐल्फा से इसको निकाला और उसको विटामिन $के_1$ कहा। पाशविक वसा तथा भोज्यों में भी यह वस्तु उपस्थित मिली। उसको विटामिन $के_2$ का नाम दिया। किन्तु दोनों के संगठन में बहुत थोड़ा अन्तर था और दोनों की क्रिया समान थी, अर्थात् प्रोथ्रोम्बिन को रक्त में उत्पन्न करना अतएव दोनों को विटामिन-के स्वीकार

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कर लिया गया। और कितने ही प्राकृतिक भोज्यों से उसको पृथक् करके रासायनिक विधियों से उसे तैयार किया गया। मिनाडियोन (Menadione) नामक ओषधि की भाँति प्रयुक्त होने वाला पदार्थ जिसको कृत्रिम विटामिन-के भी कहते हैं रक्त में प्रोथ्रोम्बिन को बढ़ाने में अत्यन्त क्रियाशील है। यह जल में घुलनशील नहीं है। इस कारण इसका सोडियम बाई सल्फ़ाइट के साथ एक जल में घुलने वाला योग बनाया जाता है जिसका इञ्जेक्शन द्वारा प्रयोग किया जाता है।

विटामिन-के; मिनाडियोन, की क्रिया—

विटामिन-के का अणु प्रोथ्रोम्बिन के अणु का स्वयं भाग नहीं होता। प्रोथ्रोम्बिन में विटामिन-के तनिक भी नहीं पाई जाती। यह प्रतीत होता है कि यह एक इंजाइम की भाँति क्रिया करती है जिसकी उपस्थिति जो प्रोथ्रोम्बिन के संश्लेषण के लिये आवश्यक है। विटामिन-के की कमी से रक्त में प्रोथ्रोम्बिन की मात्रा कम हो जाती है जिससे थ्रोम्बिन नहीं बनती और और रक्त नहीं जमता। यह दशा नवजात शिशु तथा माता दोनों में उपस्थित हो सकती है जिससे भयंकर रक्तस्राव होकर मृत्यु तक हो सकती हैं। किन्तु विटामिन की अत्यल्प मात्रा से, १ मिलीग्राम (१/६६ ग्रेन = १/१३२ रत्ती) से रक्त की विटामिन मात्रा ठीक हो जाती है। मिनाडियोन आदि कृत्रिम पदार्थों की भी प्राकृतिक विटामिन की ही भाँति क्रिया होती है।

विटामिन–के की न्यूनता—

विटामिन–के की न्यूनता का केवल परिणाम रक्त में प्रोथ्रोम्बिन का कम होना है जिससे रक्त के जमने में अधिक समय लगता है। जितनी न्यूनता होगी उतने ही देर से रक्त जमेगा अथवा नहीं जमेगा। शस्त्रकर्मों में यह घटना बड़े महत्त्व की है। छोटे से छोटे शस्त्रकर्म में, दाँत निकालने अथवा इंजेक्शन देने तक में इसके विषम परिणाम हो सकते हैं। इस कारण शस्त्र कर्मों से पूर्व रक्त जमने का समय सदा मालूम कर लेना चाहिये।

शरीर में विटामिन–न्यूनता कई प्रकार से उत्पन्न हो सकती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१. आहार में इस वस्तु की कमी हो। किन्तु इसकी संभावना कम है क्योंकि हरे शाकों में यह उपस्थित होती है। वसामय जान्तव पदार्थों में भी यह उपस्थित रहती है। फिर स्वयं शरीर में यह वस्तु जीवाणुओं की क्रिया से बनती है और आन्त्र की श्लेष्मल कला द्वारा शोषित होती है।

२. विटामिन का आन्त्र द्वारा पूर्ण शोषण न होना भी विटामिन् की न्यूनता का कारण हो सकता है। जीवर्ग अतिसार, आन्त्र या आमाशय के सेप्टिक व्रण, आन्त्रशोथ आदि दशाओं में इस विटामिन का भी शरीर से त्याग होता रहता है। यकृत के रोगों, विशेषकर अवरोधक कामला (Obstructive Jaundice) में भी ऐसा हो सकता है। सल्फोनोमाइड औषधियों के प्रयोग का भी यह परिणाम होना संभव है।

३. विटामिन के उपयुक्त मात्रा के शोषण पर भी यकृत के प्रोथ्रोम्बिन न बनाने पर विटामिन की न्यूनता के लक्षण-रक्त का न जमना—उत्पन्न हो सकते हैं। यकृत् रोगों में ऐसा ही होता है जिनमें यकृत् कोशिका प्रोथ्रोम्बिन बनाने में असमर्थ हो जाते हैं। ऐसी दशाओं में विटामिन-के को इंजेक्शन दो सप्ताह तक देने उचित हैं।

नवजात शिशु में रक्तस्राव

कभी-कभी नवजात शिशुओं में रक्तस्राव की प्रवृत्ति पाई जाती है। जन्म के पश्चात् प्रथम छः दिन के भीतर मूत्र में रक्त आने लगता है। आन्त्र में रक्तस्राव होकर मल के साथ रक्त आता है। रक्तवमन होता है। त्वचा या श्लेष्मल कला से भी रक्तस्राव होता है। यह दशा रक्त में विटामिन-न्यूनता से जन्मजात होती है। माता के आहार में विटामिन की कमी, शिशु के अन्त्रों में विटामिन का संश्लेषण न होता अथवा उपयुक्त शोषण न होना तथा यकृत् में प्रोथ्रोम्बिन का न बनना-इस दशा के कारण हो सकते हैं। २०० से ४०० नवजात शिशुओं में एक में यह दशा रिपोर्ट की गई है। विटामिन-के को इंजेक्शन से देने से यह दशा ठीक हो सकती है। २·५ मिलीग्राम विटामिन पर्याप्त पाई गई है। इस से कम मात्रा भी उपयुक्त है। जन्म के पश्चात् तुरन्त

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ही एक २·५ मिलीग्राम का इन्जेक्शन देने से प्रोथ्रोम्बिन की कमी दूर हो जाती है। प्रसव के पूर्ण होने से पूर्व ही अर्थात् शिशु के जन्म से पहिले ही जब माता को प्रसव पीड़ा हो ही रही हो तब ही १० मिली ग्राम विटामिन-के इन्जेक्शन से शिशु में यह रोग रोका जा सकता है।

चिकित्सा में उपयोग के रूप—

मिनियाडोन नामक योग को सरकारी मान्यता दी गई है और वह फारमेकोपिमा में सम्मिलित कर लिया गया है। अमरिका में यह इसी नाम से प्रयुक्त होता है। जल में घुलनशील होने के कारण इसके इंजेक्शन का सहज में प्रयोग हो सकता है।

मेनाफ्टोन—

ब्रिटिश फारमेकोपिया में सम्मिलित है। यह तैलीय योग है।

केपेलीन, प्रोकेविट, सिंकोविट, मैफिटोन आदि नामों के कई कम्पनियों के बनाये हुए योग बाज़ार में बिकते हैं।

मल्टीविटामिन—बहुविटामिन

मल्टीविटामिन का अर्थ है एक से अधिक विटामिन। प्रकृति में प्रायः ये विटामिन बहुविटामिनों के रूप में ही उपस्थित हैं। विटामिन-ए के साथ विटामिन-डी मिली रहती है। मक्खन, अंडे, मांस आदि में दोनों ही उपस्थित हैं। विटामिन बी जटिल स्वयं ही बहुविटामिन है जिसमें कितनी ही विटामिन सम्मिलित हैं। आजकल बाज़ार में ऐसे बहुत से योग बिकते हैं जिनमें कितनी ही विटामिन मिली रहती हैं। इनका प्रयोग भी बहुत किया जाता है जो कितनी ही बार असंगत तथा अनावश्यक होता है।

विटामिनों के दो विशेष समूह हैं, एक तैल में घुलने वाली और दूसरी जल में घुलने वाली। विटामिन-बी का सारा समूह जल में घुलने वाला है। विटामिन-सी जल में घुलनशील है। विटामिन-ए, डी, ई और के तैल में घुलती है। इस प्रकार ये दो बड़े समूह हैं जो पृथक्-पृथक् हैं। बाज़ार में जो योग मिलते हैं उनमें बहुतों में ये सब विटामिन एक साथ मिला दी गई

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से इसकी सराहना नहीं की जा सकती। ऐसा कोई रोग अब तक नहीं मालूम हुआ है जिसमें सब ही विटामिनों की न्यूनता हो।

वैज्ञानिक दृष्टि से कारण को मालूम करके उसके लिये औषधि देना उचित है। थियामीन की न्यूनता के कारण यदि प्रान्तिक नाडीशोथ के लक्षण प्रकट हुवे हैं तो थियामीन को या उसके योगों को देकर रोग का कारण दूर हो सकता है जिससे लक्षण स्वयं जाते रहेंगे। यह संभव है कि थियामीन के साथ अन्य जल में घुलने वाली कई विटामिनों की न्यूनता हो। इस कारण विटामिन-बी जटिल समूह को देना संगत है। किन्तु थियामीन की उपयुक्त मात्रा देना आवश्यक है जो प्रायः बी जटिल के योगों में, जो बाज़ार में विकते हैं, उपलब्ध नहीं होती। मात्रा का ध्यान रखना आवश्यक है। उपयुक्त मात्रा बी-जटिल के योगों से नहीं मिल सकती। उसके लिये शुद्ध थियामीन उच्च मात्रा में प्रयोग करना होगा जिसको इंजेक्शन द्वारा या मुँह और इंजेक्शन दोनों प्रकार से दिया जा सकता है। विटामिन-बी-और सी-प्रायः मिली रहती है और एक की न्यूनता के साथ दूसरी की भी न्यूनता उत्पन्न हो जाती है। इस कारण इन दोनों का साथ ही उपयोग करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

ऐसे योग भी बाज़ार में विकते हैं जिनमें ए, बी, सी, डी-तथा अन्य विटामिनें भी उपस्थित रहती हैं। ये ऐसे रोगों में आवश्यक होते हैं जिनमें विटामिनों का आन्त्र से शोषण नहीं होता अथवा आन्त्र से उनका बहिष्कार होता है, जैसे अतिसार, प्रवाहिका, व्रणयुक्त आन्त्रशोथ, वमन, गर्भावस्था के वमन कभी-कभी बड़े तीव्र होते हैं ऐस दशा में इन योगों को इंजेक्शन द्वारा शरीर में पहुँचाना उचित है। आन्त्र के कई शस्त्रकर्मों के पश्चात् ऐसी ही दशा हो जाती है। कंगाली के कारण चिरकालिक शारीरिक क्षीणता, जो उपयुक्त पोषण न मिलने का परिणाम होती है, उसमें भी शरीर में प्रायः सब ही विटामिनों की आवश्यकता होती है। गर्भावस्था के वमनों में यद्यपि सब ही विटामिनों की हानि होती है किन्तु बी. और सी. की विशेष होती है। प्रायः बहुविटामिनों के योग आमाशय में रह जाते हैं। किन्तु यदि दशा तीव्र हो तो बी, सी को इंजेक्शन द्वारा पहुँचाना चाहिये।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शैशवावस्था में जब शरीर की वृद्धि द्रुतगति से होती है तो अधिक विटामिनों की आवश्यकता होती है। आहार द्वारा शिशु या बालक को पर्याप्त विटामिन नहीं मिल पातीं। इस कारण उनको ऊपर से विटामिन देना आवश्यक है। ए और डी तो विशेष तया आवश्यक हैं।

गर्भावस्था तथा दीर्घकालिक ज्वरों जैसे टायफाइड में विटामिन बी. और सी. की विशेष कमी होती है। इनको उपयुक्त मात्रा में देना चाहिये। गर्भावस्था में ए. और डी. भी आवश्यक हैं। शारीरिक क्षीणता की दशाओं में जो प्रायः उपयुक्त आहार न मिलने से या अन्य ऐसे ही कारणों से उत्पन्न हो जाती है उनमें बहुविटामिनों का प्रयोग सदा लाभकारी है।

किन्तु आजकल विटामिनों का अत्यन्त दुरुपयोग किया जा रहा है। उनका बलवर्धक औषधि की भाँति प्रयोग किया जाता है। कुछ व्यक्ति सदा ही अपने को बीमार समझा करते हैं। उनको औषधि लिये बिना सन्तोष नहीं होता। ऐसे व्यक्तियों को विटामिन बता दी जाती हैं। कितने ही रोगों का पूर्ण निश्चय करने के बिना ही उनकी उचित चिकित्सा न करके विटामिनों का आश्रय लिया जाता है। कुछ लोग स्वयं बिना किसी कारण के अपने स्वास्थ्य की उन्नति के लिये विटामिनों का सदा प्रयोग करते रहते हैं। इसमें उनका भी विशेष दोष नहीं है। बनाने वालों की ओर से उनका इतना विज्ञापन और प्रचार किया जाता है कि वे व्यक्ति जो अपने स्वास्थ्य की अतिचिन्ता से पहले ही ग्रस्त होते हैं उनको स्वास्थ्य का एक मात्र साधन समझने लगते हैं इस सबका परिणाम यह है कि देश में मनों विटामिन नित्यप्रति व्यय होती है और जो धन किसी उत्तम कार्य में लगाया जा सकता था वह व्यर्थ नष्ट होता है।

आवश्यक यह है कि जहाँ विटामिन—न्यूनता के कोई लक्षण उपस्थित हों या न्यूनता उत्पन्न होने की कोई संभावना हो, वहाँ विटामिन के योगों का अवश्य प्रयोग किया जाय। किन्तु आवश्यकता न होने पर केवल स्वास्थ्य वृद्धि के लिये उनका निरर्थक उपयोग उचित नहीं है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्वितीय परिच्छेद

रक्तोत्पादक औषधियाँ

अनेक रोगों में रक्त की क्षीणता हो जाती है। व्यक्ति का वर्ण श्वेत या पीला सा हो जाता है तनिक से परिश्रम करने में साँस फूल जाता है। हृदय की धड़कन बढ़ जाती है और मुख पर और आगे चलकर हाथ-पावों पर भी सूजन आ जाती है। यह रोग रक्तक्षीणता या रक्ताल्पता (anæmia) कहलाती है। यह अन्य दीर्घकालिक या उग्र रोगों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो जाता है। इसमें रक्त के अवयवों का नाश होता है और रक्तक्षीणता की दशा उत्पन्न हो जाती है। रोग का दूसरा प्रकार स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है और बड़े ही दुष्ट रूप का होता है जिसका अन्त कुछ ही वर्ष पूर्व निश्चित मृत्यु था।

इस रोग का गत बीस-पचीस वर्षों में पूरा अध्ययन किया गया है। तथा रक्तोत्पत्ति और उसके कारण तथा उत्पत्ति बढ़ाने वाले पदार्थों का भी गत कुछ ही वर्षों में अन्वेषण हुआ है किन्तु यह इतना महत्त्वशाली अन्वेषण था कि इसके द्वारा रक्तोत्पत्ति के संबंध में जो पहिले विचार थे वे पूर्णतया बदल गये और रक्तक्षीणता के असाध्य रूपों की सफल चिकित्सा संभव हो गई।

रक्तोत्पादक औषधियों के वर्णन के पूर्व रक्त के संगठन और रक्तोत्पत्ति का संक्षिप्त विचार आवश्यक है। उसके बिना उन औषधियों की क्रिया भली प्रकार नहीं समझी जा सकती जिससे उनका सफल उपयोग संभव नहीं होता।

रक्त का प्रयोजन—

रक्त शरीर की विशेष नलिकाओं में, जिनको धमनी और शिरा कहते हैं, प्रवाह करने वाला एक गाढ़े लाल रंग का तरल पदार्थ है। यह शरीर के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जीवन की सार वस्तु है। हृदय का काम केवल इस रक्त को शरीर के प्रत्येक भाग में पहुँचाना है। वह एक पम्प की भाँति काम करता है जो बार-बार रक्त को शरीर की नलिकाओं में धकेल देता है। इसके चार कोष्ठों में से ऊपर के दो कोष्ठों में शिराओं (Veina) से रक्त शरीर में चक्कर लगाने के पश्चात् लौटकर आता है और नीचे के दोनों कोष्ठों से फिर चला जाता है। इस प्रकार रक्त सदा शरीर में चक्कर लगाया करता है जिसको रक्त-परिसंचरण कहते हैं। हृदय के दाहिने भाग के दोनों कोष्ठों में शरीर में चक्कर लगाकर लौटा हुआ आक्सीजन-रहित; नीलिमायुक्त रंग का रक्त रहता है। ऊपर के कोष्ठ अलिन्द (auricle) में दो बृहद् नलिकाओं द्वारा, जिनको महाशिरा कहते हैं, आता है और नीचे के निलय नामक कोष्ठ से निकल कर फुप्फुसीय धमनी में होकर फुप्फुसों में जाता है जहाँ वह वायु से आक्सीजन ग्रहण करने पर चमकता हुआ लाल रंग का होकर बाँये भाग के ऊपरी अलिन्द नामक कोष्ठ में लौटकर आता है और नीचे के निलय कोष्ठ में जाकर वहाँ से हृदय द्वारा महाधमनी (aorta) में पम्प कर दिया जाता है। महाधमनी की शाखाओं और अणु शाखाओं का जाल सारे शरीर में फैला हुआ है। शाखाओं से छोटी शाखायें निकलती हैं। उनसे और छोटी शाखायें निकलती हैं। इसी प्रकार वे सूक्ष्मतर होती जाती हैं। यहाँ तक कि वे केवल एक कोशिकीय-भित्ति ही रह जाती हैं जो केशिका (Capillaries) कहलाती हैं। ये शरीर के दूर के भागों में, सूक्ष्मतर शाखों में छायी हुई हैं जिससे शरीर के सूक्ष्मतम भागों में भी रक्त पहुँच सके। यहाँ पर रक्त से आक्सीजन और पोषक द्रव्य जो वह अंत्रियों से ला रहा है केशिकाओं से छनकर बाहर के ऊतकों में चला जाता है। यही रक्त के परिवहन का प्रयोजन है, अर्थात् ऊतकों में आक्सीजन और पोषण को पहुँचाना जिससे वे अपना कार्य कर सकें। इस प्रकार आक्सीजन और पोषण को ऊतकों को देकर रक्त हृदय को लौटना प्रारंभ करना है। केशिकाओं के दूसरे सिरों से सूक्ष्म शिरा में बनती है। उनके मिलने से उनसे बड़ी शिरायें बन जाती हैं। उनसे और बड़ी शिरा में बनती है। अन्त में महाशिरा (Vena cava) बन जाती हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

एक महाशिरा शरीर के ऊपरी भाग से और दूसरी बीच के भाग से रक्त को लौटाकर हृदय के बाम भाग के अलिन्द कोष्ठ में पहुँचाती है। फिर वही चक्र पूर्ववत् प्रारंभ होता है।

रक्त का संगठन—

रक्त दो प्रकार के पदार्थों का बना हुआ है जिनमें एक द्रव और दूसरा ठोस है। तरल भाग प्लाविका (Plasma) कहलाता है जिसमें कुछ प्रोटीन घुले रहते हैं। ठोस भाग में लाल और श्वेत दो प्रकार की कणिका (red and white corpuscles) होती है। कुछ बिम्बाणु (Platelets) भी होते हैं जिनकी कोई विशेष क्रिया अभी तक नहीं मालूम हुई है।

लाल कणिका में रुपये या पैसे के समान गोल दोनों ओर चपटी, बीच में दबी हुई या अवतल और किनारों पर उभरी हुई छोटे-छोटे पैकट की भाँति हैं जिनमें हीमोग्लोबिन (Haemoglobin) नामक वस्तु भरी रहती है जिसका रंग लाल है। रक्त का लाल रंग इसी के कारण दीखता है। यदि रक्त को काँच के किसी पतले लम्बे वर्तन में भर कर रख दिया जाय तो थोड़े ही समय में लाल और श्वेत कणिका नीचे तल में बैठ जायगी और हलके पीले रंग का तरल द्रव्य ऊपर रह जायगा। यही प्लाविका है।

मनुष्य के रक्त की लाल कणिकाओं में केन्द्रक (Nucleus) नहीं होता। हीमोग्लोबिन भरी रहती है वह एक रंजक या वर्णक द्रव्ययुक्त प्रोटीन होती है। हीमोग्लोबिन के अणु में जो वर्णक भाग होता है उसमें लोह रहता है। इस भाग को 'पोरफाइरिन' (Porphyrin) नाम रसायनज्ञों द्वारा दिया गया है। दूसरा जो प्रोटीन भाग है वह एक 'ग्लोबिन' (Globin) है जो हिस्टोन श्रेणी का है। लाल रंग उत्पन्न करने वाला लोह है। इसका अधिक वर्णन आगे चलकर किया जायगा। ये वर्णक भाग और ग्लोबिन दोनों के मिलने से हीमोग्लोबिन का एक अणु बनता है। हीमोग्लोबिन का विशेष कार्य वायु से आक्सीजन को सोख लेना है। आक्सीजन से संयोग होने के पश्चात् ही इसका रंग लाल होता है। वह ऊतकों में पहुँच कर आक्सीजन सहज में ही विच्छिन्न हो जाती है। इस

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रकार फुफ्फुस में वायु से हीमोग्लोबिन आक्सीजन ग्रहण कर लेती है और ऊतकों में पहुँच कर उसको छोड़ देती है जो ऊतकों में होनेवाली आक्सीकरण क्रिया का कारण बनती है। लालकणिका को हीमोग्लोबिन का पैकट समझना चाहिये। रक्त के एक सीसी में ५० लाख लालकणिकायें होती हैं। इनकी उत्पत्ति विशेषकर अस्थि की लाल मज्जा में होती है। हीमोग्लोबिन भी लालमज्जा ही में उत्पन्न होती है। शरीर में लगभग १४०० ग्राम ऊतक ऐसा है जो इन कणिकाओं और हीमोग्लोबिन को उत्पन्न करता है और अपने से कई गुणा अधिक लाल कणिकाओं को प्रति दो या तीन सप्ताह में उत्पन्न कर देते हैं। सारे जीवन में १ टन (२८ मन) से ऊपर लाल कणिकायें उत्पन्न होती हैं।

श्वेत कणिकाओं का काम शरीर की आगन्तुक शत्रुओं, रोग के जीवाणु आदि में रक्षा करना है। वे रंगरहित और आकाररहित (उनका आकार सदा बदलता रहता है) केन्द्रक मुक्त कोशिका होती हैं जिनकी संख्या प्रति सीसी रक्त में ६ से ८००० होती है। संक्रामक रोगों में शोथ और पूयोत्पत्ति की दशा में इनकी संख्या बढ़ जाती है और कभी-कभी ३०,००० तक पहुँच जाती है जैसे निमोनिया में। ये शरीर की रक्षक सेना है।

लौह का शरीर द्वारा उपयोग—

शरीर के लिये लौह अत्यन्त आवश्यक है। होमोग्लोबिन का निर्माण लोह के बिना नहीं हो सकता। रक्तक्षीणता की चिकित्सा प्राचीन काल से लोह के द्वारा होती आई है। हमारे शरीर में ३ से ४ ग्राम तक लौह उपस्थित है जिसका दो-तिहाई भाग रक्त में है और इसका ९० प्रतिशत भाग हीमोग्लोबिन के अणुओं में सन्निहित है। शरीर में लौह तीन प्रकार से उपस्थित है (१) वह लोह जो हीमोग्लोबिन के अणु का भाग है और पृथक् नहीं होता (२) लौह जो धात्वीय अम्लों द्वारा हीमोग्लोबिन से पृथक् हो जाता है। यह लौह अणु का भाग नहीं होता, केवल उसके साथ मिला रहता है। (३) प्लाविका में उपस्थित लोह।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लौह का शोषण क्षुद्रान्त्र के ऊपरी भाग मध्यन्त्र (Jejunum) श्लेष्मल कण के द्वारा होता है जिसकी कोशिकायें लोह को फेरिक हाइड्रोक्साइड (Ferrichydroxide) के रूप में ग्रहण करती हैं। वहाँ वह एक प्रोटीन के साथ संयुक्त होकर फ़ेरिटिन (Ferritin) नामक पदार्थ बन जाता है और इसी रूप में शरीर में एकत्र रहता है। इसके एकत्र होने के स्थान यकृत, प्लीहा, अस्थि, मज्जा तथा कोशिकाओं के केन्द्रक हैं जहाँ लौह फेरिटिन के रूप में जमा रहता है और वहीं से रक्त में जाता रहता है।

प्रयोगों से पता लगा है कि १२ से १५ मिलीग्राम लौह शरीर को नित्य प्रति आवश्यक है जो आहार द्वारा शरीर में पहुँचता है। किन्तु जिन व्यक्तियों के आमाशय में अम्ल कम या नहीं बनता (achlorhydria) उनमें इसका उपयुक्त शोषण नहीं होता और उनको रक्तक्षीणता हो जाती है। रक्तक्षीणता अम्लहीनता को और बढ़ाती है। अतएव ऐसे रोगियों को अम्ल औषधि के रूप में देना चाहिये और लौह भी अधिक मात्रा में खिलाना उचित है।

शरीर से लौह का त्याग मल, मूत्र और स्वेद द्वारा होता है। आवश्यकता से अधिक जितना लौह शरीर में पहुँचता है वह इन तीन मार्गों द्वारा निकल जाता है। बृहदान्त्र द्वारा उत्सृजित होकर मल में पहुँच जाता है। ०·४ मिली-ग्राम लौह प्रतिदिन मूत्र के द्वारा निकलता है। यह भी पाया गया है कि रक्तक्षीणता होने पर भी अर्थात् शरीर में लौह की मात्रा कम होने पर भी मूत्र द्वारा इतना ही लौह निकलता रहता है।

माइकेल और हैमिल्टन (१९४९) के प्रयोगों से यह भली-भाँति प्रमाणित हो चुका है कि स्वेद द्वारा भी लौह की बहुत मात्रा शरीर का त्याग करती है। लगभग १३ प्रतिशत लौह इस मार्ग से निकलता है। ऐडेम्स ने १९५० में यह मत प्रकट किया कि त्वचा के स्तरों के साथ लौह का शरीर से विशेष त्याग होता है। इस में सन्देह नहीं है कि इन दोनों प्रकार से लौह चर्म द्वारा निकलता है।

जिन व्यक्तियों के शरीर में लौह की न्यूनता होती है, जो रक्तक्षीणता

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

से ग्रस्त होते हैं उनमें लौह का अधिक शोषण होता है। प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि रक्ताल्पता की दशा में शरीर सामान्य से कहीं अधिक लौह की मात्रा को ग्रहण कर लेता है। और कैलशियम के लवण, पित्त (लवण) तथा क्लोरोफिल लौह के शोषण में सहायता देते हैं।

हीमोग्लोबिन का निर्माण—

हीमोग्लोबिन के बनने का स्थान अस्थिमज्जा है। यहीं पर लौह और कुछ प्रोटीन पदार्थों का संयोजन करके मज्जा की कोशिकायें हीमोग्लोबिन बनाती हैं। पहिले कहा गया है कि हीमोग्लोबिन के अणु में दो भाग होते हैं लौह युक्त रजक भाग एक पोरफाइरिन होता है जो वनस्पति तथा जन्तु वर्ग के शरीरों में बहुतायत से पाया जाता है। पोरफाइरिन का रासायनिक संगठन अध्ययन किया जा चुका है। उसमें चार पायरोलवलय (Pyarole rings) होते हैं। रसायनज्ञों की दृष्टि से यह रासायनिक संगठन जानना आवश्यक है जिससे रोगी को उसी प्रकार के पदार्थों का आहार दिया जा सके। पायरोल निर्मित हीमोग्लोबिन की पोरफाइरिन में लौह रहता है और इसको 'हीमी' (Heme) भी कहते हैं। शरीर के अन्य भागों में भी इसी प्रकार की हीमी पाई जाती हैं। ये हीमी स्वयं कोशिकाओं द्वारा निर्मित होती हैं। वे ही हीमी का संश्लेषण करती हैं (वाल्श–१९४९) यकृत और फ़ौलिक अम्ल हीमी निर्माण में सहायता करते हैं। हीमी कोशिका द्वारा निर्माण को बढ़ाते हैं। अतएव अस्थि मज्जा में हीमोग्लोबिन के निर्माण के लिये (१) लौह, (२) पायरोल समूह की प्रोटीन (पोरफ़ाइरिन बनने के लिये) और (३) अमीनो अम्ल (हीमोग्लोबिन के अणु के दूसरे भाग ग्लोबिन बनने के लिये) आवश्यक हैं।

रक्ताल्पता में लोह का प्रयोग—

रक्ताल्पता में लाल कणिकाओं की संख्या घट जाती है और हीमोग्लोबिन भी कम हो जाती है। कणिकाओं का आकार भी छोटा हो जाता है। यह अल्पवर्णक (hypochromic) रक्तक्षीणता कहलाती है। लौह की कमी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसका विशेष कारण होती है, इसकी चिकित्सा लौह द्वारा ही होती है। लौह का प्रयोग अति प्राचीन काल से चला आया है। लौह के बहुत से योगों का प्रयोग किया जा चुका है। ये योग दो रूपों में मिलते हैं, एक फेरिक (Ferric) और दूसरे फेरस (Ferrous)। फेरिक अमोनियम-सायट्रेट ऐसा ही योग है। फेरिक फास्फेट का सोडियम सायट्रेट के साथ प्रयोग होता था। अकार्बनिक अम्लों के फेरिक लवण श्लैष्मिक कण के संकोचक होते हैं। इस कारण उनका तथा अन्य फ़ेरिक लवणों का प्रयोग छोड़ दिया गया है।

आजकल फ़ेरस लवणों ही का विशेषतया प्रयोग किया जाता है। उनमें भी फेरस सल्फ़ेट का। इसको १ ग्राम प्रतिदिन देना पर्याप्त समझा जाता है। यह आमाशय में घुल जाता है। इसकी टिकियां तथा कैप्सूल आते हैं।

लौह का शोषण बहुत कुछ पाचन की दशा पर निर्भर करता है। कुछ विद्वान् इसके साथ ऐस्कोर्बिक अम्ल का प्रयोग करवाते हैं। हाइड्रोक्लोरिक अम्ल (तनु) को फैरस सल्फ़ेट के साथ दिया जाता था। किन्तु यह अम्ल आवश्यक नहीं है।

चिकित्सा काल में समय-समय पर रक्त परीक्षा करना आवश्यक है। हीमोग्लोबिन तथा लाल कणिकाओं की संख्या उत्तरोत्तर बढ़नी चाहिये। १ प्रतिशत होमोग्लोबिन की दैनिक वृद्धि को चिकित्सा का सफल परिणाम माना जाता है। १ ग्राम फैरस सल्फेट से शरीर को ३० से ४० मिलीग्राम लौह मिल जाता है जो लौह की कमी की पूर्त्ति के लिये पर्याप्त है। बारर (Barer) और फौलर (Fowler) ने बहुत से रोगियों को लौह के कई योगों की थोड़ी मात्रा खिलाई। उनका कथन है कि फैरस सल्फेट की ०·३६ ग्राम (६ ग्रेन) की मात्रा से उतना ही लाभ हुआ जितना १ ग्राम नित्य प्रति देने से।

बहुत अधिक लौह के प्रयोग से विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं जिससे मृत्यु तक हो सकती है। एक ऐसे ही शिशु की मृत्यु का उल्लेख मिलता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इंजेक्शन द्वारा भी लौह दिया गया है। कुछ विद्वानों का कथन है कि इंजेक्शन से देने के लिये खिलाने की अपेक्षा केवल ½ मात्रा पर्याप्त है। अन्य विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। उनकी सम्मति में इससे वृक्क को हानि पहुँच सकती है। एक विद्वान् (Strauss-१९३९) इंजेक्शन द्वारा लौह देने के घोर विरोधी हैं। उनकी सम्मति में इसकी कभी भी आवश्यकता नहीं होती।

रक्तक्षीणता में आहार—

अल्प वर्णक रक्तक्षीणता जो लौह की कमी से उत्पन्न होती है, उसकी लौहद्वारा चिकित्सा में आहार का भी बहुत बड़ा स्थान है। जब तक ग्लोबिन और पोरफाइरिन आहार द्वारा न मिलेंगे तब तक हीमोग्लोबिन का अणु नहीं बन सकता। लौह मुक्त किन्तु प्रोटीनरहित आहार रक्तक्षीणता उत्पन्न करने वाला है। इस कारण लौह के साथ उपयुक्त प्रोटीन भी आहार में देना अत्यन्त आवश्यक है।

पोरफायरिन अनेक खाद्यों में, वानस्पतिक तथा पाशविक दोनों में उपस्थित है। ग्लोबिन विशेषतया मांस ही से मिलती है। यह यकृत, और वृक्क में अधिक होती है। अनेक प्रयोगों से यही परिणाम निकला है कि प्रोटीन रक्त की हीमोग्लोबिन बनाने में अत्युत्तम है। दूध ४०० ग्राम और डबल रोटी ४५० ग्राम के दैनिक प्रयोग से दो सप्ताह में केवल ३ ग्राम हीमोग्लोबिन बनी। किन्तु यकृत ३०० ग्राम तथा रोटी ३०० ग्राम से ८० ग्राम और यकृत के ४५० ग्राम से ९५ ग्राम हीमोग्लोबिन बनी।

हीमोग्लोबिन की उत्पत्ति में ताम्र बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है। जिन चूहों के आहार में लौह मिलाने से उनमें हीमोग्लोबिन नहीं बनी, ताम्र मिलाते ही बनने लग गई। यकृत में ताम्र का संग्रह होता है। स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा अधिक ताम्र होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दुष्ट रक्ताल्प (Pernicious Anaemia)

और यकृत तथा फ़ौलिक अम्ल द्वारा चिकित्सा.

दुष्ट रक्ताल्पता—

यह रक्ताल्पता का दूसरा रूप है जिसमें लाल कणिकाओं की संख्या अत्यन्त क्षीण हो जाती है। किन्तु उनका आकार बड़ा हो जाता है। हीमोग्लोबिन २० से ४० प्रतिशत रह जाती है। वर्णांक (Colour index) १ से अधिक होता है। कई आकारों की केन्द्रक युक्त लाल कणिकायें रक्त में आने लगती हैं जिसका कारण अस्थिमज्जाकी अतिक्रियता है। अस्थिमज्जा की लाल कणिकाओं के निर्माण की क्रिया तो बहुत बढ़ जाती है किन्तु वह क्रिया पूर्ण नहीं होती। अर्थात् वह कणिकाओं को परिपक्व नहीं कर पाती। इनका आकार भी बड़ा होता है और उनमें केन्द्रक भी होते हैं जो सामान्य लाल कणिका से पहिले की अवस्था है। रोगी को अत्यन्त दुर्बलता प्रतीत होती है। कुछ पित्त के रंजक लवणों (बिलिर्यूबिन) के रक्त में आने से चर्म पीला दिखाई देता है। जिह्वा शोथयुक्त हो जाती है। उदर में शूल, अतिसार या वमन हो सकते हैं। कभी कभी ज्वर भी हो आता है। आमाशय रस में पैप्सिन तथा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का उद्रेचन नहीं होता। अंगों का स्तम्भ हो जाता है। नाड़ीशोथ के से लक्षण प्रकट हो सकते हैं।

रोग का कारण—

यह वास्तव में एक न्यूनता रोग है जो दुष्ट रक्ताल्पतारोधक अवयव (antipernicious anaemia principle) की अनुपस्थिति से उत्पन्न होता है। बृहदकोश की रक्तक्षीणताओं (Megulocytic anaemia) में यह रक्तक्षीणता विशेष महत्त्व की है और इसी के सम्बन्ध में बड़ी महत्वपूर्ण खोजें हुई हैं जिनमें केसिल (castle) ने प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित किया है कि रक्तक्षीणतारोधकर अवयव की कमी से यह रोग उत्पन्न होता है। यह अवयव यकृत से बनता है और वहीं संग्रह होता है। वह दो तत्त्वों के मिलने से उत्पन्न होता है। एक बहिरस्थ तत्त्व (Extrinsic factor)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

और दूसरा अन्तरस्थ तत्त्व (intrinsic factor)। बहिरस्थ तत्त्व दूध, अंडे, मांस तथा खाद्यों में रहता है। अन्तरस्थ तत्त्व आमाशय के स्कन्धा (cardiac) की कोशिकाओं में बनता है। जब ये दोनों मिलते हैं तो उनकी क्रिया से रक्तक्षीणतारोधक अवयव की उत्पत्ति होती है। आन्त्र के श्लैष्मिक कण इसका शोषण करते हैं और वहाँ से यह यकृत में पहुँचता है। यकृत से यह अस्थिमज्जा में पहुँचता है और उसको बृहदकेन्द्रकयुक्त कणिकाओं को परिपक्व करने की शक्ति देता है। ये बृहदकेन्द्रकयुक्त कणिकायें बृहद कणिकाओं (megalocyte) में परिवर्त्तित होती हैं और उनका आकार छोटा होकर साधारण लाल कणिका बन जाती है।

यह क्रियाओं की एक श्रृंखला है जिसके कहीं पर टूट जाने या विकृत हो जाने से रोग उत्पन्न हो सकता है। १. उपयुक्त भोजन न मिलने से बहिरस्थ तत्व न प्राप्त हो, २. दुष्ट रक्तक्षीणता में अन्तरस्थ तत्त्व नहीं उत्पन्न होता। आमाशय के अपछेदन (gastrectomy) में भी यही होता है। ३. दोनों तत्वों के मिलने से रक्तक्षीणतारोधक अवयव बन कर भी प्रवाहिका, शोथ, अर्बुद, संक्रमण आदि आन्त्र के रोगों के कारण उसका शोषण न हो। ४. शोषण होने पर भी यकृत सिरोसिस (cirrhosis) आदि रोगों से ग्रस्त होने के कारण अवयव को संग्रह न करे। ५. अथवा अस्थिमज्जा ही अवयव का उपभोग न कर सके। इस प्रकार रोग को रोकने के लिये उपर्युक्त श्रृंखलाओं की क्रियाओं का होना आवश्यक है।

यकृत का चिकित्सा में प्रयोग—

उपर्युक्त अन्वेषणों का विचार करके सन् १९२६ में मिनौट और मर्फी ने दुष्ट रक्तक्षीणता के रोगियों को विना पका हुआ यकृत खिलाया। थोड़ा पकाने से भी कोई हानि नहीं होती। इससे उन रोगियों को बड़ा लाभ हुआ। किन्तु यकृत को अधिक मात्रा में खिलाने की विशेष कठिनाई थी। बहुत से रोगी यकृत को नहीं खा सकते थे। तब यकृत से जूस को निकाला गया और जूस तथा तथा शेष तिलछट दोनों को रोगियों या रोगी जन्तुओं को

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दिया गया। केवल तिलछट खाने वालों को कोई लाभ नहीं हुआ। और भी कुछ रक्ताल्पतायें होती हैं जिनमें बृहद आकारवाली कणिकायें पाई जाती हैं। किन्तु वे दुष्ट रक्ताल्पता से भिन्न होती हैं। रस पीने वालों को पूर्ण लाभ हुआ जैसा समस्त यकृत खाने वाले को हुआ था। फिर रासायनिक क्रियाओं से यकृत का सत्त्व निकाला गया। उसके सक्रिय मौलिक अवयव तथा रक्तक्षीणता रोधक अवयवों को पृथक किया गया। इन विधियों और प्रयोगों से कई पौंड यकृत के सक्रिय अवयव को कुछ ग्राम चूर्ण के रूप में रोगियों के प्रयोग के लिये उपलब्ध बना दिया गया। इसके घोल को एम्पुल में भर कर इन्जेक्शन के लिये भी तैयार कर दिया गया। रसायनज्ञों ने कई पौंड यकृत के रक्तक्षीणता को दूर करने वाले अवयव को एक या दो सी. सी. द्रव में भर दिया। यद्यपि रासायनिक विद्या की सहायता से इतनी उन्नति हुई किन्तु फिर भी रक्तक्षीणतारोधक अवयव का ठीक ठीक पता नहीं लगा। सन् १९४८ में रिकी, शौर्ब और वेस्ट (Rickes, Shorb, West) के अन्वेषणों से मालूम हुआ कि विटामिन बी$_{१२}$ ही दुष्ट रक्तक्षीणतारोधक अवयव है। रिकी ने इसको यकृत के जूस से पृथक् किया। शौर्ब और वेस्ट ने प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित किया कि यही वह अवयव है जो दुष्ट रक्तक्षीणता को नहीं होने देता तथा इसकी मात्रा भी निर्धारित की। इसकी एक मात्रा (१ माइक्रोग्राम) का प्रति तीसरे या चौथे सप्ताह इन्जेक्शन द्वारा देना पर्याप्त पाया गया।

आमाशय का रक्तक्षीणता की चिकित्सा में प्रयोग—

मांस आदि में, विशेषकर बैल के मांस में, बहिरस्थ तत्त्व की उपस्थिति गत पृष्ठों में बताई गई है। दुष्ट रक्ताल्पता में इसके प्रयोग से कोई लाभ नहीं होता। रक्तोत्पत्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु यदि आमाशय के कुछ भाग को घोट या पीसकर उसका जूस निकालकर मांस में या मांस जूस में मिलाकर प्रयोग करवाया जाय तो रोगी को लाभ होता है। यदि यकृत के साथ आमाशय को मिलाकर या उनका जूस निकाल कर दिया जाय

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तो यकृत की क्रिया कई गुना बढ़ जाती है। इसका कारण यह है कि बहिरस्थ और अन्तरस्थ तत्वों के मिलने से रक्तक्षीणतारोधक अवयव तैयार हो जाता है जिसकी विशिष्ट क्रिया से रक्तोत्पत्ति ठीक प्रकार से होने लगती है। इस प्रकार के योग कई कम्पनियों द्वारा बनाये जाते हैं। यकृत और आमाशय के सत्वचूर्ण रूप में या इंजेक्शन के ऐम्पुल रूप में कई कम्पनियाँ तैयार करती हैं। इनकी मात्रा थोड़ी ही होती है।

आमाशय और विटामिन बी$_{१२}$—

यह पाया गया है कि जब विटामिन बी$_{१२}$ इंजेक्शन द्वारा दिया जाता है तो उसकी उत्तम क्रिया होती है। किन्तु मुख से खिलाने पर कई गुना अधिक विटामिन बी$_{१२}$ भी निष्क्रिय रहता है। उसके साथ आमाशय का जूस मिलाने से वह क्रियाशील हो जाता है। प्रयोगों द्वारा मालूम हुआ कि आमाशय के जूस में भी रक्तक्षीणतारोधक गुण है। उसमें अन्तरस्थ तत्व तो रहता ही है। केवल आमाशय के जूस को भी इंजेक्शन द्वारा देने से लाभ होता है। यह तत्व आमाशय के स्कन्ध भाग से पृथक् किया जा चुका है (Fox and castle–१९४२)। यह भी मालूम हुआ है कि दुष्ट रक्तक्षीणता में यह तत्व कुछ मात्रा में अवश्य उपस्थित रहता, किन्तु मात्रा कम हो जाती है। इस रोग के रोगियों को जब विटामिन बी$_{१२}$ के साथ आमाशय जूस मिला कर दिया जाता है तो लाभ होता है। बिना आमाशय जूस के विटामिन बी$_{१२}$ की इंजेक्शन द्वारा देने की अपेक्षा ३० से ६० गुना अधिक मात्रा आवश्यक होती है।

इन प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आमाशय जूस विटामिन बी$_{१२}$ की रक्तोत्पादक क्रिया को बढ़ाता है। स्वयं भी उसमें रक्तोत्पादक शक्ति है। फॉक्स और केसिल (१९४२) के अन्वेषणों से यह मालूम हुआ कि दुष्ट रक्ताल्पता के रोगियों के आमाशय में भी कुछ न कुछ अन्तरस्थ तत्व बना रहता है, किसी में कम किसी में अधिक। उसका सम्पूर्ण नाश नहीं होता।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस कारण रोगियों में परिव उसी हिसाब से कम या अधिक विटामिन$_{१२}$ खिलाना पड़ता है।

विटामिन बी$_{१२}$ फोलिक अम्ल तथा ऐस्कोर्बिक अम्ल—

फोलिक अम्ल के संबंध में व ्या जा चुका है कि विटामिन बी$_{१२}$ और फौलिक अम्ल दोनों को मिलाकर रोगियों को देने से विशेष लाभ होता है। फौलिक अम्लरहित भोजन देने से रक्तक्षीणता उत्पन्न हो जाती है। विटामिन बी$_{१२}$ की क्रिया तब ही होती है जब फौलिक अम्ल उपस्थित होता है। जिन जन्तुओं को विटामिन बी$_{१२}$ युक्त किन्तु फौलिक अम्लरहित भोजन दिया गया उनको रक्तक्षीणता हो गई।

प्रयोगों से यह निश्चित हो चुका है कि विटामिन बी$_{१२}$ यकृत से फौलिक अम्ल को प्रवाहित करता है। फौलिक अम्ल यकृत में एकत्र होता है। विटामिन बी$_{१२}$ की क्रिया से वह यकृत से प्रवाहित होता है। ऐस्कोर्बिक अम्ल इसको ल्यूकोवेरीन में परिवर्त्तित कर देता है। यही रूप अस्थिमज्जा की रक्तोत्पादक क्रिया को बढ़ाता है।

अतएव विट मिन बी$_{१२}$, फौलिक अम्ल और ऐस्कोर्बिक अम्ल तीनों की रक्तोत्पत्ति के लिये आवश्यकता है। तीनों की क्रिया शृङ्खलित और संबद्ध है। और रक्ताल्पता की चिकित्सा में इन तीनों के प्रयोग से लाभ होता है। ऐसे योग बाजार में विकते हैं जिनमें ये तीनों पदार्थ और आमाशय का सत्व उपस्थित होते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

धिय

। इसका

तृतीय परिच्छेद

रासायनी चिकित्सा (Chemotherapy)

रासायनी चिकित्सा का अर्थ है किसी एक रासायनिक पदार्थ द्वारा संक्रामक रोग की चिकित्सा जिससे उस रोग को उत्पन्न करनेवाले जीवाणु या अन्य जीव नष्ट हो जायँ। जान्तव शरीर में जो पराश्रयी या परजीवी (Parasites) रोग उत्पन्न करते हैं उनका नाश इस चिकित्सा पद्धति का ध्येय होता है। यद्यपि एक प्रकार से सब ही औषधियाँ रासायनिक पदार्थ हैं किन्तु इस शब्द का प्रयोग रोगोत्पादक परजीवियों का नाश करनेवाली रासायनिक वस्तुओं के ही लिये किया जाता है।

यह विद्या बहुत पुरानी नहीं है। यूरोप में यह अर्हलिख़ (Ehrlich) के समय से प्रारम्भ हुई है। वे ही इसके जन्मदाता माने जाते हैं। सबसे पहिले उन्होंने सिफिलिस रोग की चिकित्सा के लिये संखिया के कारबनिक योग तैयार किये जो अत्यन्त सफल प्रमाणित हुये। उनका उद्देश्य ऐसी वस्तु का निर्माण करना था जो परजीवी के शरीर के साथ इस प्रकार संयुक्त हो जाय कि वह उसकी आवश्यक जीवन क्रियायें न होने दे जिससे उसकी मृत्यु हो जाय, किन्तु जिस जन्तु के शरीर में परजीवी स्थित है उसको कोई हानि न पहुँचे, उसके ऊतकों की कोशिकायें जो परजीवी के चारों ओर स्थित हैं अथवा जिनमें परजीवी स्थित है उन पर उस वस्तु की कोई क्रिया न हो। अर्थात् जन्तु का शरीर इस वस्तु से किसी प्रकार प्रभावित न हो। प्रोफेसर अर्हलिख़ ने बहुत काल तक अथक परिश्रम करके कई सौ योगों को बनाने के पश्चात् ऐसे रासायनिक योग के बनाने में सफल हुये जो सिफलिस को उत्पन्न करने वाले जीवाणु पर अचूक बाण था। किन्तु जान्तव शरीर को भी हानि पहुँचने के कुछ लक्षण मिलते थे। अनेक प्रयोगों के पश्चात् इस वस्तु के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रासायनिक संगठन में परिवर्तन करने के पश्चात् वे इस हानिकारक प्रभाव को दूर करने में सफल हुये।

इसी प्रकार की अन्य बहुत-सी वस्तुयें आगे चलकर अन्य अन्वेषकों द्वारा तैयार की गईं। मैलेरिया कीटाणु नाशक कितने ही ऐसे पदार्थों का निर्माण हुआ। सल्फा औषधियाँ भी इसी श्रेणी की वस्तु हैं जो अत्यन्त भयंकर जीवाणुओं के नाश में आशातीत सफल प्रमाणित हुई हैं। ऐसी और भी कितनी ही औषधियों का आगामी पृष्ठों में वर्णन किया गया है किन्तु प्रोफेसर अर्हलिख़ का विचार कि औषधि जीवाणु पर तो क्रिया करे किन्तु शरीर के ऊतकों को प्रभावित न करे सत्य न प्रमाणित हो सका। अनेक रसायन जीवाणु को क्रियाहीन कर देती हैं किन्तु नष्ट नहीं करतीं। यह क्रिया शरीर के ऊतकों को ही करनी होती है। उनकी कोशिकायें स्वयं जीवाणुओं को खा जाती हैं या वे ऐसे रस बनाती हैं जो जीवाणुओं को विलीन कर देते हैं, उनको गला डालती हैं। कुछ वस्तुयें शरीर के ऊतकों से संयोजन के पश्चात् ही क्रियमान होती हैं अथवा उन ऊतकों द्वारा वे इस प्रकार परिवर्त्तित हो जाती हैं कि वे जीवाणुओं पर क्रिया करने में समर्थ होती हैं।

१. सिफिलिस रोग की विशिष्ट औषधियाँ

सिफिलिस रोग संसार भर में व्याप्त है। कोई ऐसा देश या प्रान्त नहीं है जो इस रोग से बचा हो। गरीब, अमीर, शिक्षित, अशिक्षित, स्त्री, पुरुष तथा सब जातियों में यह रोग पाया जाता है। यह रोग कितना पुराना है यह कहना कठिन है। आयुर्वेद में इसको फिरंग रोग के नाम से पुकारा गया है। अतएव भारतवर्ष में यह अंग्रेजों के आने के पश्चात् आया है। चीन के कुछ प्राचीन लेखों से कुछ विद्वानों का विचार है कि चीन में यह रोग अति प्राचीनकाल में था। किन्तु इस विषय के सभी विद्वान् इस पर सहमत हैं कि यह रोग अमरीका से कोलम्बस के सैनिकों द्वारा यूरोप में लाया गया और वहाँ से यूरोप और एशिया आदि में फैला। १४९३ में यह रोग चार्ल्स अष्टम की सेना के साथ इटली पहुँचा और सैनिकों ने नेपल्स को इस रोग

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

से भर दिया। सोलहवीं शताब्दी में इस रोग को सिफिलिस नाम दिया गया। उसके बहुत समय के पश्चात् इसका मैथुन के साथ संबंध समझा गया। १८वीं शताब्दी में इस रोग के कारण उत्पन्न हुये बहुत से उपद्रवों का वर्णन किया गया। किन्तु १९०५ में प्रथम बार शौडिन (Schaudin) ने इस रोग के जीवाणु को रोग से उत्पन्न हुये व्रणों में पाया और विशेष विधियों से रंजित करके उसको अन्य विद्वानों को प्रदर्शित किया। सन् १९१० में अर्हलिख़ (Ehrlich) ने उसकी औषधि तैयार की।

रोग का कारण—

यह एक लहकियेदार शरीर वाला लम्बा स्पिरिल्ला जाति का जीवाणु है जिसको स्पारोकीटा पैलिडा या ट्रिपोनिमा पैलिडम (Spirocheta or Treponima Pallidum) कहते हैं। मैथुन या शारीरिक सम्पर्क द्वारा इस रोग से ग्रस्त स्त्री से पुरुष को या पुरुष से स्त्री को रोग होता है।

रोग के लक्षण—

प्रथम अवस्था में शिश्न पर या भगोष्ठों पर कठिन व्रण (Hard Chancre) बनता है जो शरीर के आक्रान्त स्थान के ऊतकों का आक्रमण करने वाले जीवाणुओं का प्रतिरोध करने का एक लक्षण मात्र है। साथ में उस स्थान से सम्बन्धित लसीका ग्रन्थियों की भी वृद्धि हो जाती है। कुछ रक्तक्षीणता भी उत्पन्न होती है। प्रायः छः सप्ताह में यह व्रण भर जाता है और रोगी साधारणतया स्वस्थ दीखता है। जीवाणु प्रवेश के कुछ ही घण्टे पश्चात् रक्त में पहुँच जाते हैं।

छः सप्ताह से छः मास के पश्चात्, **दूसरी अवस्था** के लक्षण प्रगट होते हैं। चर्म और श्लेष्मलकला पर चकत्ते बन जाते हैं। त्वचा पर लालिमा-युक्त भूरे रंग के छोटे-छोटे क्षेत्र बन जाते हैं जो शरीर के दोनों ओर समान स्थित होते हैं। कभी-कभी इनमें लालिमा अधिक होती है और कुछ श्वेत होते हैं। कई प्रकार के चकत्ते हो सकते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मुँह में व्रण बन जाते हैं। श्वेत रंग का पदार्थ जमा हो सकता है जो श्लेष्मलकला के स्तर का बना होता है। गले के भीतर की श्लेष्मल-कला तथा टांसिल लाल दीखते हैं जिन पर भूरे रंग के व्रण बन जाते हैं। जिह्वा पर शोथ होकर जहाँ-तहाँ अंकुर नष्ट हो जाते हैं जिससे हरे से रंग के उठे हुये किनारे वाले क्षेत्र दिखाई देते हैं। रोगी में रक्त-क्षीणता हो जाती है। उसका वर्ण पीला दीखता है। दुर्बलता प्रतीत होती है। हलका सा ज्वर बना रहता है।

तीसरी अवस्था का विशेष परिवर्त्तन गमा (Gumma) का बनना है। यह रचना एक अर्बुद की भाँति होती है किन्तु उसके भीतर गलित वस्तु भरी रहती है। शरीर के किसी भी अङ्ग में मस्तिष्क, यकृत, फुप्फुस, अस्थियों, पेशी सब ही स्थानों में गमा बन सकता है। दूसरे प्रकार के परि-वर्त्तन में आक्रान्त अंग में तान्तव (Gummatous infiltration) ऊतक बनकर उसको भर देता है जिससे उस अंग की कोशिका नष्ट हो जाती है। हृदय या रक्त-वाहकतन्त्र के अन्य भाग भी इसी प्रकार आक्रान्त हो सकते हैं। अन्य कोई ऐसा दुष्ट रोग नहीं है जो इतने अंगों को आक्रान्त कर सके और इतने प्रकार के भिन्न लक्षण उत्पन्न करे। शरीर का कोई ऐसा अंग नहीं है जिसमें ये परिवर्त्तन न हो सकें।

चिकित्सा—

इसकी सफल चिकित्सा का अर्हलिख द्वारा अन्वेषण रासायनी चिकित्सा के इतिहास में वह दिन है जब उसका जन्म हुआ। इस अन्वेषण ने वैज्ञानिकों में क्रान्ति सी उत्पन्न कर दी और उसी के पश्चात् धातुओं के प्रयोग पर अनेक वैज्ञानिकों ने अन्वेषण आरम्भ कर दिये।

चिकित्सा में दो ही धातुओं का विशेष प्रयोग किया गया है—आर्सनिक या संखिया और बिस्मथ (Arsenic and Bismuth)। इस समय पेंसिलीन का विशेष प्रयोग किया जाता है। ये दोनों वस्तुयें अब बहुत कुछ

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इतिहास की हो चुकी हैं यद्यपि अब भी कुछ रोगियों की उनके द्वारा चिकित्सा की जाती है।

संखिया या आर्सनिक का प्रयोग

आर्सनिक का दो रूपों में प्रयोग किया जाता है। कार्बनिक और अकार्बनिक रूपों में। सिफिलिस की चिकित्सा में केवल कार्बनिक रूप का प्रयोग होता है। अकार्बनिक रूप बड़े विषैले होते हैं। उनका प्रयोग बलवृद्धि के लिए अणुमात्राओं में किया जाता है। आजकल उसका विशेष प्रयोग कीटनाशक औषधियों (Insecticides) के बनाने में किया जाता है।

आर्सनिक का कारबनिक योग प्रथम बार १८६३ में बीकरफ (Bechamp) नामक विद्वान् द्वारा तैयार किया गया था जिसको ऐटौक्सिल (Atoxyll) का नाम दिया गया था। चूहों में उत्पन्न किये गये ट्रिपनोसोम रोग की चिकित्सा में यह पदार्थ बहुत सफल प्रमाणित हुआ। किन्तु वह बड़ा ही विषैला (Toxic) था। अर्हलिख़ ने ऐटौक्सिल को लिया और अपने एक रसायनज्ञ मित्र बर्थीम की सहायता से ऐटौक्सिल के रासायनिक संगठन का अध्ययन किया। उसने इसी के रासायनिक संगठन में परिवर्त्तन करके लगभग १००० योग तैयार किये और उनसे जन्तुओं पर प्रयोग किये। उनमें से दो योग, आर्सफ़िनामीन और अक्सोफिनार्सोर्नि का चिकित्सा में विशेष प्रयोग हुआ। आर्सफ़िनामीन साधारणतया सालवर्सन या ६०६ कहा जाता है। यह अर्हलिख़ और वर्थीम का बनाया हुआ ६०६वाँ योग था। इसके पश्चात् ९१४वाँ योग नियोआर्सफिनेमीन बना जो नियोसालवर्सन के नाम से प्रसिद्ध है। यह सालवर्सन की अपेक्षा कम विषैला है। औक्सोफिनार्मीन मेफ़ार्सन के नाम से अमरीका में बहुत प्रयोग होता है। इसी योग को मेफार्साइड के नाम से पार्क डेविस कम्पनी ने तैयार किया है। सल्फार्सिनोल (Sulpharsenol) भी आर्सफिनामीन ही में परिवर्त्तन करके उससे बनाया गया है और नियोसालवर्सन की अपेक्षा कम विषैला है

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आर्सेनिक के और भी कितने ही योग हैं जिनका कुछ रोगों में प्रयोग किया जाता है। ऐटौक्सिल जिसका सर्वसाधारण नाम सोआमीन (Soamin) है, विशेष रूप से दमे (Asthma) में प्रयोग किया जाता है। एक ग्रेन से प्रारंभ करके अन्तिम छः इंजेक्शन ३ ग्रेन के दिये जाते हैं। बहुतों को इससे विशेष लाभ होता है। कुछ रोगियों को वह सहन नहीं होता।

सिफ़िलिस की चिकित्सा में आर्सफ़िनेमीन का ही अधिक प्रयोग होता है। इसके अन्य रूप नियोसालवर्सन, मेफार्साइड, सल्फार्सिनाल का उपयोग विशेष प्रचलित है। इनकी एक मात्रा काँच के एक एम्पुल में बन्द रहती है। उसको तोड़ कर १० सी. सी. आसुत (Distilled) जल में उसको घोल कर शिरा द्वारा शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। सप्ताह में एक बार इंजेक्शन देना उचित है जिससे शरीर शनैः शनैः उसका अभ्यस्त हो जाता है। ये बड़ी क्षोभक वस्तु होती हैं। एक बूँद भी शिरा से बाहर निकल जाने से रोगी को दारुण पीड़ा होती है। इस प्रकार छः सप्ताह में छः इंजेक्शन दिये जाते हैं। उसके पश्चात् रक्त-परीक्षा की जाती है जिससे रोग की अवस्था का पता लगता है। रोगमुक्ति के निश्चय का साधन केवल रक्त-परीक्षा है। लक्षणों का शमन विशेष महत्त्व का नहीं है। बिना चिकित्सा के भी कुछ समय तक रोगी लक्षणमुक्त हो सकता है। रक्त-परीक्षा से यदि रोग की उपस्थिति का पता लगे तो रोगी को फिर से इंजेक्शन देने आवश्यक होते हैं। किन्तु एक बार चिकित्साक्रम समाप्त करने के पश्चात् अर्थात् औषधि की उच्चतम मात्रा (०·९ ग्राम) देने के कम से कम तीन सप्ताह तक इंजेक्शन न दिये जायँ। तीन या चार सप्ताह के पश्चात् रक्त-परीक्षा के धनात्मक (Positive) होने पर फिर से चिकित्सा प्रारम्भ कर दी जाय। इस बार प्रथम इंजेक्शन में तीसरी या चौथी मात्रा (०·४५, ०·६ ग्राम) दी जा सकती है। इसी प्रकार चिकित्सा-क्रम को जारी रखा जाता है जब तक रक्त-परीक्षा ऋणात्मक नहीं हो जाती।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नियोआर्सफ़िनेमीन की निम्नलिखित मात्रायें हैं :—

पहली	मात्रा	०·१५ ग्राम
दूसरी	,,	०·३० ,,
तीसरी	,,	०·४५ ,,
चौथी	,,	०·६० ,,
पाचवीं	,,	०·७५ ,,
छठी	,,	०·९० ,,

मेफ़ार्साइड की सब मात्रायें समान हैं।

कुछ समय तक प्रयोग करने के पश्चात् आर्सनिक शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में एकत्र होने लगता है। सबसे अधिक यकृत और वृक्क में एकत्र होता है। अस्थियों, पेशियों, त्वचा, बाल तथा अन्य सब अंगों में एकत्र हो सकता है। प्रयोग के पश्चात् आर्सनिक इन अंगों में बहुत समय तक अत्यधिक मात्रा में एकत्र पाया गया है। यह आर्सनिक चिकित्सा के लिये उपयोगी नहीं है। वह केवल उसी समय तक उपयोगी रहता है जब तक रक्त में रहता है। एकत्र होने के पश्चात् वह निष्क्रिय हो जाता है। यह एकत्र हुआ आर्सनिक विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न कर सकता है जो बहुत बार कुछ समय के पश्चात् प्रकट होते हैं। आर्सनिक का शरीर से मूत्र और मल के साथ त्याग होता है। निम्नलिखित दशाओं में उपर्युक्त योगों के इंजेक्शन न देने चाहिये :

(१) वृक्क के रोग (२) मधुमेह (३) हृद्रोग (४) यकृत रेके सिरोसिस रोग (५) उच्च रक्त-दाब (High Blood pressure) (६) राजयक्ष्मा (७) जिनको आर्सनिक सहन न होता हो (८) नेत्र में टीना (retina) या दृष्टि नाडी (Optic nerve) सम्बन्धी रोगों में।

बिस्मथ का प्रयोग

सन् १९२१ में साज़रेक और लिफ़ार्डिते ने बिस्मथ के योगों को सिफ़ि-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लिस के चिकित्सा-क्रम में प्रविष्ट किया। इन्होंने प्रयोगों में देखा कि बिस्मथ के योग स्पाइरोकीट नाशक होते हैं। किन्तु उनका शोषण आर्सनिक की अपेक्षा धीमा होता है यद्यपि वे रक्त में अधिक समय तक उपस्थित रहते हैं। इस कारण विस्मथ को आर्सनिक का सहयोगी बनाया गया। पहले पारद इस काम में आता था। आर्सनिक के साथ पारद के योगों को खाने को या मर्दन द्वारा दिया जाता था। विस्मथ को पारद की अपेक्षा उत्तम पाया गया। अतएव आर्सनिक के योगों के साथ साथ विस्मथ का प्रयोग भी स्वीकृत किया गया और उसके किसी उपयुक्त योग को आर्सनिक के साथ सिफ़िलिस के चिकित्सा-क्रम में मान्यता दी गई। अब यही चिकित्सा-पद्धति प्रचलित है कि सप्ताह में एक आर्सनिक के किसी योग का इंजेक्शन और एक विस्मथ योग का इंजेक्शन दिया जाता है। नियोसालवर्सन जिसको N. A. B. कहा जाता है सप्ताह में एक बार शिरा द्वारा प्रविष्ट किया जाता है और दो दिन पश्चात् विस्मथ के नीचे लिखे योग में से कोई योग अन्तर्पेशीय मार्ग द्वारा दिया जाता है।

१. **बिस्मथ सबसेलीसिलेट**—का १०% तैल में आलम्बन (Suspension) बना कर उसकी एक सी. सी. को नितम्ब के ऊपरी ओर बाहर के भाग में एक लम्बी दृढ़ सूचिका से नितम्ब पेशियों में गहरा प्रविष्ट किया जाता है। इसी योग का विशेषतया अधिक प्रयोग होता है। प्रवेश स्थान में यह एकत्र हो जाता है और वहाँ से धीरे-धीरे उसका शोषण होता रहता है।

२. **विस्मथ सोडियम थायोग्लाइकोलेट**—जल में घुल जाता है इसका शोषण शीघ्र होता है। इसकी मात्रा है ०·२ ग्राम जिसको घोल सप्ताह में तीन बार दिया जाता है।

विस्मथ पोटाशियमटार्टरेट के भी इन्जेक्शन दिये जाते हैं।

विषाक्तता का ध्यान रखना उचित है जो शरीर में विस्मथ के एकत्र होने से उत्पन्न हो सकते हैं। वृक्क की यह विशेष क्षोभक वस्तु है। मुंह से लार टपकना, मसूड़ों की सूजन, जिह्वा का शोथ तथा आमाशय की श्लेष्मल कला

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का शोथ जिसका जिह्वार्त्ति (glossitis) एक विशेष लक्षण है उत्पन्न हो सकते हैं। कुछ व्यक्तियों में त्वचा शोथ हो जाता है। मुंह गले के भीतर तथा त्वचा पर गहरे रंग के क्षेत्र बन जाते हैं। जी मिचलाना, अरुचि, सिर-दर्द आदि भी इसके लक्षण हैं।

लक्षण प्रगट होते ही विस्मथ का प्रयोग बन्द कर देना उचित है।

विस्मथ के अनघुलनशील योगों का आन्त्र शोथ, प्रवाहिका आदि में शोथ पर शामक प्रभाव के लिये मुंह द्वारा प्रयोग किया जाता है। विस्मथ सब-कार्बोनेट तथा विस्मथ सबनाइट्रेट ऐसे ही लवण हैं जिनको १ से २ ग्राम तक जल में मिलाकर प्रति दो दो घंटे पर दिया जाता है। ये योग जल में मिले रहते है, किन्तु घुलते नहीं। इस कारण आन्त्र की श्लेष्मलकण पर उनका एक हलका स्तर जम जाता है और व्रणों और शोथ का शमन करता है। न घुलने के कारण इनका शोषण नहीं होता और इस कारण विषाक्तता भी नहीं उत्पन्न होने पाती।

आयोडाइड का प्रयोग

सिफ़िलिस की तृतीयावस्था में सोडियम या पोटाशियम आयोडाइड का प्रयोग किया जाता है। इनकी जीवाणुओं पर कोई क्रिया नही होती। इनकी विशिष्ट क्रिया नवनिर्मित अन्तर ऊतक पर होती है जो अनेक स्थानों में बनने लगता है। इस कारण गमा को यह वस्तु घोल देती है। उनके विलीन होने में इससे सहायता मिलती है और तब श्वेताणु भी वहाँ पहुँच कर अपना कर्म करने में समर्थ होते है।

इस कारण रोग की तीसरी अवस्था में पोटाशियम आयोडाइड का आर्सनिक और विस्मथ के साथ प्रयोग करवाया जाता है। किन्तु इसकी मात्रा अधिक देनी चाहिये। २० से ४० या ६० ग्रेन तक दिन में तीन बार देने से पूर्ण लाभ होता है। जिनको यह सहन हो जाय उनको पूर्ण मात्रा में देना उचित है। कुछ व्यक्तियों को यह योग सहन नहीं होता। उनमें आयोडिज़्म (Iodism) की दशा उत्पन्न हो जाती है।

अन्य बहुत से रोगों में आयोडाइड का प्रयोग होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सिफ़िलिस की चिकित्सा में पेन्सिलीन का उपयोग

जब से पेन्सिलीन का आविष्कार हुआ सिफ़िलिस की चिकित्सा में क्रान्ति उत्पन्न हो गई। पेन्सिलीन एक उत्तम स्पाइरो कीट नाशक पदार्थ पाई गई। २४००००० मात्रक पेन्सिलीन के प्रयोग से रोगमुक्ति हो जाती है। अधिक से अधिक ४८००००० मात्रक से अधिक मात्रा का प्रयोग किसी भी अन्वेषण-कर्त्ता द्वारा आवश्यक नहीं पाया गया। अमरीकाकी नेशनल रिसर्च काउन्सिल की रतिज रोग (Venoreal diseases) सब कमेटी ने केवल २४००००० मात्रक को पर्याप्त माना है। पेन्सिलीन का प्रयोग सहज़ है। अन्य औषधियों की अपेक्षा सस्ता है। उसमें विषाक्तता नहीं होती। रोगी को अपने व्यवसाय को एक दिन भी छोड़ना आवश्यक नहीं है और न किसी प्रकार के उपद्रवों ही की संभावना रहती है।

चिकित्सा का निम्नलिखित क्रम निर्धारित किया गया है।

रोग की प्रथम और दूसरी अवस्था में—

१. जल में घुली हुई पेन्सिलीन के ५०००० मात्रक १·४ प्रति तीन तीन घण्टे पर, इंजेक्शन द्वारा दिन रात में आठ बार, आठ दिन तक दिये जांय। कुल मात्रा ३, २०००० मात्रक, या

२. प्रोकेन पेन्सिलीन (तेल में घुली हुई २% एल्यूमिनियम मोनोस्टियरेट सहित) के ६००००० मात्रक प्रति दूसरे दिन, ऐसे ६ इंजेक्शन, कुल ३६००००० मात्रक या

३. पेन्सिलीन (जल में घुली हुई) के ६००००० मात्रक प्रत्येक दिन (२४ घण्टे में एक बार) आठ दिन तक, कुल ४८००००० मात्रक।

तृतीय अवस्था में, हृदय या रक्त परिसंचारी तन्त्र के अन्य भागों, मस्तिष्क, नाडी तन्त्र तथा अन्य आभ्यन्तरिक अंगो के रोग में निम्नलिखित क्रम बताया गया है।

१. पेन्सिलीन (जल में घुली हुई) के १००००० मात्रक प्रति तीन घण्टे इंजेक्शन द्वारा, १२ दिन तक, कुल ३६००००० मात्रक या

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

२. प्रोकेन पेन्सिलीन (जल में घुली हुई) के ९००००० मात्रक, प्रति चौबीस घण्टे पर इंजेक्शन द्वारा, बारह दिन तक, कुल १०८००००० मात्रक; या

३. प्रोकेन पेन्सिलीन (तेल में घुली हुई) २% ऐलमूनियम स्टियरेट सहित) के ९००००० मात्रक प्रति दूसरे या तीसरे दिन, ऐसे १२ इंजेक्शन, कुल १०८००००० मात्रक।

रोग द्वारा आक्रान्त स्थान तथा रक्त में उपस्थित स्पाइरोकीटों के नाश के लिये यह आवश्यक है कि रोग की प्रथम और द्वितीय अवस्थाओं में आठ दिन तक और तृतीय अवस्था में १२ दिन तक रक्त में पेन्सिलीन की उपयुक्त मात्रा उपस्थित रहे। इसको रक्तस्तर या (Blood level) कहा जाता है। स्पाइरो कीटनाश के लिये तथा सब ही प्रकार के जीवाणुओं के नाश के लिये रक्त में कुछ दिन तक पेन्सिलीन की उपयुक्त मात्रा का निरन्तर बने रहना आवश्यक होता है जिससे वे कीट या जीवाणु निष्क्रिय हो जाते हैं। वास्तव में जीवाणुओं का नाश नहीं होता। पेन्सिलीन से उनकी विषोत्पादन और उत्पत्ति करके अपनी संख्या को बढ़ाने की शक्ति जाती रहती है। और तब रक्त की अन्य रक्षक शक्तियों, श्वेत कणिकाओं आदि उनको नष्ट कर देती हैं। इसी कारण ८ से बारह दिन तक बार-बार इंजेक्शन द्वारा पेन्सिलीन देना आवश्यक होता है। जल में घुली हुई पेन्सिलीन का शरीर से शीघ्र ही विशेषकर मूत्रद्वारा त्याग हो जाता है। चार-पाँच घंटे के पश्चात् वह रक्त में नहीं रहती। तेल में घुली हुई पेन्सिलीन इंजेक्शन द्वारा प्रविष्ट किये हुये स्थान पर एकत्र हो जाती है और उसका धीरे-धीरे शोषण होता रहता है। ऐल्यूमिनियम स्टियरेट मिला देने से शोषण और भी धीमा होता है जिससे पेन्सिलीन की उपयुक्त मात्रा रक्त में बहुत समय तक बनी रहती है। बनाने वाली कम्पनियों का कथन है कि उनके इस प्रकार के योगों से ९६ घंटे तक रक्त का पेन्सिलीन-स्तर घटने नहीं पाता।

पेन्सिलीन के समान अन्य जीवाणुद्वेषी (Antibiotics) इसी श्रेणी की वस्तु में एक्रोमाईसीन, टेरामाईसीन, औरोमाईसीन क्लोर-ऐम्फिनिकौल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आदि का भी सिफिलिस की चिकित्सा में प्रयोग किया गया है। ये वस्तुयें मुँह से खिलाई जाती है, उनको इंजेक्शन द्वारा नहीं दिया जाता।

इन वस्तुओं के प्रयोग से सन्तोषजनक परिणाम नहीं हुये हैं। उनकी मात्रा तथा उनका प्रयोग काल अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। उनका मूल्य भी अधिक होता है।

आजकल पेन्सिलीन ही सिफिलिस की विशिष्ठ और लोक प्रिय औषधि है। प्रति दिन या तीसरे दिन एक बार पेन्सिलीन का इंजेक्शन लेकर रोगी अपना व्यवसाय कर सकता है। मात्रा के अधिक होने से भी हानि की संभावना नहीं होती। और न रोगी को सिर दर्द या अस्वस्थता होती है जैसा धात्वीय योगों से कभी कभी हो जाता है।

पेन्सिलीन के जलीय योगों के इंजेक्शन बाहु में दिये जा सकते हैं। तेलीय योगों को नितम्ब की पेशियों में ही लम्बी और दृढ़ सूत्रिका द्वारा प्रविष्ठ करना उत्तम है। यहाँ से औषधि का उत्तम शोषण होता है और रोगी को कोई असुविधा नहीं होती।

कभी कभी ऐसे रोगी भी मिल जाते हैं जो पेन्सिलीन को सहन नहीं करते अथवा प्रोकेन के लिये जो पेन्सिलीन के उन योगों में मिली रहती है जिनको प्रोकेन-पेन्सिलीन कहा जाता है, विशेष असहिष्णुता या ऐलर्जी (Allergy) होती है। किन्हीं को तेल के प्रति होती है। इस कारण वे पेन्सिलीन के इंजेक्शन को सहन नहीं कर सकते। उनकी चिकित्सा आर्सनिक और विस्मथ द्वारा ही करनी पड़ती है।

पेन्सिलीन का अधिक वर्णन आगामी परिच्छेदों में किया जायगा।

२. संक्रमणनाशक योग

संक्रामक रोगों प्लेग, विशूचिका, टाइफाइड, प्रवाहिका तथा अन्य ऐसे बहुत से रोगों का कारण जीवाणु होते हैं जिनको प्रकृति के अत्यन्त सूक्ष्म रचनारहित जीव कहा जाता है, ये जीवाणु जो अपनी सूक्ष्मता के कारण दिखाई भी नहीं पड़ते, जिनका शरीर १/५०० से १/१००० इञ्च व्यास के बिन्दु से अधिक बड़ा नहीं होता वे भयंकर रोगों को उत्पन्न करके जीवन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का अन्त कर देते हैं। इनके द्वारा उत्पन्न रोग एक व्यक्ति से दूसरे को होते हैं और इस कारण वे संक्रामक रोग कहलाते हैं। वे औपसर्गिक रोग भी कहे जाते हैं। इन रोगों से प्रति वर्ष प्रत्येक देश में लाखों व्यक्तियों की जान जाया करती थी और अब भी बहुतेरे इनका ग्रास बनते हैं। कुछ ही समय पूर्व चिकित्सक इनके द्वारा उत्पन्न हुये रोगों से हताश होकर बैठ जाते थे। और रोग का अन्त ग्रस्त व्यक्ति की मृत्यु होता था। सन् १९२४ के लगभग अमरीका के प्रेसीडेण्ट कूलिज के पुत्र केल्विन कूलिज की एक ऐसे ही रोग से मृत्यु हो गई। सन् १९२६ में प्रेसीडेण्ट रूजवेल्ट का पुत्र फ्रैंक्लिन रूजवेल्ट उसी रोग से रोगमुक्त हो गया। कारण यह था कि इस बीच के काल में एक ऐसी औषधि का अन्वेषण हो चुका था जो इन जीवाणुओं की घोर प्रबल शत्रु थी जिसकी प्रचण्ड क्रोधाग्नि से जीवाणुओं की बड़ी बड़ी सेनाओं का नाश हो जाता था। यह सल्फ़ा औषधियाँ थी।

अ—सल्फ़ा औषधियों की खोज

इस खोज की कहानी भी बड़ी रोचक है। खोज किसी दूसरी वस्तु की हो रही थी। और कोई दूसरी वस्तु ही निकल आई जो असंख्य व्यक्तियों के प्राणों की रक्षक, मनुष्य मात्र के लिए दैवी देन प्रमाणित हुई। यही सल्फ़ा औषधि का वह रूप था जिसको सल्फेनिलैमाइड कहा जाता था। यह पदार्थ सन् १९०८ में मालूम हो चुका था। किन्तु इसकी जीवाणुद्रोही शक्ति और चिकित्सा में उसके उपयोग का अन्वेषण नहीं हुआ था। इस वस्तु को वियेना (Vienna) के एक गेल्मो (Gelmo) नामक रसायनज्ञ ने सन् १९०६ में बनाया था। गेल्मों रंगों की रासायनिक विद्या का विद्वान था। चिकित्सा सम्बन्धी अन्वेषणों से उसका कोई प्रयोजन नहीं था। सन् १९०८ में उसने इस विषय का लेख प्रकाशित किया और १९०८ से चिकित्सा सम्बन्धी इस योग के अन्वेषण प्रारम्भ हुए। किन्तु इस ओर कोई विशेष प्रयत्न नहीं हुआ।

श्री डौगमेक (Dogmek) एक रासायनज्ञ और साथ ही चिकित्साशास्त्रज्ञ भी था। और वह भी रंगों के रासायनिक संगठन तथा निर्माण विधियों का,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

और उनका रोगियों पर प्रभाव का भी अन्वेषण किया करता था। उसके पास बहुत से रंग अन्वेषण के लिए आया करते थे। उनमें से एक गहरा लाल रंग भी था जिसको प्रौन्टोसील का नाम दिया गया था। एक दिन डौगमेक की पुत्री ने अपने हाथ में सूई चुभा ली जिसके द्वारा स्ट्रिप्टोकोकस जीवाणुओं का प्रवेश हो गया और उसको रक्तपूतिता (Septicaemia) के लक्षण उत्पन्न हो गये। यह रोग असाध्य समझा जाता था। इसका परिणाम केवल मृत्यु थी। डौगमेक ने उसको प्रौन्टोसाल का चूर्ण खिलाया जिसने चमत्कार कर दिया, कन्या का ज्वर उतर गया। लक्षण सब शान्त होने लगे और थोड़े ही समय में उसने आरोग्य लाभ किया। यह अन्वेषण इतने महत्व का प्रमाणित हुआ कि डौगमेक को जिसका पूरा नाम जिर्हार्ड डौगमेक था नोबेल पुरस्कार मिला। यद्यपि प्रौन्टोसील पर प्रयोग १९३३–३५ से प्रारम्भ हो गये थे डौगमेक का इस सम्बन्ध में विशेष लेख १९३५ में प्रकाशित हुआ।

इसके पश्चात् इंग्लैण्ड, अमरीका, जर्मनी तथा अन्य देशों में भी अनेक विद्वानों ने अन्वेषण किये। प्रौन्टोसील के रासायनिक संगठन का अध्ययन किया गया। उसके अणु का कौन सा भाग जीवाणुनाश का काम करता है यह जानने का प्रयत्न किया जाने लगा। प्रौन्टोसील के अणु का एक भाग विशेषकर जीवाणुनाश में सक्रिय था। यह भाग रसायन विद्या के अनुसार पैरा-प्रमीनो-बैंजीन-सल्फोनेमाइड था (१९३७ ब्लिस और लौंग)। जिन रंगों के अणु में यह भाग नहीं था वे जीवाणुओं के नाश में अशक्त थे। इस ज्ञान के प्राप्त होने के पश्चात् अन्य ऐसे योगों को खोजने का प्रयत्न किया गया जिनमें यह अणु-भाग उपस्थित हो। इसी भाग को सल्फेनिलेमाइड (Sulfanilamide) कहा गया। जितनी भी अब सल्फ़ा औषधियाँ बनी हैं उनका यही आधार है। इसी के अणु की रचना में अणुओं का हेर-फेर करके नये-नये योग तैयार किये गये हैं। कहीं एक परमाणु को निकाला तो अन्य स्थान में एक परमाणु को जोड़ा, ऐसी ही रासायनिक क्रियाओं द्वारा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अब तक ५००० से अधिक सल्फ़ा योग बनाये जा चुके हैं और उनके प्रभाव का अध्ययन किया जा चुका है। इन अन्वेषणों में रासायनज्ञों का सदा उत्तम से उत्तम योग बनाने का प्रयत्न रहा है जिनका रोगोत्पादक जीवाणुओं पर तो प्रबल नाशकारी प्रभाव हो किन्तु उनको प्रयोग करने वाले मनुष्य या जन्तु को हानि न पहुँचे। प्रारम्भ में जो योग बने थे वे अधिक विषैले थे। उनसे प्रयोग करने वालों को हानि पहुँच जाती थी। कितने ही पशुओं की मृत्यु तक हो गई। मनुष्यों में मूत्रोत्सर्गी तन्त्र पर विशेष हानिकारक प्रभाव पाया गया। ऐसे प्रभावों को दूर करने के लिए नये-नये योग बनाये गये और अब ऐसे योग उपलब्ध हैं जिनकी प्रचुर मात्रा से भी ऐसे परिणाम नहीं होते। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे भोजन की भाँति बनाये जा सकते हैं। उनकी मात्रा निर्दिष्ट कर दी गई है। उस मात्रा के प्रयोग से अत्यल्प हानि की रिपोर्ट भी सहस्रों प्रयोगकर्त्ताओं में से किसी में मिल जाती है।

इन अन्वेषणों में जीवाणुनाशक योगों के अतिरिक्त अन्य भी कितने ही उपयोगी योग बन गये। डियामौक्स (Diamox) जो एक सल्फोनेमाइड ही है उत्तम मूत्रल औषधि प्रमाणित हुई और हृद्रोगों में शरीर से जल का त्याग कराने के लिये उसका उपयोग किया गया। इसी प्रकार की अन्य भी कितने ही योग बन गये जिनका यद्यपि जीवाणुओं पर कोई प्रभाव नहीं था किन्तु शरीर की अन्य कई ही दशाओं में उपयोगी थे।

ये सल्फोनेमाइड औषधियाँ कितने महत्व की और उपयोगी प्रमाणित हुई इसका अनुमान इससे किया जा सकता है कि सन् १९५२ में केवल अमरीका में ६२५०० मन सल्फा औषधियों का निर्माण किया गया। इंग्लैण्ड, रूस, जर्मनी, स्विटजरलैंड, नारवे, हालैण्ड आदि देशों में भी औषधि निर्माण विशेष उद्योग है। उन्होंने भी इन औषधियों का कम निर्माण नहीं किया।

विशेष प्रयुक्त होने वाले सल्फा योगों का इन पृष्ठों में वर्णन किया गया है। ये सब सल्फोनेमाइड ही से बनाये गये है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१. **सल्फेनिलेमाइड** (Sulphanilamide)—सन् १९३७ में कुलर महोदय ने यह प्रमाणित कर दिया था कि रक्त में पहुँचने पर प्रौन्टोसील सल्फेनिलेमाइड में परिवर्त्तित हो जाती है और इसी रूप में जीवाणुओं पर क्रिया करती है। यह वस्तु सन् १९०८ में बन चुकी थी और लगभग ५० नामों से बिकती थी। किन्तु वह रंगों का एक भाग थी और उन ही में प्रयुक्त होती थी। उसके जीवाणुनाशक प्रभाव का उस समय तक ज्ञान न था।

इस वस्तु के रंगरहित कण पाये जाते हैं जिनका स्वाद कुछ कड़ुवा होता है। अम्लीय माध्यमों की अपेक्षा यह सारीम माध्यमों में अधिक घुलनशील है। इस कारण आन्त्र की श्लेष्मिककला से इसका पूर्ण शोषण होता है जहाँ से वह अस्थि, वसा और मस्तिष्क के अतिरिक्त शरीर के सब भागों में पहुंच जाती है। जीवाणुओं पर इसकी प्रबल नाशक क्रिया होती है। किन्तु बहुत से रोगियों पर इसके हानिकारक प्रभाव के रिपोर्ट मिले हैं। मूत्र-न्यूनता का यह कारण पाया गया कि इस वस्तु के कणों ने मूत्र से पृथक होकर वृक्क की अनुप्रणालिकाओं (Tulentro) में एकत्र होकर उनका मार्ग बन्द कर दिया जिससे मूत्र प्रवाह बन्द हो गया। इसके अतिरिक्त वमन, जी मिचलाना, रक्त (श्वेत) कणिकाओं का नाश, वर्ण का नीला हो जाना (मैरहीमोग्लोबीनीमिया के कारण) आदि लक्षण भी पाये गये। अतएव ऐसे योग की खोज प्रारम्भ हुई जिससे ये विषैले लक्षण न उत्पन्न हों।

२. **सल्फापायरिडीन** (Sulphapyridine)—सन् १९३८ में ईविन्स और फिलिप्स ने इस योग को पहली बार तैयार किया। यह सल्फेनिलेमाइड की अपेक्षा कम विषैला था। किन्तु इसका शरीर में शोषण इतना उत्तम न होता था। इसका शरीर से त्याग भी शीघ्र नहीं होता था जिससे अंगों में, विशेषकर वृत्त में एकत्र होकर हानि पहुँचने की संभावना थी। निमोनियाँ में यह पूर्व के योगों से अधिक क्रियाशील था। यही M. B. ६९३ के नाम से विख्यात था। इसकी टिकिया पंसारी और पनवाड़ियों के पास भी रहती थीं जिनसे गौनोरिया के रोगी स्वयं ही उनको लेकर प्रयोग करते थे। इस रोग के रोगियों के लिये यह घरेलू औषधि सी हो गई थी।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अतएव इसका बुरा परिणाम भी होना अवश्यम्भावी था। मूत्रन्यूनता और किसी-किसी में मूत्रकृच्छ्र और मूत्रावरोध तक हो गया। सबसे भयंकर रक्त में कणयुक्त श्वेत कणिकाओं का कम या अनुपस्थित (Agranulocytosis) हो जाना था जिससे मृत्यु तक हो जाती थी।

अब इसका प्रयोग बहुत कम हो गया है। इसका विशेष उपयोग एक प्रकार के चर्मरोग में होता है जिसको Dermatitis herpetiformis कहते हैं। इस रोग में ०·५ से १·० ग्राम प्रतिदिन खिलाने से लाभ होता है। इसकी किस प्रकार क्रिया होती है यह कहना सम्भव नहीं है। किन्तु उसकी जीवाणुमारक क्रिया नहीं होती। यह मात्रा भी इतनी थोड़ी है कि उसमें किसी अवांछित फल होने की संभावना नहीं है।

३. **सल्फाथियाज़ोल** (Shlphthiazole)—सन् १९३९ में इस योग को फौस्बाइन्डर और वाल्टर तथा लौट और बर्गीम ने पृथक-पृथक बनाया। यह पूर्व के दोनों योगों से कम विषैला था। अतएव इसके उपलब्ध होने पर उन दोनों योगों का उपयोग बन्द सा हो गया। किन्तु आठ दस वर्ष ही में इसका भी वही हाल हुआ। इसके विषैले प्रभाव के भी बहुत से प्रमाण जुट गये।

४. **सल्फासिटेमाइड** (Sulphacitamide)—यह उपर्युक्त तीनों योगों में कम विषैला है। यह जल में घुलनशील भी अधिक है जिससे उसके वृक्क में एकत्र होकर अश्मरी उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती। वह स्थानिक क्षोभ भी नहीं उत्पन्न करता। इस कारण मूत्रोत्सर्गी तन्त्र के संक्रामक रोगों में उसका प्रयोग किया जा सकता है तथा श्लेष्मलकला पर उसका लेपन भी सम्भव है। सोडियम सल्फासिटेमाइड का ३० प्रतिशत का घोल नेत्रों में डाला जाता है।

इसको पहली बार सन् १९२८ में जर्मनी में डौर्न (Dohrn) और डीड्रिख (Diedrich) ने और क्रौसले और उसके साथियों ने अमरीका में बनाया था।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

५. सल्फाडियाज़ीन (Shlfadiazine)

यह योग सन् १९४० में रौब्लिन द्वारा बनाया गया था। यह सल्फ़ानिलेमाइड, थियाज़ोल या पाइरिडीन योग से कम विषैला है किन्तु जल में कम घुलन शील है। इस कारण इसको प्रयोग करवाते समय अधिक जल पीने का रोगी को आदेश दिया जाता है। इसका प्रवेश शरीर के सब ही ऊतकों में पूर्णरूप से होता है किन्तु समय अधिक लगता है, ४ से २४ घंटे तक लग जाते हैं। इसका शरीर से मूत्र द्वारा त्याग भी शीघ्र होता है। इस कारण पर्याप्त समय तक इसकी उपयुक्त मात्रा का रक्त में उपस्थित बने रहना आवश्यक है। इस प्रयोजन से इसको अधिक मात्रा में प्रयोग करवाया जाता है।

६. सल्फामेराज़ीन (Shlfamerazine)

इसको भी १९४० में रौब्लिन और उसके सहयोगियों ने बनाया था। यह योग कई बातों में सल्फ़ाडियाज़ीन से उत्तम है यद्यपि विषाक्तता उसी के समान है। इसका शोषण शीघ्र होता है। रक्त में उसकी मात्रा उपयुक्त स्तर पर पहुँचने में कम समय लगता है। उसका शोषण भी डियाज़ीन की अपेक्षा अधिक पूर्ण होता है और शरीर से त्याग भी इतना शीघ्र नहीं होता। इन गुणों के कारण इस योग की थोड़ी मात्रा ही से वांछित प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। मस्तिष्क मेरु द्रव (Cerebrospinal Fluid) में भी यह योग पहुँच जाता है यद्यपि इसकी मात्रा रक्त की अपेक्षा आधी होती है। इसका त्याग भी मूत्र द्वारा होता है। किन्तु वृक्क में एकत्र होकर अश्मरी बनने की संभावना नहीं होती।

७. सल्फाडाइमिडीन (Sulphamethazine)

यह योग सल्फामेराज़ीन के समान है। किन्तु उससे अधिक घुलनशील है और आन्त्र से उसका शोषण भी शीघ्र ही होता है। सल्फ़ामेराज़ीन की भाँति यह भी मस्तिष्क मेरुद्रव में रक्त से ५० प्रतिशत मात्रा में पहुँच जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस योग को सन् १९४३ में हारवर्थ और रोज़ ने बनाया था।

८. सल्फासोमेडिन, ऐल्कोसीन (Sulpha somadine, Elkosin)

इसका अन्वेषण सन् १९४४ में हुआ था। इसमें विषाक्तता बहुत कम पाई गई। इसका शोषण भी पूर्ण और द्रुत गति से होता है। इसकी थोड़ी ही मात्रा से रक्त में इसका वांछित स्तर पहुँच जाता है। इसका आन्त्र से शोषण भी शीघ्र होता है और मूत्र द्वारा त्याग भी शीघ्र होता है। मूत्रमार्ग के रोगों में इसको विशेष उपयोगी पाया गया है।

९. सल्फासोक्सेजोल गैन्ट्रिसीन (Sulfisoxazole)

यह गैन्ट्रिसीन नाम से बहुत प्रसिद्ध है। १९४७ में इसको ब्येस्ट और होफर ने बनाया था। यह सल्फामेराज़ीन अथवा मेथाज़ीन की अपेक्षा अधिक घुलनशील है। इस कारण मूत्र मार्ग के रोगों में इसका विशेष प्रयोग होता है। इसके तीन रूप उपलब्ध हैं, (१) ऐसिटिलगैन्ट्रोसीन, (२) लाइपो गैन्ट्रिसीन और (३) एजो गैन्ट्रिसीन।

१०. सल्फामायलोन, मर्फ़ानिल, मेसुडिन (Sulpamylon, Murfanil)

इसका प्रचलित नाम मर्फ़ानिल है। इसकी विशेषता यह है कि वह अवायवीय जीवाणु (Anarobic Bacteria) पर क्रिया करता है जो कोई अन्य सल्फा औषधि नहीं करती। इस कारण जर्मनी में महायुद्ध के दिनों में सेना में सैनिकों को कोथ (gangrene) से रक्षा करने के लिये इसका बहुत प्रयोग हुआ था।

११. सल्फामिथोक्सीपायीरडीजीन और सल्फाइथाइलथियाडियाजोल

पहला सल्फ़ेनिलेमाइड का एक रूप है जिसकी २४ घंटे में केवल २ ग्राम की एक मात्रा देने से रक्त में उपयुक्त स्तर उत्पन्न हो जाता है। १० से १२ दिन पश्चात् तक मूत्र में उसका कुछ अंश पाया जाता है। इसका शोषण भी अति शीघ्र होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दूसरा सल्फ़ाथियोज़ोल का परिवर्त्तित रूप है। इस में उपर्युक्त योग के सब गुण बताये जाते हैं।

सल्फा औषधियाँ जिनका आन्त्र से अपूर्ण शोषण होता है।

१. सल्फा गुऐनेडीन (Sulphaguanadine)

यह योग यद्यपि जल में कुछ घुलनशील है किन्तु आन्त्र की श्लेष्मल कला द्वारा उसका शोषण नहीं होता। इस कारण उसकी रक्त में उपस्थित मात्रा का प्रश्न ही नहीं उठता। औषधि का घोल आन्त्र ही में रह जाता है और वहाँ पर उपस्थित जीवाणुओं को अकर्मण्य कर देता है। उनकी वृद्धि और विभाजन द्वारा उनकी संख्या वृद्धि दोनों ही रुक जाते हैं। अतएव उनकी सब क्रियायें शिथिल हो जाती हैं। कुछ समय में जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। कुछ व्यक्तियों में विषाक्तता के लक्षण पाये गये हैं।

२. सक्सिनिल सल्फाथियाजोल (Succinyl Sulphathiazole)

इसका शोषण पूर्व योग से भी कम नही के समान होता है। अतएव इसकी क्रिया भी उपयुक्त योग ही के समान स्थानिक होती है। प्रवाहिका, अतिसार आदि के जीवाणुओं के नाश के लिए इसका उपयोग होता है। प्रवाहिका के वाहक व्यक्तियों को जीवाणुमुक्त करने में यह औषधि उपयोगी प्रमाणित हुई है। इससे कोई विषैले लक्षण नहीं उत्पन्न होते।

३. थैलिल सल्फाथियाजोल
(Sulphathaladine, Pthalylsulphathiazole)

इसकी क्रिया भी केवल स्थानिक है और आन्त्र में उपस्थित जीवाणुओं की संख्या घटाने वाली है। इस कारण आन्त्र के शस्त्रकर्मों को करने से पूर्व कितने ही दिन तक इसका प्रयोग करवाया जाता है जिससे आन्त्र जहाँ तक हो सके जीवाणुओं से मुक्त हो जायँ। इसके प्रयोग से मल की दशा परिवर्तित हो जाती है। वे गन्धरहित हो जाते हैं। अमीबिक प्रवाहिका, जियार्डिया संक्रमण तथा आन्त्रिक ज्वरों में इसका प्रयोग होता है जिससे जीवाणु

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

श्लैष्मिककला को जो पहिले ही क्षत दशा में है अधिक आक्रान्त न कर सकें या नये जीवाणु वहाँ के व्रणों द्वारा प्रवेश न करने पावे। वृहदान्त्र के व्रणयुक्त शोथ (Ulcerative Colitis) में भी उसको उपयोगी पाया गया है।

४. थैलिल सल्फासिटेमाइड
(Pthalylsulphacetamide Talsutin)

उपर्युक्त योगों की भाँति इसका भी रक्त में शोषण नहीं होता और इस कारण क्रिया स्थानिक ही होती है। किन्तु इसमें विशेषता यह है कि सारे आन्त्र की भित्तियों में यह फैल जाता है, उनमें संचरित हो जाता है और इस कारण भित्तियों में उपस्थित जीवाणुओं का नाश करता है। अतएव आन्त्रिक ज्वरों में, आन्त्र के व्रणों में, आन्त्र के शस्त्रकर्मों के पूर्व तथा पश्चात् तथा उदर के अन्य शस्त्र कर्मों में भी इसको अत्यन्त उपयोगी पाया गया है।

सल्फा योगों का शरीर में शोषण तथा क्रिया

अवशोषण—

जैसा गत पृष्ठों में कह आये हैं उपयुक्त चार योगों के अतिरिक्त शेष योगों (सल्फोनेमाइड समूह) का अवशोषण क्षुद्र आन्त्र से सम्पूर्ण होता है। सल्फ़ाडाइजीन, मेराजीन, मेजाथीन सबों का पूर्ण अवशोषण ४ से २४ घण्टे में हो जाता है। उग्र रोगों में एक सामान्य युवा व्यक्ति को २ ग्राम (४ टिकिया) की प्रथम मात्रा दी जाती है। यह ४ घण्टे के भीतर रक्त में पहुँच कर रक्त के प्रति १०० सी० सी० में २ मि० ग्राम उपस्थित हो जाती है। ५ से १० मिली ग्राम को उच्चतम सान्द्रता (Concentration) माना जाता है। २४ घण्टे में उसका शरीर से पूर्ण त्याग भी हो जाता है। इस कारण प्रति चार या ६ घण्टे पर औषधि पुनः-पुनः देनी होती है। जल में घुलनशीलता से आन्त्र द्वारा उसके अवशोषण पर कुछ प्रभाव नहीं होता। थैलिल सल्फाथियाजोल पूर्णतया घुलनशील होने पर भी उसका शोषण नहीं होता। सल्फाडियाजीन अधूरा घुलने पर भी उसका पूर्ण शोषण होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अन्य योगों का भी इसी गति से शोषण होता है। यद्यपि भिन्न-भिन्न योगों के शोषण की गति में कुछ भिन्नता पाई जा सकती है। जब सल्फेनिलेमाइड का स्थानिक प्रयोग किया जाता है, उसको घावों में चूर्ण के रूप में भर दिया जाता है तो वह धीरे-धीरे घुल कर रक्त में पहुँच कर वहाँ अपनी मात्रा अर्थात् सान्द्रता को बनाये रखता है जिससे बहुत काल तक जीवाणुओं पर क्रिया होती रहती है।

रक्त और शारीरिक स्रावों में ओषधि की उपस्थिति—

रोगी की चिकित्सा में औषधि की रक्त में उपस्थित मात्रा बहुत महत्व की है। यह मात्रा इतनी होनी चाहिये कि उसका रोगोत्पादक जीवाणुओं पर प्रभाव पड़े। ऊपर कहा गया है कि २ ग्राम की मात्रा खाने से ४ घण्टे के भीतर रक्त के प्रत्येक १०० सी० सी० में औषधि या सल्फोनेमाइड के २ से ५ मिली ग्राम पहुँच जाते हैं। इस मात्रा का जीवाणुओं पर प्रभाव पड़ता है। अधिक औषधि देने से रक्त की मात्रा ५–१० मि० ग्राम प्रति १०० सी० सी० हो जाती है। जीवाणुओं को अकर्मण्य करने के लिए यह मात्रा पूर्णतया पर्याप्त है। रक्त में औषधि का कुछ भाग लाल कणिकाओं से संयुक्त हो जाता है और शेष रक्त की प्लाविका के प्रोटीनों के साथ संयुक्त हो होता है जिसकी मात्रा अधिक होती है। यहाँ से सल्फोनेमाइड शरीर के अन्य भागों में पहुँच जाता है। किन्तु वहाँ उसकी मात्रा कम होती है। इस प्रकार ओषधि स्वेद, मुँह का लालारस, अश्रु, प्लूरा गुहा में उपस्थित द्रव, जलोदर के द्रव, सन्धि के स्नैहिक द्रव (Synovial fluid), मस्तिष्क मेरु द्रव तथा अन्य स्रावों में पहुँच जाती है। किन्तु इन द्रवों में उसकी मात्रा रक्त में उपस्थित मात्रा की आधी, किसी में कुछ कम, किसी में कुछ अधिक होती है।

शरीर से त्याग—

सल्फोनेमाइड के योगों का त्याग रक्त और स्वेद द्वारा होता है। एक बार दी हुई मात्रा का, फिर से मात्रा न देने पर, २४ घण्टे में पूर्ण त्याग हो

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जाता है। अधिकतर योगों में अपने कणों या त्रिसूलों को वृक्क की अनु-नलिकाओं में एकत्र कर देने की प्रवृत्ति होती है जिससे नलिकाओं के मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं और मूत्र त्याग कम या बन्द हो जाता है। अश्मरी तक बन जाती हैं। जल की अधिकता और क्षारीय माध्यम होने पर ऐसा नहीं होता। इस कारण सल्फा के प्रयोग काल में सोडा बाईकार्ब के साथ अधिक जल पीने का रोगी को आदेश दिया जाता है।

सल्फोनेमाइड योगों की जीवाणुस्तंभक क्रिया

इन सल्फोनेमाइड समूह के योगों की क्रिया का अन्वेषण अनेक जन्तुओं पर प्रयोगों के द्वारा किया गया। स्ट्रिप्टोकोकाई को पोषक माध्यमों में मिला कर उनका प्रयोगशालाओं में सवर्धन (Culture) किया गया। इनमें से कुछ को जल में उचित प्रकार से घोलकर उस घोल का कुछ भाग इञ्जेक्शन द्वारा चूहों के दो समूहों के शरीर में प्रविष्ठ किया गया। तब एक समूह के चूहों के शरीर में सल्फा योग का घोल बनाकर उसको प्रविष्ट किया। दूसरे समूह में नहीं किया। यह समूह 'तुलना समूह' (Control group) कहलाता है। दो तीन दिन में इस समूह के चूहे जिनको सल्फा नहीं मिला था मरने लगे और शीघ्र ही सब मर गये। दूसरे समूह के चूहे जिनको सल्फ़ मिला था वे रोगमुक्त रहे। इसी प्रकार के अनेक प्रयोग किये गये। संवर्धित वस्तु (जीवाणु) में इतना जल मिलाया कि एक सी० सी० घोल में केवल ५ जीवाणु रह गये। इसके एक सी० सी० घोल को उदर गुहा में प्रविष्ठ करने से भी रोग उत्पन्न होकर चूहों की ३ या ४ दिन में मृत्यु हो जाती है। किन्तु चूहों को तीन या ४ दिन तक मुँह से सल्फा खिलाने से वे नहीं मरते।

इस प्रकार जीवाणुज रोगों को रोकने या उनके नाश करने के प्रभाव के प्रमाणित होने पर यह प्रश्न उठा कि ये क्रिया किस प्रकार हुई। सल्फा की इस क्रिया का क्या कारण है, उसकी क्या विधि है? औषधियों की क्रिया की कोई न कोई विधि होती है। वे जिस स्थान पर क्रिया करती है वहाँ

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

की कोशिकाओं की जीवन-क्रियाओं में कुछ ऐसा परिवर्त्तन कर देती हैं कि कोशिका को अपनी जीवन-क्रिया के लिए आवश्यक पदार्थ नहीं मिल पाते। हमको जीवन के लिये वायु की आवश्यकता होती है, जल आवश्यक है, भोजन आवश्यक है। इनके बिना हम बहुत समय तक जीवित नहीं रह सकते। इसी प्रकार प्रत्येक कोशिका को अपने चयापचय के लिए कुछ वस्तुओं की आवश्यकता होती है जिनको उनका Metabolite कहते हैं। उनके बिना उनको जीवन-सामग्री न मिलने से उनकी मृत्यु हो जाती है। सबसे पहिले प्रोफेसर अर्हलिख ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि प्रत्येक कोशिका का एक एन्जाइम-क्रम (Enzyme system) होता है जो उसको आवश्यक पोषण या द्रव उपलब्ध कराता है। उनकी कोशिका की रचना की ऐसी कल्पना थी जैसे कितने ही टाइलों (Tiles जिनको जोड़कर फ़र्श बनाये जाते हैं) को जोड़कर किसी पदार्थ को बनाया जाय। यदि उनमें से एक टाइल को भी हटा दिया जाय तो वह पदार्थ नहीं बनता, उसका आकार ही विच्छिन्न हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक कोशिका इन्जाइम रूपी टाइलों से जड़ी हुई है जो उसके जीवन के लिए आवश्यक हैं। यदि इनमें से किसी इन्जाइम को हटा दिया जाय तो वह कोशिका के लिए घातक सिद्ध होगा। औषधियों की क्रिया इसी प्रकार होती है। उनका एक ऐसा अणु जिसकी रचना कोशिका की किसी इन्जाइम के समान है, वह उस इन्जाइम के अणु को हटाकर उसके स्थान में स्वयं जाकर बैठ जाता है। कोशिका को धोखा देकर स्वयं कोशिका से संयुक्त हो जाता है। कोशिका भोज्य चाहती थी, उसको पत्थर का टुकड़ा मिल जाता है जिसका आकार भोज्य के समान है। इससे कोशिका का जीवन क्रम ही अस्त-व्यस्त हो जाता है। किन्तु इस पत्थर के टुकड़े का रूप वैसा ही होना चाहिये जैसा भोज्य का था। औषधि के अणु की रचना कोशिका के इन्जाइम की रचना के समान हो। यही कारण है कि कुछ औषधियाँ प्रभाव करती हैं, कुछ नहीं करतीं। जिनके अणु जीवाणु की कोशिका के इन्जाइम के समान होने

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

से इन्जाइम के अणु को हटा कर स्वयं उसके स्थान में बैठ सकते हैं वे औषधियाँ जीवाणु पर क्रिया करती हैं, अन्य नहीं करतीं। सल्फा भी जीवाणु पर इसी प्रकार क्रिया करते हैं।

भिन्न भिन्न योगों के अणुवों की रचना

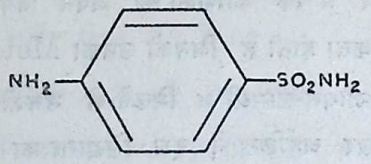

चित्र १ सल्फेनिलेमाइड

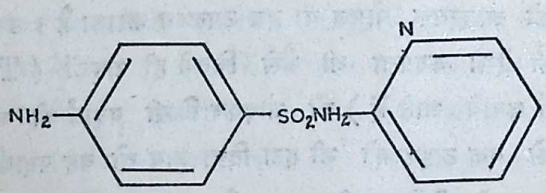

चित्र २ सल्फाडियाजीन

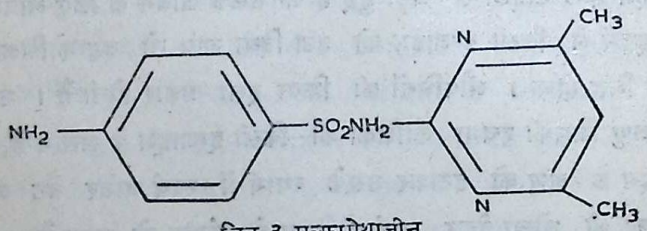

चित्र ३ सल्फामेथाजीन

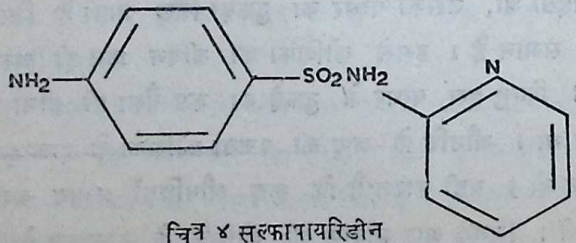

चित्र ४ सल्फापायरिडीन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस क्रिया का क्या रूप होता है ? सल्फ़ा जीवाणुओं को नष्ट कर देते हैं, या उनको अशक्त करके रक्त की श्वेत कणिकाओं तथा अन्य शारीरिक

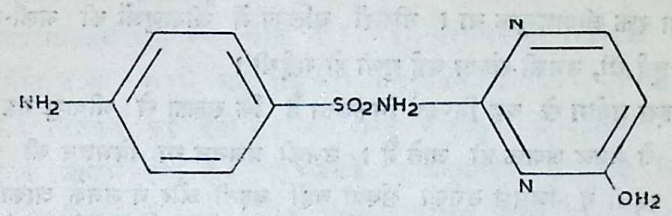

चित्र ५ सल्फ़ामेराज़ोन

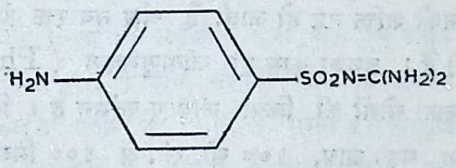

चित्र ६ सल्फ़ागुवानिडीन

शक्तियों को नाश करने के लिये छोड़ देते हैं ? अन्वेषणों द्वारा इन प्रश्नों को भी हल किया गया। यह पाया गया कि रक्त में सल्फ़ा की ५-१० मिलीग्राम प्रति १०० सी. सी (रक्त की) मात्रा से रोग जाता रहता है, रोगी रोग-मुक्त हो जाता है। थोड़े ऐसे रक्त को, जिसमें सल्फ़ा का इतना सान्द्रण हो चुका था, रोगी के शरीर से निकाल कर उसके दो भाग करके दो परीक्षा नलिकाओं में भर दिया गया। एक परीक्षानलिका के रक्त से श्वेत कणिकाओं को पृथक् कर दिया गया, केवल लाल कणिका युक्त प्लाविका रह गई। दूसरी नलिका में सम्पूर्ण रक्त रहा जिसमें श्वेत कणिकाएँ भी थीं। दोनों के द्रवों में १० मिलीग्राम प्रति १०० सी. सी. रक्त उपस्थित था। तीसरी नलिका में बिना सल्फ़ा-युक्त किन्तु श्वेत कणिका-रहित रक्त था। तीनों नलिकाओं में स्ट्रिप्टोकोकस के सवंर्धित द्रव की जिसमें उन जीवाणुओं की संख्या मालूम कर ली गई थी, समान मात्रा मिलाई गई। दो या तीन घंटे तक उचित ताप पर रखकर नलिकाओं के रक्त की परीक्षा की गई। प्रथम नलिका में, जिसके रक्त से श्वेताणु निकाल दिये गये थे, उसमें जीवाणु की उतनी ही

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संख्या मिली जितनी मिलाई गई थी। किन्तु जीवाणुओं के आकार या संख्या किसी की वृद्धि नहीं हुई थी। दूसरी नलिका में जीवाणु नष्ट हो चुके थे। उसका रक्त जीवाणुमुक्त था। तीसरी नलिका में जीवाणुओं की भली-भाँति वृद्धि हुई थी, उनकी संख्या कई गुणा हो गई थी।

इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकलता है कि सल्फ़ा से जीवाणु नष्ट नहीं होते, वे केवल अशक्त हो जाते हैं। उनकी प्रजनन या विभजन की शक्ति जाती रहती है जिससे उनकी संख्या नहीं बढ़ती और न उनके आकार की ही वृद्धि होती है। किन्तु उनका नाश नहीं होता। वे केवल अकर्मण्य से हो जाते हैं, उनकी शक्ति नष्ट हो जाती है और तब रक्त की श्वेत कणिकायें उनको खा जाती हैं। इनका काम ही जीवाणुभक्षण (Phagocytosis) है। अतएव सल्फ़ा योगों की क्रिया जीवाणु स्तंभन है। किन्तु यदि रक्त में सल्फ़ा की मात्रा बढ़ जाय, १०० सी. सी. में १०० मिली ग्राम हो जाय तो उससे श्वेत कणिकाओं की यह क्रिया भी कम हो जाती है। साधारण चिकित्सोपयोगी मात्रा से यह क्रिया बढ़ती है।

सल्फा की क्रिया को घटाने वाली वस्तुएँ—

प्रायः एक ही परिवार के सदस्यों में प्रतिद्वन्दी भी उत्पन्न हो जाते हैं। भाई भाई का परम मित्र होता है, किन्तु कभी घोर शत्रु भी हो जाता है। यही दशा रासायनिक योगों में भी है। पैरा-एमीनो-बैन्ज़ीन या बैन्ज़ीन-

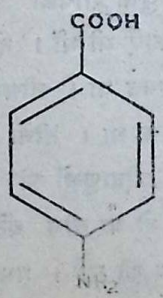

चित्र ७ पैराअमीनो बैंजाइंक अम्ल

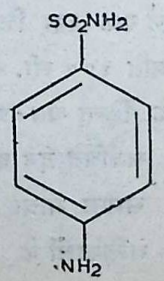

चित्र ८ सल्फ़ानिलेमाइड

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अम्ल (PAB) और सल्फ़ोनेमाइड दोनों के अणु की रचना बहुत कुछ समान है। केवल एक अणु के अन्तर से पैरा-एमीनो-बैन्ज़ोइक अम्ल से सल्फ़ोनेमाइड अणु बन जाता है। यही पैरा-एमीनो-बैन्ज़ोइक अम्ल सल्फोनेमाइड का सबसे बड़ा शत्रु है। यह अपने से १६०० गुणा सल्फ़ा-योग को निष्क्रिय कर देता है। यह वस्तु जीवाणुओं के जीवन के लिये आवश्यक मालूम होती है। यह उनके इन्जाइम-क्रम की एक विशिष्ट शृङ्खला है जिसको वे स्वयं पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न करते हैं। यह उनके चयापचय का एक साधक (metabolite) है। स्वयं जीवाणुओं का सत्त्व, यीस्ट (खमीर), शरीरके ऊतकों के सत्त्व, गले हुए ऊतक, पूय, फ़ौलिक अम्ल, स्थानिक संज्ञाहारी ये सब वस्तुएँ सल्फ़ा के प्रभाव को नष्ट करने वाली हैं। इस कारण सल्फ़ा के प्रयोग के समय इन वस्तुओं को रोगी को न देना चाहिये। इन सबों के अणु में बैन्जीन-परमाणु उपस्थित हैं। यह प्रमाणित हो चुका है कि सल्फ़ा के प्रभाव को घटाने या नाश करने वाला पैरा-एमीनो-बैन्ज़ोइक एसिड ही है जो एमाइड-वलय (amide ring) के प्राप्त होने से स्वयं शरीर बना लेता है।

कितने ही जीवाणु सल्फ़ा के कुछ दिन प्रयोग के पश्चात् सल्फ़ा का विरोध करने की विशेष सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं मानों उनके शरीर पर सल्फ़ा द्वारा एक अभेद्य कवच चढ़ा दिया जाता है। जिन जीवाणुओं पर पहले सल्फ़ा की भली प्रकार क्रिया होती थी उन पर सल्फ़ा का प्रभाव होना बन्द हो जाता है। गोनोरिया (Gonorrhoea) जिसको साधारणतया सूज़ाक कहा जाता है, गोनोकोकस जीवाणु के कारण उत्पन्न होता है। इसके लिये सल्फ़ा सांघातिक प्रमाणित हुआ था। इस ही कारण M. B. 693 इतनी लोकप्रिय औषधि हो गई थी कि प्रत्येक पंसारी उस को बेचने लगा था। इससे प्रयोग-कर्त्ताओं को बड़ी सुविधा हो गयी थी। डाक्टर की सलाह लिए बिना ही वे चुपके से पंसारी से टिकियाँ ले लेते थे और प्रयोग करते थे।

किन्तु कुछ ही वर्षों के पश्चात् सल्फ़ा का वैसा प्रभाव होना बन्द हो

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गया। रोग-ग्रस्त व्यक्तियों की संख्या में विशेष वृद्धि हो गई, मानो सल्फ़ा की शक्ति क्षीण हो गई हो जैसे कलिकाल में धर्म का तेज क्षीण हो जाता है। किन्तु बात यह नहीं थी। वास्तविकता यह थी कि जीवाणुओं ने पैरा-ऐमीनो-बैन्ज़ोइक-एसिड को अधिक मात्रा में बनाना प्रारम्भ कर दिया था। अथवा जीवाणुओं के ऐसे रूप उत्पन्न होने लगे थे जिनमें अधिक पैरा-एमीनो-बैन्ज़ीन बनाने की शक्ति थी। ये जीवाणु इस बात में अपने पितृ-गणों से भिन्न थे यद्यपि उनका आकार आदि पितृ-गणों के समान ही था। ऐसे रूप Mutants कहलाते हैं। प्रकृति में ऐसा बहुत होता है। कीट तथा अन्य निम्नश्रेणी के जीवों में प्रतिकूल परिस्थियों में ऐसे रूपान्तर उत्पन्न हो जाते हैं जो विशेषतया उन परिस्थितियों का सामना कर सकें। जब से डी. डी. टी नामक कीटनाशक औषधि का प्रयोग होने लगा है तब से ऐसे मच्छर उत्पन्न हो गये हैं जो डी. डी. टी को सहन कर लेते हैं। उससे नहीं मरते। ऐसी दशा में औषधियों में भी परिवर्त्तन करना होता है। नई औषधियों का प्रयोग आवश्यक होता है। इन जीवाणुओं के लिये पैन्सिलीन ऐसी ही औषधि है। जिन पर सल्फ़ा की क्रिया नहीं होती उन पर पैन्सिलीन का अमोघ अस्त्र चलाया जाता है। इस औषधि का अगले परिच्छेद में वर्णन किया जायगा।

कुछ जीवाणुओं में सल्फ़ा के प्रतिरोध की शक्ति विशेषकर उत्पन्न हो जाती है जिनमें गोनोकोकस मुख्य है। स्ट्रिप्टोकोकस और स्टेफ़िलोकोकस भी इस शक्ति से कुछ सीमा तक सम्पन्न हैं। किन्तु मस्तिष्कावरण शोथ (मैनिन्जाइटिस) को उत्पन्न करने वाले मैनिंगोकोकस जीवाणु में यह शक्ति नहीं है। वह रूपान्तर नहीं बनाता और सीधे से सल्फ़ा के सामने सर झुका देता है। इस कारण जब सल्फ़ायोगों का उपयोग करना हो तो उनको पूर्ण मात्रा में देना चाहिये जिससे उनका एक बार ही पूर्ण प्रभाव हो। और न बहुत समय तक ही उपयोग करवाया जाय। प्रतिरोधक रूपान्तर दीर्घकाल के प्रयोग ही से उत्पन्न होते हैं।

मारफ़ानिल, जिसको मैफ़िनाइड (Maphenide) भी कहते हैं अन्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सल्फ़ा योगों से भिन्न है। उसकी क्रिया की विधि भी और ही है। उसकी क्रिया पैरा-एमीनो-बैन्ज़ोइक अम्ल से प्रभावित नहीं होती। किन्तु उसका शरीर से त्याग भी अत्यन्त शीघ्रता से होता है। इस कारण उसको खिलाने से कोई लाभ नहीं होता। हाँ स्थानिक प्रयोग के लिये वह अत्युत्तम योग है।

सल्फ़ायोगों का चिकित्सा में उपयोग

गत पृष्ठों में जो कुछ बताया गया है उससे स्पष्ट है कि सल्फ़ा औषधियों ने चिकित्सा में क्रान्ति सी पैदा कर दी। अनेक जीवाणुजन्य रोगों में इनकी अचूक क्रिया से रोगी रोग-मुक्त होने लगे। जहाँ पहले रोग से बचने की आशा ही नहीं की जाती थी वहाँ अब रोगमुक्ति निश्चित थी। रक्त-द्रावक स्ट्रिप्टोकोकस (Haemolytic streptococcii) के लिये सल्फा योग विशेषकर संघातक सिद्ध हुए। इस कारण प्रसूति-ज्वर में इन योगों को विशेषकर लाभकारी पाया गया। प्रसव के पश्चात् उपर्युक्त जीवाणु के संक्रमण से प्रसूतिज्वर साधारण सी बात थी और प्रत्येक चार रोगियों में से एक की मृत्यु होती थी। सल्फा के प्रयोग से मृत्यु संख्या चौथाई से भी कम रह गई। २२ प्रतिशत से घटकर छः प्रतिशत से भी कम हो गई। रक्त-पूतिता (Septicaemia), निमोनिया, गोनोरिया, प्लेग, विसर्प (Erysipelas) मस्तिष्कावरण शोथ (meningitis) वृक्क की गोणिकार्त्ति (Pyelitis), टौंसिल का शोथ (Tonsilitis) तथा ऐसी ही अन्य दशाओं में सल्फा-योग अत्यन्त लाभकारी प्रमाणित हुए हैं।

किन्तु प्रत्येक सल्फा की प्रत्येक जीवाणु पर क्रिया नहीं होती और न समानरूप से सब रोगियों पर ही होती है। फिर जीवाणुओं की प्रबलता में भी बहुत भिन्नता पाई जाती है जिसके अनुसार रोग प्रबल अथवा मृदु होता है। प्रयोग करने के लिये सल्फ़ा के योग को चुनने के हेतु रोगोत्पादक जीवाणु को जान लेने से ठीक-ठीक योग चुना जा सकता है। फिर योग की शोष्यता, उसकी शरीर में फैलने की गति, शरीर से त्याग, उसका रक्त-स्तर (blood

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

level), तथा उसकी विषाक्तता का ज्ञान भी होना आवश्यक है। औषधि की क्रिया इन्हीं बातों पर निर्भर करती है।

सबसे पहिले जिस क्रियाशील सल्फा-योग का उपयोग किया गया था वह **सल्फा पायरीडोन** (M. B. 693) था। किन्तु उससे जो उपद्रव उत्पन्न हुए उनका उल्लेख किया जा चुका है। वह बहुत विषाक्तिक (toxic) था। **सल्फाथियाज़ोल** यद्यपि अत्यन्त क्रियाशील था किन्तु वह भी विषाक्तिक था। उसका शरीर से त्याग भी शीघ्र होता है और शरीर के भिन्न भागों में उसका विसरण (diffusion) भी अनिश्चित है। वृक्क नलिकाओं में उसके कण एकत्र होकर मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न कर सकते हैं। **सल्फ़ा डियाज़ीन** इससे कम विषाक्तिक है। किन्तु इसकी क्रिया-शीलता भी कुछ कम है। इसका शरीर में प्रसार भली-भाँति होता है। शरीर से त्याग भी देर से होता है। इस कारण उसका रक्त-स्तर अधिक समय तक समान बना रहता है। मस्तिष्क-मेरु-तरल (Cerebrospinal Fluid) में केवल यही योग पहुँच पाता है। इस कारण मस्तिष्कावरण शोथ (meningitis) की चिकित्सा के लिये यह विशेषकर उपयोगी है। **सल्फ़ामेराज़ीन** और भी कम विषाक्तिक है और अधिक समय तक शरीर में रहता है। इसका त्याग धीरे-धीरे होता है जिससे रक्तस्तर शीघ्र ही उपयुक्त हो जाता है और वांछित समय तक बना रहता है। **सल्फ़ामेथाज़ीन** (इसको सल्फ़ामेज़ाथीन भी कहते हैं) की क्रिया सल्फ़ामेराज़ीन ही के समान है, किन्तु उससे अधिक घुलनशील है और शरीर में भी उसकी अपेक्षा अधिक शीघ्रता से व्याप्त होता है। यह मस्तिष्क-मेरु-तरल में भी पहुँच जाता है जहाँ उसकी मात्रा रक्त की मात्रा का ५० प्रतिशत होती है। वृक्कनलिकाओं में इसके कणों के एकत्र होने की रिपोर्ट नहीं मिली हैं। और इस बात में डियाज़ीन और मेराज़ीन से भी उत्तम है। **सल्फाडियामिडीन** प्रायः विषाक्तता-रहित ही है और अत्यन्त घुलनशील है। इस कारण इसका प्रयोग योरुप में बहुत है।

जिन सल्फ़ायोगों का उपयोग अधिक होता है वे ये हैं :—सल्फ़ा-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

डियाज़ीन, सल्फामेराजीन, सल्फ़ामेथाज़ीन, सल्फ़ाडियामिडीन और सल्फ़ा-सोक्सेज़ोल। हमारे देश में अंतिम योग का प्रचार कम है।

मात्रा—सल्फ़ा के योगों की मात्रा प्रायः एक समान है। रोगों की उग्र दशा में प्रथम मात्रा बड़ी होती है और फिर प्रत्येक ४ से ६ घण्टे पर कम मात्रा दी जाती है। सल्फ़ाडियाज़ीन, सल्फ़ामेराज़ीन और सल्फ़ामेथाज़ोन की ३–४ ग्राम (६ से ८ टिकियाँ) की प्रथम मात्रा देना उचित है। उसके पश्चात् प्रत्येक ६ घंटे पर और यदि रोग अति उग्र हो तो प्रति चार घंटे पर १ से १·५ ग्राम तक, अर्थात् दो से ३ टिकियाँ दी जाती हैं। जब ज्वर उतर जाय उसके तीन दिन (७२ घंटे) पश्चात् तक इसी प्रकार औषधि का निरन्तर सेवन करवाया जाय। कुल दस दिन से अधिक सेवन न कराया जाय। इन योगों की ५ से १० मिलीग्राम प्रति १०० सी० सी० रक्त में उग्र रोगों के लिये पर्याप्त मात्रा मानी गई है। अति विषम अवस्था में यह मात्रा १० से १५ मि० ग्राम तक होना उपादेय है। ४ ग्राम की प्रथम मात्रा और १·५ ग्राम रात-दिन प्रति ४ घंटे पर देने से यह रक्त-स्तर पहुँच जायगा। अत्युग्र दशा न होने पर प्रथम मात्रा २ ग्राम (४ टिकिया) और शेष मात्रा १ ग्राम प्रति ६ घंटे पर पर्याप्त है।

एल्कोसीन (सल्फ़ाडिमिडाइन) की ०·०५ ग्राम की एक मात्रा से २ से ८ घंटे में रक्त-स्तर १० मि० ग्राम हो जाने का दावा किया जाता है। उग्र अवस्थाओं में ऐसा करने से भयंकर परिणाम हो सकता है। यह योग मूत्र संबंधी रोगों में विशेषकर उपयोगी है।

रोग की मन्द दशाओं में इतनी मात्रा आवश्यक नहीं है। प्रथम दिन दो-दो टिकिया तीन बार और आगे चलकर केवल एक टिकिया तीन बार देना पर्याप्त है।

तीन सल्फ़ायोगों को मिलाकर देने से उपद्रवों की आशंका, विशेषकर मूत्र संबंधी, बहुत कम बताई जाती है। वृक्क की नलिकाओं में सल्फ़ा के कण (Crystalluria) नहीं एकत्र होते। इस प्रकार से प्रयोग करने पर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रक्तस्तर भी शीघ्र ही उपयुक्त हो जाता है। अतएव उनका प्रभाव उत्तम होता है। इसी कारण सल्फ़ाडियाज़ीन, सल्फ़ामेथाज़ीन और मेराज़ीन को मिलाकर देने की रीति बहुत लोकप्रिय हो गई है।

सल्फाडियाज़ीन तथा अन्य योगों को अन्तर्शिरीय तथा अन्तर्पेशीय इंजेक्शन द्वारा भी शरीर में प्रविष्ट किया गया है। किन्तु उन रोगियों को छोड़कर जिनको सल्फ़ा मुँह से खाने पर सहन नहीं होता और वमन होने लगते हैं, औषधि को इंजेक्शन द्वारा देने से कोई विशेष लाभ नहीं होता। मुँह से खाने की अपेक्षा वे रक्त में अधिक शीघ्र नहीं पहुँचते। आमाशय की असहिष्णुता की दशा में नितम्ब की पेशियों में इंजेक्शन द्वारा देना उचित है।

स्थानिक प्रयोग—कुछ समय पूर्वतक सल्फ़ेनिलेमाइड का व्रणों में बहुत प्रयोग किया जाता था। व्रण में चूर्ण भर के ऊपर से पट्टी बाँध देते थे जिसको कई दिनों पश्चात् खोलते थे। व्रण-युक्त भागों में उसको भरकर ऊपर से प्लास्टर लगा दिया जाता था। अब इसको उचित नहीं समझा जाता। इससे सल्फ़ारोधक जीवाणुओं की उत्पत्ति की संभावना रहती है। इससे चर्म विकारों का भी डर रहता है।

मारफानील का कितने ही प्रयोगकर्त्ताओं द्वारा नेत्र के रोगों में उपयोग किया गया है। परिस्रुत जल में ३० प्रतिशत का घोल बनाकर उसको उग्र नेत्राभिष्यन्द (acute conjunctivitis) में प्रयोग किया गया। उसकी बूंदें नेत्र में रोगावस्था के अनुसार घंटे-घंटे या दो-दो घंटे पर नेत्र में डाली गईं जिससे बहुत लाभ हुआ। एक प्रयोगकर्त्ता ने रिपोर्ट की कि औषधि कार्निया की वस्तु में १५ मिनट में पहुँच जाती है। सल्फ़ासिटेमाइड के मरहम का भी नेत्र में प्रयोग किया जाता है। उसके घोल की बूँदें भी डाली जाती हैं।

अशोष्य योगों का आन्त्ररोगों में उपयोग—सक्सीनिल सल्फ़ाथियाजोल तथा थैलिल सल्फ़ाथियाज़ोल योगों का आन्त्र रोगों में, विशेषकर जीवाणु जन्य अतिसार में उपयोग किया जाता है। ये आन्त्र के निचले भाग में पहुँचकर सल्फा थियाजोल बन जाते हैं। थैलिल-सल्फ़ा-थियाजोल विशेषकर उपयोगी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पाया गया है। शरीर-भारके प्रति ५ सेर के लिये १ ग्राम चौबीस घंटे में प्रयोग करवाया जाता है। डेढ़ मन भार वाले व्यक्ति को चौबीस घंटे में १२ ग्राम अथवा २४ टिकियां खिलानी उचित है। सक्सीनिल योग की मात्रा इससे कुछ अधिक है। कुछ विद्वान इससे आधी मात्रा को पर्याप्त समझते हैं। सल्फ़ाग्वानिडीन की मात्रा इससे भी अधिक है। ३० से ४० टिकियाँ प्रतिदिन खिला दी जाती हैं। जीवाणुओं के पूर्ण हनन के लिये इतनी मात्रा आवश्यक है। रोग तो थोड़ी ही मात्रा से दब जाता है।

सल्फ़ा डियाज़ीन का भी अतिसार में बहुत प्रयोग किया गया है। कुछ चिकित्सक उसको उत्तम समझते हैं और कोई जीवाणु जन्य उपद्रव नहीं होता।

ये सल्फ़ा योग जीवाणुओं के रोधक हैं। इस कारण आन्त्र पर शस्त्रकर्म करने के पूर्व कई दिन तक रोगी से इनका प्रयोग करवाया जाता है जिससे आन्त्र में जीवाणुओं की संख्या कम हो जाती है और जीवाणु जन्य उपद्रव भी नहीं उत्पन्न हो पाते।

सल्फ़ा योगों के विषैले प्रभाव—ये योग अत्यन्त तीव्र औषधि हैं। इस कारण इनके प्रयोग के समय पूर्ण सावधानी रखनी चाहिये। चिकित्सक प्रति रोगी में लक्षणों को देखता रहे और उनके उत्पन्न होते ही औषधि को बन्द करे या अन्य उचित उपाय करे।

जो व्यक्ति इन औषधियों को सहन नहीं कर पाते उनमें—शिरदर्द, जी मिचलाना और चक्कर आना ये लक्षण प्रारम्भ ही में प्रगट हो जाते हैं। ज्वर तथा त्वचा पर चकत्तों का निकलना, वमन तथा अरुचि भी प्रारंभिक लक्षण हैं। अधिक तीव्र दशायें जो सल्फ़ा-योगों से उत्पन्न होती हैं ये हैं:—रक्त-नीलिमा (Cyanosis), श्वेताणुक्षय (Leucopaenia), रक्तक्षीणता (Anaemia), श्वेतकणक्षय (agranulocytosis), रक्तमेह, तथा वृक्कार्त्ति अथवा वृक्कक्षोभ।

रक्त-नीलिमा रक्त में मैटहीमोग्लोवीन बनने तथा कुछ अन्य कारणों से उत्पन्न होती है। नाइट्राइट, क्लोरेट, संखिया तथा कितने ही ऐनिलीन रंग भी इस दशा को उत्पन्न करते हैं। मिथिलिनब्ल्यू (methylene blue) को अतिमात्रा में

Vaidyaraj Zandu Bhatji National Ayurvedic Library Punjabi Lane New Delhi-2 Call No. Book No. 001293
LX3 15N76

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

खिलाने से भी यही होता है। किन्तु कम मात्रा देने से यही उसकी औषधि बन जाता है। अतएव चिकित्सा के लिये १ से २ मिलीग्राम मिथिलीन-ब्लयू प्रति सेर शरीर भार, का १% घोल बनाकर अन्तर्शिरीय इन्जेक्शन द्वारा दिया जाता है। विटामिन-सी अधिक मात्राओं में खिलाने से भी लाभ होता है।

अंत्रियों से सल्फ़ाइड पदार्थों के अधिक शोषण से रक्तकणिकाओं में सल्फ़ाहीमोग्लोबिन उत्पन्न होती है और उनसे बाहर निकलने पर रक्त में पहुँच कर मैटहीमोग्लोबिन हो जाती है। अतएव वह भी नीलिमा उत्पन्न करती है।

रक्तनीलिमा ऐसी दशा नहीं है कि सल्फा औषधियों का प्रयोग बन्द किया जाय।

शरीर पर चकत्ते या फुन्सियाँ सल्फ़ाथियाज़ोल से अधिक निकलते हैं और कितनी ही बार इस योग को देने से जाते रहते हैं। प्रायः व्यक्ति एक योग के प्रति असहिष्णु होते हैं, किन्तु दूसरे के प्रति नहीं।

सल्फ़ा-ज्वर प्रयोग को बन्द करते ही जाता रहता है। किन्तु इसका निश्चय कर लेना चाहिये कि रोग की पुनरावृत्ति तो ज्वर का कारण नहीं है।

श्वेतकणनाश (Agranulocytosis) एक भयंकर उपद्रव है जिससे कितनी ही बार मृत्यु हो जाती है। सौभाग्य से यह दशा बहुत कम उत्पन्न होती है और १० दिन सल्फ़ा के प्रयोग करने से पूर्व नहीं उत्पन्न होती।

इस दशा में रक्त के बहुरूपी केन्द्रकी श्वेत कणिकायें (Polymorpho-nuclear leucocytes) नष्ट होने लगती हैं और कभी-कभी पूर्णतया नष्ट हो जाती हैं। ऐक्सरे, रैडियम तथा अन्य कितने ही रासायनिक द्रव्य तथा औषधियाँ इस दशा को उत्पन्न कर सकती हैं।

जब सल्फ़ा का प्रयोग बहुत दिनों तक किया जाय तो समय-समय पर रक्त की परीक्षा करवाते रहना चाहिये। यदि उपर्युक्त प्रकार की श्वेत कणिकायें केवल ५० प्रतिशत रह जायँ अर्थात् सामान्य से आधी रह जायँ, या समस्त श्वेतकणिका ४००० प्रति क्यू. मि. रह जायँ तो सल्फा का प्रयोग बन्द कर देना उचित है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस दशा के बढ़ जाने पर रुधिराधान (transfusion of blood) आवश्यक है।

जब वृक्क की अणुनलिकाओं में सल्फायोगों के कण एकत्र हो जाते हैं तो उनसे नलिकाओं में क्षत हो जाने से मूत्र में रक्त (Haematuria) आने लगता है। गवीनी (Ureters) में भी कण एकत्र होकर इस दशा को उत्पन्न कर सकते हैं। केवल मूत्रकृच्छ भी उत्पन्न हो सकता है। मूत्र-त्याग कम हो जाता है। उसकी प्रतिक्रिया आम्लिक हो जाती है। सल्फाथियाजोल, सल्फाडियाजीन तथा अन्य कम घुलने वाले योगों से ऐसा होता है। इसलिये मूत्र की समय-समय पर जाँच करते रहना आवश्यक है। उसकी प्रतिक्रिया अति आम्लिक न होने पाये। अतएव सल्फायोगों के प्रयोग-काल में सोडाबाईकार्ब का भी उपयुक्त मात्रा में–१ ग्राम दिन में ३ या ४ बार एक गिलास जल के साथ प्रयोग करवाया जाय। जल अधिक मात्रा में पीना अत्यावश्यक है। २४ घंटे में तीन-चार सेर जल पीना उचित है। इससे कण एकत्र न हो पायेंगे। अधिक घुलनशील योग ऐल्कोसीन सल्फ़ामेराज़ीन या तीन मिश्रित योगों के प्रयोग से इस उपद्रव के उत्पन्न होने की संभावना बहुत कम हो जाती है।

प्रान्तिक नाडी शोथ (Peripheral neuritis), यकृतशोथ (Hepatitis) तथा कुछ चर्म-रोग भी सल्फा के कारण उत्पन्न हो जाते हैं।

प्रयोग कराते समय ध्यान में रखने योग्य बातें

१. सल्फ़ा-योग प्रत्येक जीवाणु पर क्रिया नहीं करते। कुछ जीवाणुओं पर उनकी तनिक भी क्रिया नहीं होती। कुछ पर थोड़ी ही क्रिया होती है जो रोग के शमन के लिये उपयुक्त नहीं होती। प्रतिजीवी औषधियों (Antibiotics) की, जिनका वर्णन अगले परिच्छेद में किया जायगा अधिक क्रिया होती है। ऐसे रोगों में सल्फ़ा के प्रयोग से अभीष्ट लाभ नहीं होता। प्रतिजीवियों के उपयोग से सन्तोषजनक परिणाम होते हैं। अतएव रोगोत्पादक जीवाणु का ज्ञान होने से चिकित्सा के लिये उपयुक्त औषधि को

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चुनने में सहायता मिलती है। अगले परिच्छेद में एक सारिणी दी गई है जिसमें सर्वोत्तम ओषधि को भिन्न-भिन्न जीवाणुओं के लिये अंकित किया गया है।

२. यद्यपि कुछ विद्वान प्रतिजीवी और सल्फ़ायोगों को एक दूसरे के प्रतिद्वन्दी समझते हैं और उनकी सम्मति में एक से दूसरे की क्रिया का ह्रास होती है, किन्तु अनुभव इससे विपरीत है। प्रयोगों द्वारा यह मालूम हो चुका है कि किस जीवाणु पर प्रतिजीवी की क्रिया अधिक होती है अथवा नहीं होती और कौन जीवाणु सल्फ़ा से आक्रान्त होता है। और उसी के अनुसार उपयुक्त औषधि को चुनकर उसके प्रयोग से तुरन्त लाभ होता है। किन्तु बहुधा विशिष्ट जीवाणु के साथ अन्य कितने ही जीवाणु मिले रहते हैं जो यद्यपि रोग के तात्कालिक कारण नहीं होते किन्तु उसके लक्षणों की उग्रता बढ़ाने में तथा उपद्रव उत्पन्न करने में सहायता देते हैं। ऐसी दशा में सल्फ़ा और प्रतिजीवियों के सहयोग से दोनों प्रकार के जीवाणुओं का नाश होता है। अतएव उपयुक्त अवस्थाओं में सल्फ़ा और प्रतिजीवी योग एक दूसरे के पूरक या सहायक होते हैं और दोनों का साथ ही प्रयोग अभीष्ट होता है।

३. प्रयोग के लिये चुनते समय योग की विषाक्तता, उसकी घुलनशीलता, रक्त में उपस्थित योग की सान्द्रता, शरीर से त्याग की गति (उत्सर्ग), वृक्क में कणों का एकत्र होना आदि सब बातों का ध्यान रखकर उपयुक्त योग को चुनना चाहिये।

४. दस दिन तक या ४० ग्राम से अधिक सल्फा का प्रयोग आपत्तिजनक है। इतना प्रयोग करने के पश्चात् उसको बन्द कर देना उचित है।

५. प्रयोग के दिनों में सोडाबाईकार्बोनेट और जल का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग आवश्यक है। मूत्र-त्याग की मात्रा चौबीस घंटे में लगभग १५०० सी. सी. होनी चाहिये जैसा स्वास्थ्य में होता है। जब तक मूत्र-त्याग पूर्ण होता है तब तक मूत्रकृच्छ्र होने या वृक्क में कणों के एकत्र होने की कोई संभावना नहीं है।

६. सल्फ़ा के प्रयोग के दिनों में प्रत्येक चौथे दिन रक्तपरीक्षा करके

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

श्वेत कणिकाओं तथा लाल कणिकाओं की संख्या तथा हीमोग्लोबिन की मात्रा मालूम करते रहना चाहिये।

७. उपद्रवों का लक्षण प्रकट होते ही उचित आयोजन करना अभीष्ट है। यदि आवश्यक हो तो औषधि बन्द कर दी जाय।

सल्फोन योग (Sulphones)

ये भी सल्फ़ा-समूह से सम्बन्धित योग हैं। इनमें तीन विशेष योग हैं—प्रोमीन, डाइसोन और प्रोमिनोल। इनको विशेषतया कुष्ठ रोग (Leprosy) के जीवाणु पर सक्रिय पाया गया है। अन्वेषणकर्त्ताओं ने पहिले इनको राजयक्ष्मा में प्रयोग किया था। राजयक्ष्मा के जीवाणुओं पर भी इनकी क्रिया होती है। किन्तु वह सन्तोषजनक नहीं होती और वे अधिक विषाक्तिक भी प्रमाणित हुये। इस कारण इनका राजयक्ष्मा में प्रयोग बन्द कर दिया गया। किन्तु कुष्ठ रोग में उनको उपयोगी पाया गया। सन् १९४१ में पहली बार अमेरिका में सल्फोन योगों को कुष्ठ के लिये प्रयोग किया गया। इससे पहिले चूहों में कुष्ठ उत्पन्न करके उनमें इन औषधियों का प्रयोग किया जा चुका था।

कुष्ठ रोग—इसको अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं में लैप्रोसी कहते हैं। रोग दो प्रकार का होता है। (१) पहिले प्रकार के रोग में केवल नाड़ियाँ विशेषकर प्रान्तिक नाड़ियाँ (Peripheral nerves) आक्रान्त होती हैं। (२) दूसरे प्रकार में चर्म पर लाल रंग के चकत्ते बन जाते हैं और फिर छोटी-छोटी गाँठें बन जाती हैं। सारे मुख पर, कान के चर्म के नीचे, नाक पर, माथे पर तथा शरीर के अन्य भागों के चर्म में ऐसी ही गाँठे बन जाती हैं। चर्म मोटा हो जाता है। उसमें सिलवटें दिखाई देने लगती हैं। सारा चेहरा विकृत हो जाता है। आकृति ही बदल जाती है। भ्रू के तथा शिरचर्म पर के बाल गिर जाते हैं।

प्रथम अवस्था—में शरीर में कहीं पर भी एक संवेदनहीन क्षेत्र बन जाता है जिसमें पिन या सुई चुभाने से रोगी को अन्य स्थानों की अपेक्षा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कम प्रतीत होता है या तनिक भी नहीं प्रतीत होता। कुहनी के पाछे भीतर की ओर प्रतीत करने से अन्तः प्रकोष्ठिका तन्त्रिका (ulnar nerve) मोटी प्रतीत होती है। उसको दबाने से अंगुलियों और हाथ में झनझनाहट होने लगती है। इस अवस्था में रोगी संक्रामक नहीं होता।

दूसरी अवस्था—त्वचा में उपर्युक्त परिवर्तन हो जाते हैं। सारी देह की त्वचा मोटी पड़ जाती है और उसके नीचे गाँठें बन जाती हैं। कान तथा माथे और नाक में भी गाँठों की उत्पत्ति हो जाती है जिनसे रोग के जीवाणुओं से भरा हुआ स्राव निरन्तर निकलता रहता है। बाल भी गिरने लगते हैं। गले का स्राव भी जीवाणुयुक्त होता है। इस कारण रोगी अत्यन्त संक्रामक होता है। जीवाणु मूत्र और मल में भी उपस्थित होते हैं।

तीसरी अवस्था—में अंगों की आकृति बिगड़ जाती है। विशेषकर अंगुलियों पर की गाँठों में व्रण बन जाते हैं, अँगुलियाँ गलने लगती हैं और अन्त को गिर जाती हैं। अस्थि तक का घुण (Caries) हो सकता है। इस अवस्था में रोगी की संक्रामकता कम होती है।

यह एक अत्यन्त प्राचीन रोग है जो संसार के सब ही भागों में पाया जाता है। ईजिप्ट और मध्य तथा पश्चिमी एशिया के देशों में विशेषकर अधिक है। हमारे देश में भी रोगियों की बहुत संख्या है।

इस रोग का कारण एक जीवाणु होता है जो राजयक्ष्मा के जीवाणु के बहुत कुछ समान होता है। उसी का-सा आकार होता तथा वैसा ही रंग ग्रहण करता है और उसी की भाँति अम्लसह (Acid fast) होता है, अर्थात् अम्ल से भी उसके ग्रहण किये हुये रंग नहीं निकलते।

चिकित्सा—कुछ समय पूर्व तक केवल चालमुग्रा, उसका तैल तथ उसका सत्त्व या अन्य योग ही चिकित्सा के विशेष साधन थे जिनके परिणाम अनिश्चित तथा असन्तोषजनक होते थे। अब सल्फ़ोन योगों द्वारा चिकित्सा की जाती है।

डाइसोन (Diasone) नामक योग की ०·३ ग्राम की एक टिकिया दिन में तीन बार दी जाती है। प्रोमीज़ोल (Promizole) १ से २ ग्राम

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मात्रा (२ से ४ टिकिया) प्रति दिन प्रयोग करवाई जाती हैं। इनको बहुत समय तक—कई वर्षों तक—प्रयोग करवाना पड़ता है। तीन सप्ताह तक प्रयोग करवाने के पश्चात् एक सप्ताह या २ सप्ताह के लिये बन्द कर देना चाहिये। बहुत से रोगियों में तीन चार महीने के प्रयोग के पश्चात् असहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है। जीवाणुओं में औषधि को सहने की शक्ति आ जाती है। विद्वानों की सम्मति में यद्यपि ये योग लाभदायक हैं किन्तु उनको अचूक या सर्वोत्तम नहीं कहा जा सकता। अभी उनमें बहुत उन्नति की आवश्यकता है। अतएव प्रयोग निरन्तर हो रहे हैं।

प्रोमीन (Promine) एक दूसरा योग है जिसकी ५ ग्राम की एक मात्रा अन्तर्शिरीय इन्जेक्शन (Intraveinous injection) द्वारा प्रति दिन २ सप्ताह तक देने के पश्चात् एक सप्ताह के लिये बन्द कर दी जाती है। फिर पूर्ववत् दी जाती है।

स्ट्रिप्टोमायसीन का भी कुष्ठ की चिकित्सा के लिये उपयोग किया जाता है। इस योग की क्रिया विशेषकर राजयक्ष्मा के जीवाणुओं पर होती है। कुष्ठ के जीवाणुओं पर भी इसका प्रभाव होता है, यद्यपि राजयक्ष्मा के जीवाणुओं सा नहीं होता। इन दोनों जीवाणुओं में साम्य देखते हुये दोनों का स्ट्रिप्टोमाइसीन से प्रभावित होना स्वाभाविक है। अन्य जीवाणु भी इसके द्वारा आक्रान्त होते हैं। आगामी पृष्ठों में इन प्रतिजीवी पदार्थों का वर्णन किया जायगा।

(३) प्रतिजीवी औषधियाँ—Antibiotics

जीवाणु संबंधी खोज करते हुए विद्वानों ने यह पाया कि कुछ जीवाणु जब साथ रहते हैं तो उनकी वृद्धि अत्युत्तम होती है, उनका प्रभाव भी बढ़ जाता है। अर्थात् वे एक दूसरे के लिये उपयोगी प्रमाणित होते हैं। इसको **सहजीविता** कहा जाता है। इसके लिये अंग्रेजी में **सिम्बायोसिस** (Symbiosis) का शब्द प्रयोग किया जाता है। इसके विरुद्ध अनेक जीवाणु एक दूसरे को हानि पहुँचाते है। प्रत्येक जीवाणु कोई ऐसी वस्तु बनाता है जिससे दूसरे जीवाणु की वृद्धि रुक जाती है या कम हो जाती है। यह **प्रतिजीविता** या **ऐन्टी-**

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बायोसिस (antibiosis) कहलाता है। न केवल जीवाणु ही, वरन् कवक या फफूँदी (Fungus), काई आदि तथा वृक्ष भी ऐसी वस्तुयें उत्पन्न करते हैं जिनका जीवाणु या जीवों पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। ये वास्तव में रासायनिक वस्तुयें होती हैं। इन ही को **प्रतिजीवी** पदार्थ या औषधियाँ कहते हैं जिनका अब चिकित्सा में उपयोग होने लगा है। यद्यपि प्रतिजीवी का अर्थ है किसी भी जीवित वस्तु द्वारा अन्य जीवित वस्तु को हानि पहुँचाने वाला पदार्थ, किन्तु उससे जीवाणुओं, कवक, फफूँदी (mold) आदि द्वारा उत्पन्न की हुई जीवाणुघातक वस्तुओं का बोध होता है।

जब इन वस्तुओं को फफूँदी आदि से पृथक् नहीं किया जा सका था तब भी इन वस्तुओं का अपने स्वाभाविक रूप में प्रयोग होता था। हमारे देश में घावों पर दीवारों पर लगी हुई फफूँदी, मिट्टी आदि का प्रयोग किया जाता था। अन्य देशों में भी प्रयोग होता था। डाक्टरों या चिकित्सकों द्वारा प्रयोग किये जाने का बहुत उल्लेख मिलता है। सन् १९०० में अमेरिका के एक डाक्टर ने अपने एक १२ वर्ष की आयु के रोगी के बारे में इस प्रकार लिखा है—'रोगी नाम···गले में शोथ है। टांसिल शोथयुक्त हैं। तापक्रम १०३° है। रोगी की अवस्था चिन्ताजनक है। मैंने उसको डबल रोटी का टुकड़ा जिस पर फफूँदी लगी हुई है खाने को दिया है। अन्य औषधियाँ भी कल से दी जा रही हैं।'

दूसरा दिन—'आज रोगी की दशा में आश्चर्यजनक सुधार दिखाई दे रहा है। ज्वर उतर गया है। रोगी शान्त और प्रसन्नचित्त है। मुझे विश्वास है कि फफूँदीयुक्त रोटी के टुकड़े ही का यह प्रभाव है। मैं अपने सब संक्रामक रोगों के रोगियों को फफूँदीयुक्त रोटी खाने को दूँगा। यदि मैं अन्य चिकित्सकों से कहूँगा तो वे मुझको पागल समझेंगे।'

इस प्रकार के प्रयोग अति प्राचीन काल से होते रहे हैं। सोयाबीन को कूट पीस कर उसके प्लस्तर को घावों, कारबंकिल, पूययुक्त विदारों आदि पर लगाने की प्रथा चीन में अभी तक प्रचलित है। यूनान वाले इसी प्रकार के प्रयोग किया करते थे।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रतिजीवियों की क्रिया सल्फ़ायोगों की भाँति जीवाणुओं पर ही होती हैं। संक्रामक रोग, जिनसे मनुष्यों की एक बहुत बड़ी संख्या का प्रति वर्ष प्राणांत होता है, इन जीवाणुओं के कारण ही उत्पन्न होते हैं। अतएव यहाँ जीवाणुओं का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना आवश्यक प्रतीत होता है। वास्तव में सल्फ़ायोगों के पूर्व ही उनका विचार करना चाहिये था।

जीवाणु जीवित सृष्टि की, वाइरस और रिकेट्सिया के अतिरिक्त, निम्नतम रचना हैं। केवल निर्जीव या अकारवनिक पदार्थ, धातु, तांबा, लोह, धूल आदि इनसे नीचे है। ये अत्यन्त सूक्ष्म, १/१२०० से १/५०० इञ्च आकार के जीव होते हैं जिनको देखने के लिये सूक्ष्मदर्शक यन्त्रकी आवश्यकता होती है। इनमें केन्द्रक (Nucleus) भी नहीं होता। केवल

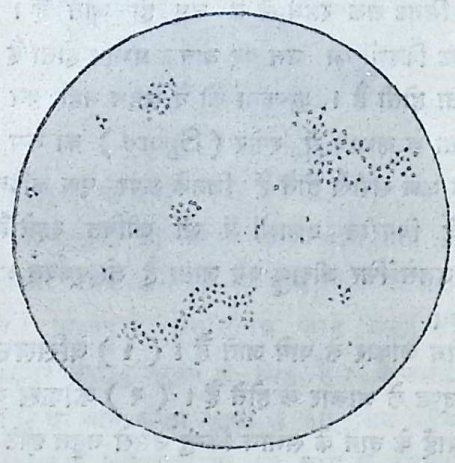

चित्र ९ स्टेफ़िलोकोकस

एक आवरण होता है जिसके भीतर थोड़ा सा जीवद्रव्य या प्रोटोप्लाज़्म भरा रहता है। किन्तु ये जीवित पदार्थ हैं। इनमें जीवन की सब क्रियायें होती हैं। इनकी उत्पत्ति होती है। संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, यद्यपि यह केवल विभजन की क्रिया से होता है। जीवाणु का शरीर बीच से दो भागों में विभक्त हो जाता है और दो जीवाणु बन जाते हैं, दो से चार बनते है,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चार से आठ, आठ से सोलह, इसी प्रकार संख्या बढ़ती जाती है। प्रत्येक जीवाणु उत्पन्न होने के आध घण्टे के भीतर उत्पत्ति प्रारंभ कर देता है। दो जीवाणुओं के शरीर में प्रवेश करने से चौबीस घण्टे में उनकी संख्या बहुत बढ़ जाती है। इनको भोजन की आवश्यकता होती है जिससे इनके आकार की वृद्धि होती है और इनमें विभजन भी होता है। यह भोजन या पोषण जिस पदार्थ में वे स्थित होते हैं उसी से ले लेते हैं। इनमें से कुछ को आक-सीजन की आवश्यकता होती है, कुछ को नहीं होती। तापक्रम का इन पर प्रभाव होता है। साधारण शारीरिक तापक्रम इनकी वृद्धि के लिये अत्युत्तम होता है, अर्थात् ३७ डिग्री सैन्टीग्रेड या ९८ फैरनहीट। नीचे १२ सैन्टीग्रेड पर और ४७ सैं० पर ऊपर की ओर पहुँचकर वृद्धि बन्द हो जाती है। ८५ सैं० पर २० मिनट तक रहने से वे नष्ट हो जाते हैं। सूर्यप्रकाश का तथा अल्ट्रावायोलेट किरणों का उन पर घातक प्रभाव होता है। जल की भी उनको आवश्यकता होती है। शुष्कता को वे सहन नहीं कर सकते, यद्यपि कुछ जीवाणु आर्द्रता के अभाव में स्पोर (Spore) का रूप धारण कर लेते हैं। ये सूक्ष्म गोल कण सरीखे होते हैं जिनके ऊपर एक कठिन आवरण चढ़ा होता है जिससे वे विपरीत दशाओं में भी जीवित रहते हैं। दशाओं के अनुकूल होने पर उनसे फिर जीवाणु बन जाता है जो पूर्ववत् अपना जीवनक्रम आरंभ कर देता है।

ये जीवाणु तीन आकार के पाये जाते हैं। (१) **बैसिलस** या **दण्डाणु** जो तनिक लम्बे, दण्ड के आकार के होते हैं। (२) **कोकस** या **गोलाणु** जो गोल सूक्ष्म कण, राई के दाने के समान किन्तु उससे बहुत छोटे होते हैं। इनमें से कुछ गुच्छों के रूप में स्थित पाये जाते हैं जिनको स्टेफिलोकोकस (Staphylococcus) कहते हैं। कुछ लम्बी शृङ्खला बना लेते हैं। ये स्ट्रिप्टोकोकस (Streptococcus) कहे जाते हैं। फिर इनमें भी कुछ दो-दो के जोड़ो में रहते हैं और कुछ चार-चार के समूह में मिलते हैं। (३) तीसरे प्रकार के जीवाणु लहरियेदार सर्पिल आकार के होते हैं जिनके लम्बे शरीर में कई स्थानों पर मोड़ हैं जैसे सर्प के शरीर में उसके चलते समय बन जाते हैं। इसको

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सर्पिलाणु स्पिरिल्लम् या स्पायरोकीट (Spirillum or spirochaetae) कहते हैं।

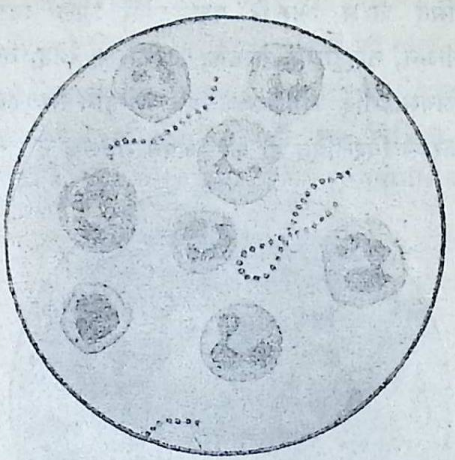

चित्र १० स्ट्रिप्टोकोकस

प्रकृति में जीवाणुओं के कर्म

प्रकृति में जीवाणुओं की बहुत बड़ी संख्या पाई जाती है और वे भी अनेक प्रकार के और अनेक जातियों के होते हैं। वे सब रोग उत्पन्न करने वाले नहीं होते। वास्तव में रोग उत्पन्न करने वालों की संख्या अपेक्षाकृत कम हैं। अधिकतर जीवाणु मनुष्य के मित्र हैं। वे उसके लिये खाद्य उत्पन्न करते हैं। वृक्षों में या वानस्पतिक खाद्यों में नाइट्रोजन पहुँचाना जिससे प्रोटीन बन सकें, एक प्रकार के जीवाणुओं का ही काम है जिनको Nitrifying bacteria कहते हैं। इनका सबसे बड़ा काम प्रकृति को शुद्ध तथा स्वच्छ करना है। जहाँ भी कोई मृत कारबनिक (Corbonic) पदार्थ होता है वहाँ ये जीवाणु उस पदार्थ में पहुँच कर उसको गला डालते हैं जिसको सड़ना कहते हैं। सड़ना वास्तव में एक रासायनिक क्रिया है जिसके द्वारा गूढ संगठन वाले कारबनिक पदार्थ जन्तुशरीर, फल, वृक्ष की पत्तियाँ या अन्य भाग आदि सूक्ष्म सामान्य अवयवों में विभंजित हो जाते हैं। सड़ने में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जो दुर्गन्धि निकलती है उसका कारण वे गैसें, हाईड्रोजन-सल्फाइड, मीथेन, कार्बन डाईआक्साइड आदि हैं जिनमें वह पदार्थ अन्त में परिणत हो जाता है और पंचभूत-निर्मित शरीर फिर से पञ्चभूत में मिल जाता है। कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सीजन, नाइट्रोजन, गन्धक, फास्फोरस, लोह, ताम्र, कैलसियम, सोडियम, पोटासियम आदि मौलिक अवयव जिन्होंने मिलकर उस शरीर को बनाया था वे फिर से विश्लेषित हो कर अपने मौलिक रूप में आ जाते हैं।

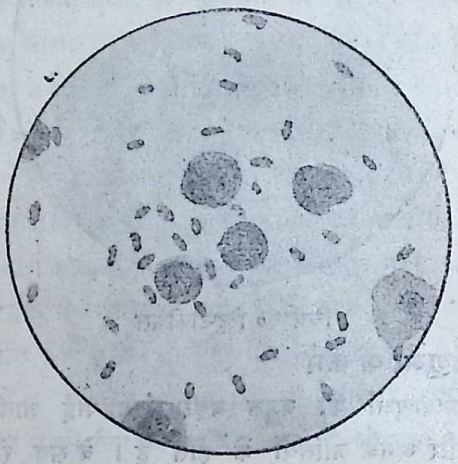

चित्र ११ प्लेग के दण्डाणु

यह प्रकृति का अत्यन्त महत्त्वशाली कर्म है जिसके द्वारा वह संसार के वायु-मण्डल को शुद्ध करवाती है और अपने अवयवों को सदा अक्षुण्ण बनाये रखती है। इसी कारण कहा जाता है कि Matter is industructible.

जीवाणुओं से लाभ—जीवाणु हमारे दैनिक जीवन में बहुत भाग लेते हैं। नाना प्रकार की वस्तु हमारे उपयोग के लिये तैयार करते हैं। किण्वीकरण (Fermentation) की क्रिया उन्हीं के द्वारा होती है। गुड़ या शकर से मद्य जीवाणु इसी क्रिया से तैयार करते हैं। जौ, अंगूर तथा अन्य फलों से इसी प्रकार शराब बनती है। माल्ट भी इसी क्रिया का परिणाम है। संसार के सभी देशों में मद्य-निर्माण का उद्योग कितना विस्तृत है और वह सब जीवाणु-क्रिया

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ही का परिणाम है इसको विचारने ही से संसार के उद्योगों में जीवाणुओं के महत्त्व का कुछ आभास हो जाता है। दूध से दही बनाने वाले लैक्टिक दण्डाणु होते हैं। कुछ देशों में काउमिस, केफीर आदि दूध के किण्वीकरण ही से बनते हैं। चीज़ (Cheese) जिसका अब हमारे देश में भी बहुत प्रयोग होने लगा है, इसी प्रकार की क्रिया से दूध से बनाई जाती है। सिरका इसी क्रिया का परिणाम है। आजकल के औषधि-निर्माण में इस विधि का बहुत विस्तृत प्रयोग किया जाता है और उसके द्वारा अनेक उपयोगी औषधि तैयार की

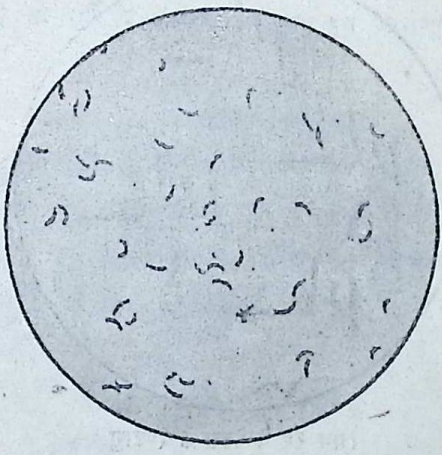

चित्र १२ विसूचिका (कालरा) के जीवाणु

जाती है। स्वयं प्रतिजीवियों को तैयार करने के लिये फफूंदियों की प्रचुर मात्रा ऐसी ही विधियों द्वारा उत्पन्न की जाती है।

बहुत से जीवाणु मनुष्य के अभिन्न मित्र हैं और जन्म के एक सप्ताह या दस दिन के पश्चात् से उसके जीवन-पर्यन्त शरीर के भीतर रह कर उसकी सहायता करते हैं। हमारे सारे आन्त्र में जीवाणुओं के समूह भरे हुये हैं। उनकी इतनी अधिक संख्या है कि नित्यप्रति के मल में उनका तिहाई या चौथाई भाग रहता है। उनमें से कुछ जीवाणु प्रोटीन को पचाते हैं, कुछ स्नेह या वसा को और कुछ कार्बोहाइड्रेट का अन्तिम रूप में भंजन करते हैं। प्रोटीन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

के चयापचय की अन्तिम क्रियायें इन जीवाणुओं पर ही निर्भर करती हैं। इनके बिना वे क्रियायें सम्पूर्ण नहीं हो सकतीं। आन्त्र और ये जीवाणु एक दूसरे के इतने अभ्यस्त हो गये हैं, दोनों में इतना मैत्रीभाव स्थापित हो गया है कि उनसे आन्त्र को कोई हानि नहीं पहुँचती, वरन् वे आन्त्र की सब भाँति सहायता करते हैं। किन्तु तो भी कभी-कभी कुपित हो जाने पर आन्त्र के किसी भाग की या अन्य समीपवर्त्ती भाग की जान जोखिम में डाल देते हैं।

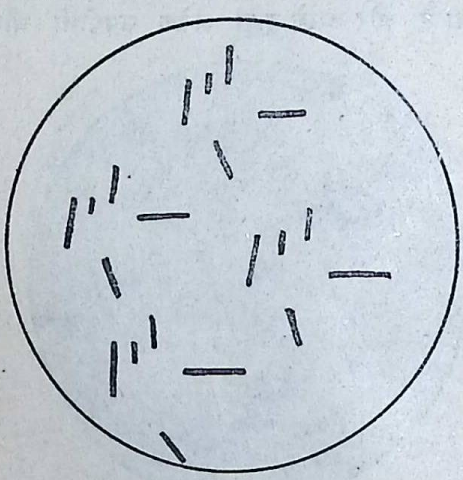

चित्र १३ ऐन्थेक्स के दण्डाणु

इसी प्रकार शरीर के अन्य भागों में भी जीवाणु विहार करते रहते हैं। त्वचा पर कितने ही प्रकार के जीवाणु पाये जाते हैं। मुख में कम से कम छः प्रकार के जीवाणु रहते हैं। नासिका में जीवाणु उपस्थित मिलते हैं। किन्तु साधारणतया इनसे किसी प्रकार का रोग नहीं होता। वे निरुपद्रवी (Saprophyte) की भाँति रहते हैं।

जीवाणुओं में जीवन संग्राम—विशेष बात यह मालूम होती है कि जो जीवाणु जिस अंग या शरीर के भाग में निवास करने लगते हैं. वे उसको अपना देश या घर बना लेते हैं और फिर वहाँ किसी अन्य जाति के जीवाणुओं के प्रवेश को भी सहन नहीं करते। यदि कुछ विदेशी जीवाणु

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वहाँ घुस आते हैं तो वहाँ के आदिम निवासी जीवाणु उनसे युद्ध ठान देते हैं और नाना प्रकार से उनको नष्ट करने के उपाय करते हैं। मनुष्य के शरीर में अनेक प्रकार के जीवाणु प्रतिक्षण प्रवेश करने का प्रयत्न करते रहते हैं। वायु-मण्डल से, जिसमें मनुष्य रहता है, उस पर जीवाणुओं की वर्षा सी होती रहती है। नाक, मुँह, चर्म आदि द्वारा ये जीवाणु शरीर के भीतर घुसने के लिये लालायित रहते हैं किन्तु वे सदा सफल नहीं होते। शरीर की त्वचा उनको बाहर ही रोक देती है। नाक मुँह गले आदि में भी उनको रोकने का प्रबन्ध है। यदि वे घुस भी जाते हैं तो वहाँ पर उपस्थित जीवाणु इन आगन्तुक जीवाणुओं का

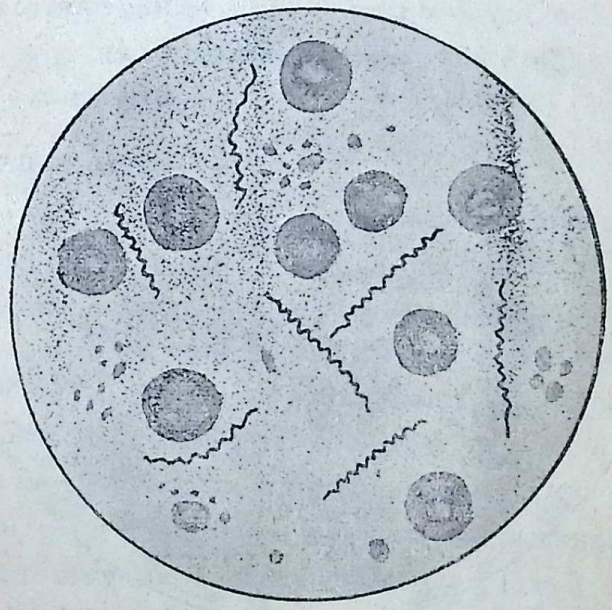

चित्र १४ पुनरावर्तक ज्वर के स्पिरिल्ला

नाश करते हैं। श्वासमार्ग के ऊर्ध्व भाग में रहने वाले एल्फा-स्ट्रिप्टोकोकाई डिप्थीरिया के जीवाणुओं का नाश करते हैं और इस प्रकार इन भयंकर शत्रुओं से मनुष्य की रक्षा करते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रकृति में सर्वत्र घोर जीवन-संग्राम मचा हुआ है और सृष्टि के आदि से चलता आया है। जीव-जीव का भक्ष्य है। किन्तु आत्मरक्षा सृष्टि का प्रथम सिद्धान्त है। एक जन्तु दूसरे जन्तु को खाता है। किन्तु दूसरा जन्तु छल-बल कौशल से अपनी रक्षा का प्रबन्ध करता है। मनुष्य के पृथ्वी पर आने से बहुत पूर्व काल से यह हो रहा है और आज भी होता है। जीवाणुओं में भी यही संग्राम होता रहता है। एक जीवाणु दूसरे जीवाणु को नष्ट करने का प्रयत्न

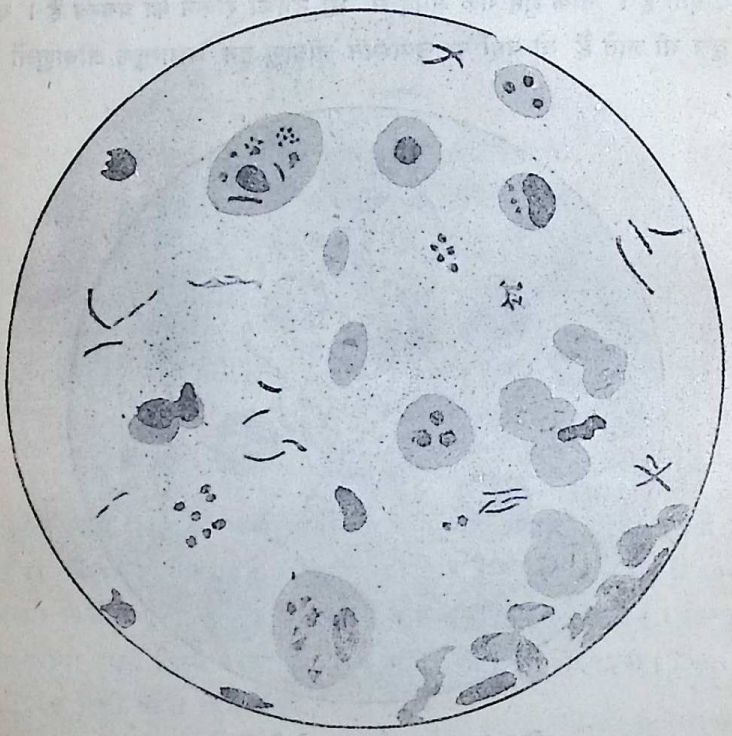

चित्र १५ ट्यूबर्क्यूलोसिस के दण्डाणु

करता है। यह संग्राम रासायनिक संग्राम है। रासायनिक वस्तुओं का निर्माण करके जीवाणु उनके द्वारा एक दूसरे का नाश करते हैं। प्रत्येक जीवाणु एक विशेष रासायनिक कण तैयार करता है जो दूसरे के कण से भिन्न होता है और

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उसी कण से दूसरे के नाश का प्रयत्न करता है। इन रासायनिक विषों की क्रिया भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। कुछ दूसरे जीवाणु के खाद्य को विषैला कर देते हैं। कुछ उसको आक्सीजन नहीं पहुँचने देते। कुछ उसके खाद्य ही का विभञ्जन कर देते हैं जो उसके लिये उपयोगी नहीं रहता। कुछ दूसरे जीवाणु के इञ्जाइम-क्रम को ही परिवर्त्तित कर देते हैं जिससे वह अपना उपयुक्त आहार तैयार नहीं कर सकता अथवा उसका आत्मीकरण करने में असमर्थ हो जाता है। इस संग्राम विधि को जीवाणु अति प्राचीन काल से प्रयोग कर रहे हैं जिसको मनुष्य ने आज सीखा है। प्रतिजीवियों का निर्माण और उपयोग जीवाणुओं द्वारा सदा से होता आ रहा है जबसे वे इस पृथ्वी पर उद्भूत हुये हैं। किन्तु उनके इस रहस्य का मनुष्य केवल बीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में पता लगा सका है।

रोगोत्पादक जीवाणु—

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, रोगोत्पादक जीवाणुओं की संख्या अपेक्षाकृत बहुत थोड़ी है। तो भी जनसंख्या के ह्रास का वही विशेष कारण है। अनेक रोगों को उत्पन्न करके मनुष्य के जीवन को दुःखमय बनाने का वे विशेष साधन हैं। वे भी उन्हीं तीन प्रकारों के होते हैं जिनका पूर्व में वर्णन किया गया है अर्थात् बेसिलाई या दण्डाणु, कोकाई और स्पाइरोकीट। आगामी पृष्ठों में मुख्य मुख्य रोगों के कारक जीवाणुओं तथा औषधियों की एक सारणी दी हुई है। बैसिलस समूह में आन्त्रिक ज्वर या टाइफाइड, प्रवाहिका (Dysentory), राजयक्ष्मा, कुष्ठ, डिप्थीरिया, टिटेनस, ऐन्थैक्स तथा बैसिलस कोलाई (B.coli) विशेष हैं। कोकाई-समूह के स्ट्रिप्टो और स्ट्रेफिलोकोकाई विशेष हैं जो अनेकों भयंकर रोगों के कारण होते हैं। इनकी शोथ और पूयोत्पादन की विशेष क्रिया होती है। स्ट्रिप्टोकोकस हीमोलिटिकस (Streptococcus haemolyticus) रक्त का लयन कर देता है जिससे रोगी को संकट उपस्थित हो जाता है। स्पायरोकीटों में सिफिलिस और पुनराक्रमक ज्वर के जीवाणु विशेष हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जीवाणुओं की पहचान—

उपयुक्त चिकित्सा के लिये यह जानना आवश्वक होता है कि किस जीवाणु के कारण रोग उत्पन्न हुआ है। इसकी तीन विधि हैं (१) सबसे सहज रंजन (Staining) और सूक्ष्मदर्शक (Microscope) द्वारा जांच है। शरीर के जिस स्राव में जीवाणु का सन्देह होता है उसकी कुछ बूंदें कांच के स्लाइड पर ले कर उसको कांच के छोटे दंड (Rod) से फैलाकर थोड़ा स्पिरिट लम्प की ज्वाला में शुष्क करने के पश्चात् कई प्रकार के रंगों से रंगा जाता है। भिन्न-भिन्न जीवाणु भिन्न-भिन्न रंग ग्रहण करते हैं जिनसे उनका शरीर स्पष्ट हो जाता है। इसको सूक्ष्मदर्शी के द्वारा देखने से उनका आकार लगभग १२०० गुणा बड़ा हो कर दिखाई देता है। साधारणतया इस विधि से जीवाणु पहिचान लिया जाता है। राजयक्ष्मा में बलगम की इसी प्रकार जांच की जाती है। इसका जीवाणु ऐसे रंग लेता है जो अम्ल से भी नहीं घुलते। इस कारण इस जीवाणु को Acidfast कहा जाता है। कुष्ठ का जीवाणु भी ऐसा ही होता है। डिप्थीरिया का जीवाणु गले में रहता है। इस कारण गले के स्राव या श्लेष्मा की इसी प्रकार परीक्षा की जाती है। यदि कहीं पूय बन जाती है तो इसकी परीक्षा की भी यही विधि है।

रंजन की एक विशेष विधि को ग्राम विधि कहा जाता है। वह हैन्स क्रिस्चियन ग्राम नामक विद्वान द्वारा आविष्कृत हुई थी। इसी से उसका नाम ग्राम-विधि रख दिया गया। इस विधि से कुछ जीवाणु विशेष रंगों को लेते हैं, कुछ नहीं, अर्थात् कुछ रंग जाते हैं, कुछ नहीं रंगते। जो रंग जाते हैं वे ग्राम-धनात्मक (gram positive) कहलाते हैं, जो नहीं रंगते वे ग्राम-ऋणात्मक (gram nagative) कहे जाते हैं। जीवाणुओं के रंग लेने न लेने में भी बड़ा रहस्य छिपा हुआ है जैसा गत परिच्छेद में बताया जा चुका है। प्रोन्टोसील एक रंग ही था जो पूयजनक जीवाणुओं का प्रबल शत्रु प्रमाणित हुवा। संभव है, अन्य रंगों में भी कोई अवयव हो जो जीवाणुनाशी या निस्संक्रामक (antiseptic) सिद्ध हो। जो जीवाणु रंग नहीं लेते उनका संक्रामक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वस्तुओं के निराकरण करने वाले किसी साधन से सम्पन्न होना भी संभावना से परे नहीं है। इस रंजन विधि का सबसे बड़ा लाभ यह है कि उसके द्वारा जीवाणु दो श्रेणियों में आवद्ध हो गये हैं, १. ग्राम धनात्मक और २. ग्राम-ऋणात्मक। जितने भी ग्राम-धनात्मक हैं उन पर पेनिसिलीन की संघातक क्रिया होती है। कुछ ग्राम ऋणात्मक जीवाणुओं पर भी क्रिया होती है। गोनोरिया का गोनोकोकस ऋणात्मक जीवाणु है जिसने संसार भर में बहुसंख्यक व्यक्तियों को अपना शिकार बनाया हुआ है। सल्फ़ा और पेनिसिलीन के आविष्कार से पूर्व इस रोग की कोई विशिष्ट चिकित्सा नहीं थी। सल्फ़ा से इस रोग से मुक्ति पाने की बहुत कुछ आशा बँधी। किन्तु उसमें बहुत सी त्रुटि पाई गईं। पेनिसिलिन इस पर ऐसी रामबाण प्रमाणित हुई कि उससे गोनोकोकस की असंख्य सेनायें क्षण में नष्ट हो गई। अब पेनिसिलीन इस रोग की विशिष्ट औषधि हो गई है। मैनिंगोकोकस पर भी पेनिसिलीन की क्रिया होती है किन्तु अन्य ग्राम-ऋणात्मक जीवाणुओं पर क्रिया नहीं होती।

ग्राम धनात्मक समूह में बड़े भयंकर भयंकर जीवाणु पाये जाते हैं। स्ट्रिप्टोकोकस हीमोलिटिकस जो रक्त की कणिकाओं को गलाता चला जाता है अत्यन्त घातक जीवाणु है। प्रसूति ज्वर, रक्तपूयता (septicemia), कोथ आदि विषम प्राणान्तक अवस्थायें इस जीवाणु के कारण उत्पन्न होती हैं। अन्य स्त्रिप्टोकोकाई तथा सेफ़िलोकोकाई भी कभी कभी अत्यन्त प्रचण्ड रोग उत्पन्न कर देते हैं। इन सब के लिये पेनिसिलीन अचूक औषधि प्रमाणित हुई है।

२. जीवाणुओं को पहचानने की दूसरी विधि **संवर्धन** (culture) कहलाती है। इस विधि से जीवाणुओं को उगाया जाता है, उनकी संख्या बढ़ाई जाती है। यह सचमुच उसी भाँति का उगाना है जैसे खेतों में अन्नों को उगाया जाता है। हाँ, जीवाणुओं को उगाने के लिये विशेष प्रकार के खेत बनाने पड़ते हैं और उसमें विशेष प्रकार की खाद देनी होती है जो पोषक द्रव्य या माध्यम (nutrient media) कहलाती है। ये कई प्रकार के द्रव्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होते हैं। कोई द्रव होते हैं, कोई ठोस होते हैं। एक वस्तु जिसका बहुत प्रयोग किया जाता है वह एगर-एगर है। जिलेटीन का भी उपयोग किया जाता है। कुछ द्रव्यों में रक्त, मांस का जूस तथा अन्य ऐसी ही वस्तु मिला दी जाती है। इनको पिघला कर शुद्ध की हुई परीक्षा-नलिका में इस प्रकार भरा जाता है कि द्रव्य के जम जाने पर नलिका के मुँह से उसके तल तक एक तल या पृष्ठ बन जाता है। काँच की ढक्कनदार रकाबियों का भी प्रयोग किया जाता है जिनको 'पैट्रीडिश' (Petri dish) कहते हैं। इन रकाबियों में द्रव्य के जमने पर समतल पृष्ठ बन जाते हैं। यही खेत है जिनमें जीवाणुओं को बोया और उगाया जाता है। जिस वस्तु के जीवाणुओं को उगाना होता है जैसे श्लेष्मा, नासिका स्राव, किसी व्रण की पूय आदि के, तो एक पतली सुई की नोक को तप्त करके शुद्ध करने के पश्चात् उसको श्लेष्मा, पूय आदि में डुबोकर उससे काँच की नलिका या तश्तरी में जमे हुए द्रव्य के पृष्ठ पर हलकी लकीरें खींच दी जाती हैं। इसी से द्रव्य में जीवाणु पहुँच जाते हैं। यह हुवा जीवाणुओं को बोना।

इसके पश्चात् इन नलिकाओं या तश्तरियों को एक विशेष यन्त्र में जिसमें इच्छित तापक्रम कई दिन तक समान बनाये रख सकते हैं, रख दिया जाता है। इस यन्त्र को इंक्यूवेटर (Incubator) कहते हैं। प्रायः इसके भीतर तापक्रम ३७ या ३८ सैन्टीग्रेड रखते हैं। नलिकाओं का द्रव्य प्रारम्भ में स्वच्छ एक समांशी होता है। किन्तु ४८ या ७२ घंटे के पश्चात् उनका पृष्ठ धुँधला सा हो जाता है। उस पर यतस्ततः श्वेत, मटमैले या अन्य किसी विशेष रंग के धब्बे से बन जाते हैं। ये सब जीवाणुओं के नये उत्पन्न हुए समूह हैं। इनको 'उपनिवेश' (colonies) कहते हैं। कुछ जीवाणुओं की उत्पत्ति में अधिक समय लगता है, कुछ में कम। दो से ७ दिन में प्रायः सब ही जीवाणुओं की उत्पत्ति हो जाती है। यही जीवाणुओं का उगना कहलाता है जिससे उपनिवेश बन जाते हैं। संभव है द्रव्य के पृष्ठ पर कई प्रकार के उपनिवेश बनें जिनके रंग, आकार आदि भिन्न हों। इसका अर्थ है कि श्लेष्मा या पूय में कई प्रकार के जीवाणु थे अतएव विशिष्ट जीवाणु को जानने के लिये भिन्न भिन्न उपनिवेशों से प्रथम

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बार की भाँति जीवाणुओं को लेकर फिर से नई पोषक द्रव्य युक्त काँच की नलिका या तश्तरी में उगाया जाता है। इस प्रकार कई बार किया जाता है जब तक कि एक ही प्रकार के उपनिवेश न उगें। तब इन जीवाणुओं की सूक्ष्मदर्शक द्वारा परीक्षा की जाती है।

३. तीसरी विधि में इन उगे हुये जीवाणुओं को जल में मिलाकर उनको सफ़ेद चूहों (गिनीपिग)की उदर गुहा में या शरीर के अन्य भाग में प्रविष्ट किया जाता है। जन्तु कुछ दिन में रोगग्रस्त हो जाता है। तब शस्त्रकर्म द्वारा उसके शरीर के भीतर उत्पन्न हुये जीवाणुओं को निकाल कर उपर्युक्त विधियों द्वारा उनकी परीक्षा की जाती है।

जीवाणुओं द्वारा रोगोत्पत्ति—

जीवाणु अक्षुण्ण चर्म या श्लेष्मलकला द्वारा शरीर में प्रवेश नहीं कर पाते। वे तब ही प्रविष्ट होते हैं जब त्वचा कहीं पर क्षत हो जाती है, उसमें कोई घाव हो जाता है, चाहे वह क्षत इतना सूक्ष्म हो कि नेत्रों से दीखे भी नहीं। किसी प्रकार चर्म या श्लैष्मिककला के छिन्न हो जाने पर ही वे शरीर के ऊतकों में पहुँच पाते हैं। कुछ जीवाणु भोजन, जल आदि द्वारा आन्त्र में पहुँच कर वहाँ रोग उत्पन्न करते हैं, जैसे टाइफ़ाइड, प्रवाहिका, हैज़े आदि के जीवाणु। वायु के द्वारा भी कुछ जीवाणु फुफ्फुस में पहुँच कर वहाँ रोग उत्पन्न करते हैं। राजयक्ष्मा का जीवाणु इसी प्रकार रोग उत्पन्न करता है। कभी-कभी यह भी होता है कि शरीर के एक भाग में जीवाणुओं के उपस्थित होने पर रक्त उनका संवहन करके दूसरे स्थान या अंग में पहुँचा देता है। इसको स्वतः संक्रमण (autoinfection) कहते हैं।

ये जीवाणु शरीर में पहुँच कर जीव विष (toxins) उत्पन्न करते हैं। ये विष दो प्रकार के होते हैं। एक जीवाणु के शरीर से बाहिर आकर वहाँ के ऊतकों के द्रव्यों में घुलकर सारे शरीर में व्याप्त हो जाते हैं। इनको बहिर्विष (exotoxin) कहते हैं। इनका प्रभाव तुरन्त होता है। शारीरिक लक्षण इन्हीं के कारण होते हैं। इनकी क्रिया स्थानिक भी होती है। जहाँ वे स्थित

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होते हैं वहाँ के ऊतकों को गला देते हैं, नष्ट कर देते हैं। ये ही ज्वर, अरुचि, कोष्ठबद्धता आदि उत्पन्न करते हैं। दूसरे अन्तर्विष (endotoxin) होते हैं जो जीवाणु के शरीर के भीतर रहते हैं और बहुत समय में या बहुत धीमी गति से बाहिर निकलते हैं। इनका शरीर पर प्रभाव होने में बहुत समय लगता है। राजयक्ष्मा का जीवाणु ऐसे ही विष बनाता है।

रोगक्षमता—

जीवाणुओं के पहुँचने पर सदा रोग उत्पन्न नहीं होता। रोग तब ही उत्पन्न होता है जब जहाँ वे पहुँचते हैं वहाँ के ऊतक दुर्बल हों, वे किन्हीं कारणों से क्लान्त हो गये हों। शरीर में रोगों के कारक जीवाणुओं को नष्ट करने की बहुत शक्ति होती है जो रोगक्षमता (Immunity) कहलाती है। प्रथम तो बाहिर के जीवाणुओं को या शरीर के एक प्रदेश के जीवाणुओं को दूसरे प्रदेश के जीवाणु ही नहीं सहन करते। वे उनको नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। फिर शरीर के रक्त ही की रक्षक सेना के योद्धागण, श्वेत कणिकायें जीवाणुओं का भक्षण कर जाती हैं। स्वयं रक्त की प्लाविका (plasma) में जीवाणुओं के लयन कर लेने की शक्ति है। वह जीवाणुओं को बन्दी बना सकता है कि वे कहीं गति ही न कर सकें। फिर शरीर के भीतर जो विस्तृत अन्तर्कलायें (endothelium) हैं उनकी दीर्घ आकार की कोशिकाओं में भी जीवाणुओं को निगल जाने की बड़ी शक्ति है। इन सब साधनों द्वारा शरीर अपने को रोगमुक्त रखता है। जब किन्हीं कारणों से ये सब शक्ति दुर्बल हो जाती हैं, अस्वस्थता से, मृदु रोगों से, उत्तम पौष्टिक आहार न मिलने से या जब जीवाणुओं की संख्या अत्यधिक होती है या वे बड़े प्रचंड होते हैं तब शरीर उनके द्वारा आक्रान्त होता है और तब ही रोग उत्पन्न होता है।

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जब जीवाणु क्रियाशील होकर उत्पत्ति करते-रहते हैं तब ही वे जीवविष या टौक्सिन उत्पन्न करते हैं। जब उनकी उत्पत्ति बन्द हो जाती है जैसा सल्फ़ा और प्रतिजीवियों की क्रिया से होता है, तो जीवविष बनना भी बन्द हो जाते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वाइरस—रोग उत्पन्न करने वाले दो और भी कारण होते हैं। एक को वाइरस (Virus) कहते हैं। दूसरा रिकेट्सिया (Riekettsia) कहलाता है। यह कहना कठिन है कि वाइसरस सजीव या निर्जीव वस्तु है। क्रिस्टल के रूप में उनमें कोई सजीवता के लक्षण नहीं होते। किन्तु कोशिका के भीतर प्रवेश करके वे प्रजनन शक्ति से सम्पन्न हो जाते हैं जो सजीवता का प्रधान लक्षण है। वे निर्जीव और सजीव जगत के बीच की शृङ्खला मालूम होते हैं।

वाइरस इतने सूक्ष्म जीव होते हैं कि वे सूक्ष्मदर्शक से भी नहीं दिखाई देते। उनको देखने के लिये विशेष प्रकार के विद्युत् अणुदर्शी (electron microscope) बनाये गये हैं जिनके द्वारा वे एक लाख गुणा बड़े होकर दिखाई देते हैं। तब कहीं वे छोटे पैकेट या कैप्स्यूल से दिखाई देते हैं। उनमें जीवन का एक ही विशिष्ट लक्षण पाया जाता है, विभजन। उनमें भी जीवाणुओं की भाँति एक के विभाग से दो जीव बन जाते हैं और उनकी संख्या की वृद्धि होती है। इसी कारण उनको जीवित जगत में स्थान दिया गया है। चेचक, छोटी माता, ख़सरा, फ्लू, पोलियोमाइलाइटिस, पीतज्वर, साधारण जुकाम ये सब रोग वाइरसों ही से उत्पन्न होते हैं।

रिकेट्सिया भी ऐसे ही जीव हैं जो वायरस से बड़े किन्तु जीवाणुओं से छोटे होते हैं। इनसे टाइफ़स रोग उत्पन्न होता है। अमरीका के एक भाग में होने वाला Rocky momtam ज्वर का भी यही कारण होते हैं। हमारे देश में ये दोनों रोग नहीं होते।

प्रतिजीवियों की खोज

गत पृष्ठों में कहा जा चुका है कि फफूंदीयुक्त रोटी को लगा देने से घाव भरने का पुराना अनुभव है। ये ही फफूंदी जिनको मोल्ड (mold) कहते हैं प्रतिजीवियों को उत्पन्न करने वाली वस्तु हैं। ये फफूंदी भी जीवित वस्तु हैं। बहुधा वर्षाकाल में रोटी, कटे हुए आलू या अन्य खाद्यों को दो एक दिन खुला रख देने से उन पर श्वेत, मटमैले या नीले से रंग की फुंई या फफूंदी लग जाती

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। यह कवक, फफूंदन या कहीं-कहीं भुकड़ी भी कही जाती है। यदि इनको किसी सुई की नोंक से कुरेदा या फैलाया जाय तो उसमें बहुत बारीक तार से दिखाई देंगे जिनके सिरों पर एक दाना-सा होता है। यह वास्तव में एक फंगस (Fungus) होता है जो वनस्पति वर्ग का एक निम्न श्रेणी का सदस्य है। फंगस अनेक प्रकार के होते हैं। यह एक विस्तृत समूह है जिसका मोल्ड या फफूंदी एक सदस्य है। फफूंदी भी अनेक प्रकार की होती है और अनेक स्थानों में पाई जाती है। पृथ्वी में इनकी बहुत बड़ी संख्या उपस्थित होती है। जहाँ भी वृक्षों की पत्तियाँ या अन्य कारबनिक पदार्थ गिरकर सड़ने लगते हैं। उन पर फफूंदी लग जाती है। कच्ची दीवारों पर, विशेष कर वर्षा ऋतु में, फफूंदी लग जाती है। ये सब फंगस जाति के सदस्य हैं। जो पतले-पतले तार उनको फैलाने पर दीखते हैं वे मायसीलियम (myecillium) कहलाते हैं। यही फंगस जाति की विशेषता है। सूक्ष्मदर्शक द्वारा देखने से उनमें विशिष्ट रचना दिखाई देती है।

ये सब मोल्ड या फफूंदी प्रतिजीवी वस्तुयें बनाती हैं। सारा फंगस वर्ग प्रतिजीवी शक्ति से सम्पन्न है जिसका कारण कोई रासायनिक वस्तु होती है। उनमें से कुछ का पता लग चुका है। किन्तु बहुतों की खोज अभी शेष है और सुदूर के गर्भ में छिपी हुई है। इनमें सबसे प्रथम मालूम होने वाली वस्तु पेनिसिलीन थी। इसके खोज की बड़ी रोचक कहानी है। यह वस्तु सन् १९२८ ई० में मालूम हो चुकी थी किन्तु वैज्ञानिकों का ध्यान न आकर्षित होने से १९४२ तक अन्धकार में छिपी रही और इस दीर्घकाल में अनेकों स्ट्रिप्टो, स्टेफ़िलोकोकस आदि के रोगी मरते रहे।

ऐलेकजेन्डर फ्लेमिंग (Alaxandor Flemnig) नाम के एक जीवाणु-विज्ञान-विशेषज्ञ का नाम पेनिसिलीन के साथ अभिन्नतया संबंधित है। ये महोदय लन्दन के सेन्ट मैरीज अस्पताल में अपनी प्रयोगशाला में एक जीवाणुओं का उद्यान बनाये हुए थे जिसमें नित्य ही सहस्रों प्रकार के जीवाणु कांच की तश्तरियों (petri dishes) में उगाये जाते थे और

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उनकी परीक्षा की जाती थी। सन् १९२८ के सितम्बर मास में एक प्रातःकाल जब वे अपनी प्रयोगशाला में गये तो उन्होंने अपने एक पेट्री तश्तरी रूपी खेत में जहाँ उन्होंने दो दिन पहिले ही कुछ जीवाणुओं को बोया था, अद्भुत दृश्य देखा। उन्होंने देखा कि जहाँ सारे खेत में जीवाणुओं की उत्पत्ति हुई है, मटमैले उपनिवेशों ने सारे पृष्ठ को छाकर धुंधला सा बना दिया है, वहाँ एक स्थान पर हरे-नीले रंग की फफूंदी का एक सूचम गोल क्षेत्र बन गया है और उसके चारो ओर कुछ दूर तक तश्तरी का पृष्ठ स्वच्छ है, जीवाणुओं के उपनिवेशों से मुक्त है। वहाँ जीवाणु उत्पन्न ही नहीं हुए हैं या यदि उत्पन्न हुए थे तो नष्ट हो गये हैं। फ्लेमिंग को यह पहचानने में देर न लगी कि हरे-नीले रंग का जो सूचम पिंड बीच में स्थित था वह फफूंदी थी। किसी प्रकार की फफूंदी का एक कण वायु से उड़ कर उस तश्तरी में पहुँच गया था जो दो दिन में बढ़ कर एक पिंड बन गया। किन्तु उसके चारों ओर का स्थान एक स्वच्छ मंडल की भाँति फफूंदी के पिंड को घेरे हुए था। इसका अर्थ यह था कि फफूंदी के पिंड में कोई ऐसी वस्तु बनी जिसने पिंड के चारों ओर फैल कर जीवाणुओं को नष्ट कर दिया। महाशय फ्लेमिंग इससे बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने उस तश्तरी की बड़ी सावधानी से परीक्षा की। उन्होंने पाया कि फफूंदी का पिंड एक साधारण फफूंदी है जो प्रायः रोटी, फल तथा अन्य भोजनों पर लग जाती है जिसको वनस्पतिविद्या के विशेषज्ञ 'पेनिसिलियम नोटेटम' (Penicillum Notatum) कहते हैं। फ्लेमिंग ने इस फफूंदी के पिंड को अथवा उसके कुछ भाग को तश्तरी के अन्य उपनिवेशों से पृथक् किया और एक नई पोषक द्रव्ययुक्त तश्तरी में उसको रखकर या बोकर उसका संवर्धन किया। तब एक तरल पोषक द्रव्य में उसका संवर्धन किया गया। और इस तरल द्रव्य से जन्तुओं पर प्रयोग किये गये। यदि फफूंदी द्वारा कोई रासायनिक जीवाणुनाशक पदार्थ बना है तो वह इस तरल द्रव्य में अवश्य ही घुल गया होगा। यह विचार कर फ्लेमिंग ने कुछ चूहों में स्ट्रिप्टो और स्टैफिलोकोकाई को प्रविष्ट किया। और जब उनमें रोग के पूर्ण लक्षण प्रगट हो गये तब उस तरल द्रव्य को इन आक्रान्त जन्तुओं के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शरीर में प्रविष्ट किया। परिणाम यह हुआ कि वे सब जन्तु रोगमुक्त हो गये। जिनको यह द्रव्य नहीं दिया गया था उनकी मृत्यु हो गई। फ्लेमिंग ने इन प्रयोगों को कई बार दुहराया और प्रत्येक बार उसको ऐसे ही सन्तोषजनक फल मिले जिससे उसको निश्चय हो गया कि फफूंदी से अवश्य ही कोई ऐसी वस्तु बन कर उस तरल द्रव्य में मिल गई है जिसके प्रभाव से जीवाणु निष्क्रिय हो गये हैं। उसने यह भी पाया कि उस पदार्थ से जीवाणुओं का नाश नहीं होता, उनका स्तंभन हो जाता है जिससे वे निष्क्रिय हो जाते हैं। फ्लेमिंग ने इस पदार्थ को पेनिसिलीन का नाम दिया क्योंकि वह पेनिसिलियम नामक फफूंदी से बनी थी। फ्लेमिंग ने अपने इन प्रयोगों और परिणामों को एक पत्र में प्रकाशित किया और अन्य अन्वेषकों से अनुरोध किया कि इस पदार्थ का महत्त्व देखते हुए वे इस पर विशेष ध्यान दें।

यद्यपि कुछ काम हुआ, किन्तु सन् १९४० तक वैज्ञानिकों ने इस ओर विशेष ध्यान न दिया जब ऑक्सफोर्ड के प्रोफेसर होवर्ड फ्लोरे और चेन (Florey, Chain) ने पेनिसिलियम के संवर्धक तरल द्रव्य से एक हलके पीले रंग का चूर्णवत् पदार्थ पृथक् किया। यह पेनिसिलीन थी जो वास्तव में एक अम्ल है जिससे अब कई प्रकार के लवण तैयार किये जाते हैं। किन्तु उस समय फ्लोरे और चेन केवल एक चाय की चम्मच से भी कम पेनिसिलीन प्राप्त करने में ही सफल हो सके जो शुद्ध भी नहीं थी।

इसी पेनिसिलीन का पहला इन्जेक्शन १२ फरवरी सन् १९४१ में ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के रैडक्लिफ़ अस्पताल में एक रोगी को दिया गया। उसको स्टेफिलोकस का संक्रमण हुआ था और विषम दशा में मरणासन्न था। १०५ ज्वर हो रहा था, विद्रधि बन रहीं थीं। सल्फ़ा योगों से कोई लाभ न हुआ था। उसके जीवन की आशा छोड़ दी गई थी। ऐसी अवस्था में अन्तिम प्रयत्न के रूप में फ्लोरे और चेन की तैयार की हुई पेनिसिलीन का उसको इंजेक्शन दिया गया जिसका उस पर दैवी चमत्कार की भाँति प्रभाव हुआ। ज्वर उतरने लगा, रोगी की दशा सुधरने लगी। शीघ्र ही तापक्रम सामान्य हो गया और वह रोगमुक्त दीखने लगा। किन्तु पेनिसिलीन की

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इतनी मात्रा रोगी को रोगमुक्त करने के लिये पर्याप्त न थी। और अधिक पेनिसिलीन उपलब्ध न थी। अतएव औषधि न मिलने से रोग फिर से उग्र हो गया और उस व्यक्ति ने अपने से पूर्व के लाखों सहरोगियों के मार्ग का अनुसरण किया। किन्तु उससे पेनिसिलीन की उपयोगिता पूर्णतया प्रमाणित हो गई। इससे कितने ही अन्वेषकों ने प्रयोगशालाओं में पेनिसिलीन बनाना आरंभ किया। और कई महीनोंके प्रयत्नों के पश्चात् इतनी पेनिसिलीन तैयार हो पाई कि लन्दन के एक अस्पताल में स्ट्रिप्टोककोसजन्य रोग से मरते हुए एक पन्द्रह वर्ष के लड़के की उससे जान बची और वह संसार का पहला व्यक्ति हुआ जिसने पेनिसिलीन के शस्त्रों द्वारा यमराज के दूतों को मार भगाया था। इससे पेनिसिलीन के अमोघ अस्त्र की संसार में धाक जम गई।

उस समय दूसरा विश्वव्यापी महायुद्ध हो रहा था! सभी देशों के योद्धा संग्राम-क्षेत्रों में आहत हो रहे थे। स्ट्रिप्टो और स्टेफ़िलो के संक्रमण से, सल्फा योगों के प्रयोग होने पर भी, अनेकों की मृत्यु हो रहीं थीं। ऐसे समय में पेनिसिलीन से पदार्थ के मिल जाने से कितनों की प्राणरक्षा हो सकती थी, कितने स्वास्थ्य-लाभ करके फिर से काम के योग्य हो सकते थे, चिकित्सा का कितना व्यय घट जाता और चिकित्सक और सर्जनों को अपने काम में सफलता के लिये कितना बल मिलता।

किन्तु उसके लिये पेनिसिलिन के उत्पादन का उद्योगीकरण आवश्यक था। अभी तक उसको प्रयोगों के लिए ही बनाया गया था। किन्तु चिकित्सा के उद्योग के लिए उसका वृहद् मात्रा में उत्पादन आवश्यक था। १९४३ तक केवल ४०० रोगियों की चिकित्सा के लिए पर्याप्त पेनिसिलिन का निर्माण हो सका था। किन्तु अब कई लाख की और कुछ सयय पश्चात् करोड़ या इससे भी अधिक की चिकित्सा का प्रश्न था।

अतएव इंगलैंड और अमरीका के वैज्ञानिकों और उद्योगपतियों के सहयोग की आवश्यकता थी। सरकारी सहायता अत्यन्त आपेक्षित थी। इस कारण

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इंगलैंड और अमरीका दोनों देशों ने कन्धे से कन्धा जोड़ा। इंगलैंड के वैज्ञानिक अमरीका आये। दोनों देशों के वैज्ञानिकों में परामर्श होने लगे। अमरीका की औषधि-निर्माण करने वाली कितनी ही बड़ी-बड़ी कम्पनियों ने आपस में सान्निध्य स्थापित किया। लैडर्ले, फ़ाइज़र, स्क्विब, मर्क तथा एक दर्जन से अधिक अन्य उस उद्योग के दिग्गजों ने मिलकर निर्माण का का बीड़ा उठाया। उपयुक्त प्रयोगशालाओं को बनाने, उपकरणों से सुसज्जित करने तथा नये-नये यन्त्रों का निर्माण करने में ही ५५ लाख डालर व्यय हुए जिसमें से २५ लाख उद्योगपतियों ने लगाये और ३० लाख डालर अमरीका और इंगलैण्ड की सरकारों ने लगाये। पेनिसिलिन की फफूंदी को उगाने के लिए, उसके संवर्धन के लिए जो तांबे या अन्य धातुओं की टंकी बनाई गई वे दो खंड के मकानों के बराबर ऊँची थीं। इनमें वायु भेजने के लिए, संवर्धन के लिए, पोषक द्रव्यों को भरने के लिए, ताप को उपयुक्त रखने के लिए तथा अन्य अनेक गूढ़ प्रक्रियाओं का सम्पादन करने के लिए नाना प्रकार की कल और पुर्जे लगाने पड़े। धीरे-धीरे इंगलैंड, स्वीडन, स्विटज़रलैंड में भी पेनिसिलिन का निर्माण होने लगा। आज अकेले अमरीका में ५०००० करोड़ मात्रक पेनिसिलिन का निर्माण होता है। अन्य देशों में भी कम से कम इतनी ही पेनिसिलिन का निर्माण समझ लेना चाहिए। जिन कम्पनियों के ऊपर नाम लिखे हैं वे ही पेंसिलिन बनाने वाली विशेष कम्पनियाँ हैं। उनमें भी Chas. Pfiezzer Co. विशेष है।

जिस फफूँदी से प्रथम पेनिसिलीन बनी थी उसके संवर्धक तरल द्रव्य (broth) के एक गैलन से केवल एक मात्रक (Unit) पेनिसिलीन बनती थी। आज जिस फफूँदी से पेनिसिलीन बनती है उसके एक गैलन पोषक द्रव्य से २० मात्रक बनते हैं। इस उत्पादन की वृद्धि के लिये अनेकों प्रयत्न करते पड़े। प्रथम फफूँदी की ऐसी जाति को खोज हुई जो अधिक पेनिसिलीन बनावे। रोटी, शाक, फलों आदि को अनेकों स्थानों से मंगा कर उनकी फफूँदी की परीक्षा की गई। दूर-दूर की भूमि की मिट्टी की परीक्षा हुई। सहस्रों फफूँदियों

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का संवर्धन किया गया। किन्तु उनमें ऐसी कोई फंफूदी नहीं मिली जिससे उत्पत्ति विशेषतया अधिक हो। हाँ फंफूदी को पोषक द्रव्य में डुबोकर संवर्धन करने से एक श्रेणी की फंफूदी ने विशेष कर अधिक पैनसिलीन उत्पन्न की। किन्तु जहाँ फंफूदी पोषक द्रव्य के पृष्ठ पर ही बोई जाती है उसके लिये Penicillium notatum, जो फ्लेमिंग की फफूंदी की ही सन्तति थी और P. Chrysogenum ही का अब भी प्रयोग किया जाता है। इनमें भी यह पाया गया कि ऐक्सरे, अल्ट्रावायोलेट किरणों आदि को डालने तथा कुछ पोषक द्रव्यों में संवर्धन की विधि में परिवर्तन करने से उनमें कुछ ऐसे रूप उत्पन्न हुये कि उनसे संवर्धक तरल द्रव्य की १ सी. सी. में २००० मात्रक पैनिसिलीन उत्पन्न हो गई। किन्तु ऐक्सरे से कुछ ऐसे भी रूप उत्पन्न हुये जिनमें तनिक भी पैनिसिलीन उत्पन्न नहीं हुई।

पेनसिलिनेज़—

प्रकृति में ऐसे भी पदार्थ उत्पन्न होते हैं जो पैनिसिलीन का नाश करते हैं। ये पेनिसिलिनेज़ (Penicillinase) कहलाते हैं। जिन जीवाणुओं पर पेनसिलीन की क्रिया नहीं होती वे सब पैनसिलीनेज़ बना कर पैनसिलीन को निष्क्रिय कर देते हैं। प्रोफेसर चेन ने लिखा है 'जितने पेनसिलीन सह्य जीवाणु हैं वितने ही प्रकार की पैनिसिलीनेज़ हैं। प्रत्येक जीवाणु अपनी विशिष्ट पेनिसिलिनेज़ बनाता है जो दूसरे जीवाणु की पेनिसिलिनेज़ से भिन्न होती है। बहुत बार मिश्रित संक्रमण में कई जीवाणुओं के उपस्थित होने पर जब पैनिसिलीन की क्रिया नहीं होती उसका यही कारण होता है कि वहाँ कुछ पेनिसिलीनेज बनाने वाले जीवाणु होते हैं जिनके कारण पेनिसिलीन निष्क्रिय हो जाती है।

पेनिसिलीन का रासायनिक रूप—

पेनिसिलीन एक अम्ल है जिसके सोडियम या पोटाशियम के लवण तैयार किये जाते हैं जो साधारणतया बाजार में पेनिसिलीन के नाम से बिकते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ये श्वेत तथा हलके पीले रंग के चूर्ण होते हैं जो जल में घुल जाते हैं। यद्यपि स्वयं पेनिसिलीन जल में नहीं घुलती, ईथर तथा कुछ अन्य अकार्बनिक पदार्थों में घुलती है पेनिसिलीन के सोडियम तथा पोटाशियम लवण जल में भली भांति घुल जाते हैं। प्रोकेन मिला कर भी पेनिशिलीन का योग तैयार किया जाता है जो प्रोकेन-पेनिसिलीन कहलाता है।

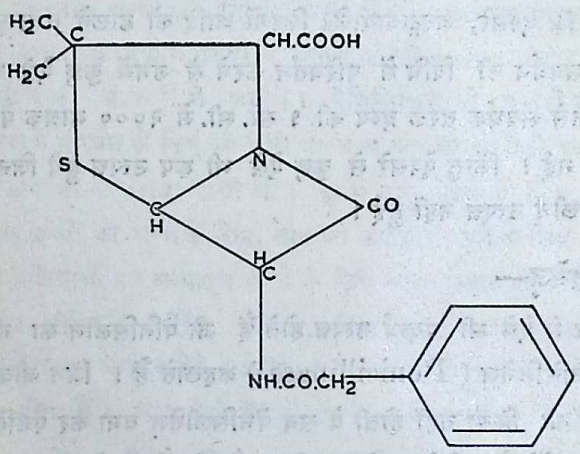

चित्र १६ बैजाइल पैनिसिलिन के अणु की रचना

अब तक ३००० से ऊपर पेनिसिलीन बनाई जा चुकी हैं। किन्तु इनमें से केवल ८ या १० चिकित्सा में उपयोगी प्रमाणित हुई हैं। शेष अत्यन्त विषैली थीं जो रक्त में प्रविष्ट करने के अयोग्य थीं। पांच पेनिसिलीन विशेषकर प्रयोग की जाती है जिनको पेनिसिलीन G. K. X. F. और हाईड्रो-F कहते हैं। इनमें भी G का ही सबसे अधिक प्रयोग होता है।

पेनिसिलीन के रासायनिक संघटन का पूर्ण अध्ययन किया जा चुका है। उसके पश्चात् ही कितनी ही रासायनिक वस्तुओं का उसकी उत्पत्ति पर प्रभाव

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

देखा गया और अब कुछ विशिष्ट रासायनिक पदार्थों की सहायता से उसकी उत्पत्ति की कई गुणा वृद्धि हो गई है।

पेनिसिलीन का अणु सल्फ़ा के अणु की अपेक्षा कई गुणा बड़ा और गूढ़ होता है।

पेनिसिलीन की क्रिया—

यह पहले बता आये हैं कि पेनिसिलीन की विशिष्ट क्रिया ग्राम धन (gram positive) समूह के जीवाणुओं पर तथा ग्राम ऋण समूह में केवल गौनोकोकस और मैनिंगोकोकस और सिफ़िलिस के जीवाणु पर भी होती है।

शरीर में पेनिसिलीन की अत्यधिक मात्रा देने से भी कोई दुष्परिणाम नहीं होते। यकृत, हृदय तथा अंगो पर इसका कोई बुरा प्रभाव नहीं देखा गया है। किन्तु मस्तिष्क में या मस्तिष्क-मेरु-तरल (Cerebrospinal fluid)में उसकी अति मात्रा प्रविष्ट करने से दुष्परिणाम हो जाते हैं। खरगोशों के मस्तिष्क में प्रविष्ट करने से मस्तिष्क का शोफ (Oedema), रक्त स्राव तथा गलन (Necrosis) होने लगे। मेरुतरल में अति मात्रा प्रविष्ट करने पर पशु के पेशियों में वांयढे आने लगे। यह पाया गया है कि केवल अति सांद्रित विलयनों ही से ऐसा होता है। इस कारण मस्तिष्कावरण शोथ (मैनिंजाइटिस) रोग में पेनिसिलीन का तनुविलयन (जल की अधिक मात्रा) बना कर उसको सौषुम्निक नलिका भे प्रविष्ट करते हैं। औषधि की सान्द्रता कम कर देने से ऐसे परिणाम नहीं होते।

सफ़ेद चूहे जिनको गिनीपिग कहते हैं वे पैनिसिलीन को सहन नहीं करते। उन पर उसका बहुत बुरा प्रभाव होता है। साधारण चूहे, खरगोश तथा अन्य जन्तुओं में उसकी अत्यधिक मात्रा से भी कोई हानि के लक्षण नहीं होते। कुछ मनुष्यों को उसके प्रति विशेष असहिष्णुता होती है जिसको ऐलर्जी (Allergy) कहते हैं। इसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

पेनिसिलिन को जल में घोल कर शरीर में प्रविष्ट करने के पश्चात् उसका शीघ्र ही शोषण हो जाता है और वह शरीर के प्रत्येक भाग में पहुँच जाती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किन्तु नेत्र के कार्निया, नेत्र के भीतर का काँच द्रव्य (Vitreons hnmour) तथा लैन्म, मस्तिष्क-सौषुम्निक-मेरु द्रव तथा अस्थिमज्जा में उसकी बहुत कम, नहीं के समान, मात्रा पहुँचती है। अन्य सब अंगों के ऊतकों में पेनिसिलीन विस्तरित हो जाती है। पेनिसिलीन की जीवाणुओं पर तुरन्त क्रिया, उसकी अंगों के ऊतकों में फैल जाने की शक्ति तथा हानिकारक प्रभावों से पूर्णमुक्ति, ये तीनों गुण इसको एक अमूल्य और सर्वप्रिय औषधि बना देते हैं। यह शरीर में अधिक समय तक रहती भी नहीं। इसका ६० प्रतिशत भाग एक घंटे में मूत्र के द्वारा शरीर से निकल जाता है। इस कारण उसके पुनः-पुनः इंजेक्शन देने पड़ते हैं। कुछ ही वर्ष पूर्व प्रति चार घंटे पर इन्जेक्शन दिया जाता था। किन्तु अब ऐसे योग बन गये हैं जिनका २४ घंटे में एक वार इन्जेक्शन पर्याप्त होता है। ऐसे भी कुछ योग हैं जिनका प्रभाव एक सप्ताह तक बना रहता बताया जाता है।

पेनिसिलीन के पूर्ण जीवाणुनाशक प्रभाव होने के लिये रक्त में उसकी उपयुक्त मात्रा आवश्यक समय तक बनी रहनी चाहिये। यही औषधि का रक्त-स्तर (blood level) कहलाता है। यह पाया गया है कि ०·३ मात्रक (1. u) पेनिसिलीन रक्त के प्रति सी. सी. में उपस्थित होना आवश्यक है। ३००००० प्रोकेन पेनिसिलीन के अन्तर्पेशीय या अधस्तक इंजेक्शन से यह रक्त-स्तर १२ घंटे तक बना रहता है। अधिक मात्रा देकर रक्त-स्तर को बढ़ा देने से कोई विशेष लाभ नहीं होता। यदि रक्त में ओषधि का स्तर ०·८ कर दिया जाय तो रोगमुक्ति में वितना ही समय लगेगा जितना ०·३ के स्तर से। पहले यह विचार था कि पैनिसिलिन केवल जीवाणुस्तम्भक है। किन्तु अब यह प्रमाणित हो गया है कि वह जीवाणुनाशक भी है।

पैंसिलीन की क्रिया किस प्रकार होती है—

पैनिसिलीन भी उसी प्रकार क्रिया करती है जिस प्रकार सल्फ़ोनेमाइड औषधियाँ करती हैं। ये भी जीवाणुओं को अपनी आवश्यक जीवन-क्रियायें अर्थात् पूर्ण चयापय नहीं करने देतीं। प्रत्येक जीव या कोशिका अपने लिये

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आवश्यक पोटीनों का निर्माण करती है। ये प्रोटीन अमीनो-अम्लों से बनते हैं। इनका ही फिर से संश्लेषण करके प्रत्येक कोशिका अपने लिये उपयुक्त प्रोटीन तैयार कर लेती है। प्रत्येक कोशिका में केन्द्रक (nucleus) एक अत्यन्त महत्व का भाग होता है जिस पर कोशिका का जीवन निर्भर करता है। केन्द्रक में एक प्रोटीन होती है जो न्यूक्लीक अम्ल (nucleic acid) कहलाती है। जीवाणुओं में यद्यपि केन्द्रक नहीं होता तो भी न्यूक्लीक अम्ल उनके जीवन के लिये आवश्यक है। सब जीवित वस्तुओं के जीवन के लिये, हमारे जीवन के लिये भी ये प्रोटीन इतनी ही आवश्यक है जितनी जीवाणुओं के लिये। अभी तक इसके रहस्य का पता नहीं लग सका है कि इस प्रोटीन में वे कौन से अवयव या गुण हैं जो जीवन का कारण बन जाते हैं, जो जीवन के रहस्य को छिपाये हुए हैं। न्यूक्लीक अम्ल का एक पूर्वरूप राइबो-न्यूक्लीक अम्ल (Ribonucleic acid) है। यह कोशिका या जीवाणु के प्रोटीन संश्लेषण का आधार है। इसीसे न्यूक्लीक अम्ल बन कर जीवाणु को प्रोटीन-संश्लेषण शक्ति देता है। इसके बिना कोशिका इस शक्ति से अथवा यों कहना चाहिये कि जीवनाधार से बंचित हो जाती है। इसी स्थान पर पेनिसिलीन की क्रिया होती है। जीवाणु की जीवन-प्रक्रियाओं की जो लम्बी शृङ्खला है उसकी इस कड़ी को पेनिसिलीन तोड़ देती है। जीवाणु के आवरण या बहिर्भित्ति (cell wall) से राइबोन्यूक्लीक अम्ल के अणु को तो धकेल देती है और उसके स्थान पर स्वयं घुस कर जीवाणु की प्रोटीन संश्लेषण की शक्ति को नष्ट कर देती है जिससे जीवाणु पोषण ग्रहण करने में असमर्थ होकर नष्ट हो जाता है।

कुछ विद्वानों की सम्मति है कि पेनिसिलीन ग्लूटेमिक अम्ल नामक प्रोटीन का शोषण रोक देती है। यह भी जीवन के लिये आवश्यक अमीनो अम्ल है। इसके अणु की रचमा बहुत कुछ पेनिसिलीन के अणु के समान है। अतएव जीवाणु अपने जीवन के लिये आवश्यक ग्लूटेमिक अणु के स्थान में भूल कर पेनिसिलीन का अणु पकड़ लेता है। बस जीवन-प्रक्रियायें उलट जाती हैं और जीवाणु अपनी भूल का भुक्तभोगी हो जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह माना जाता है कि पेनिसिलीन की विशेष क्रिया नव जात शिशु-जीवाणुओं पर ही होती है अर्थात् जब उनकी उत्पत्ति और संख्या वृद्धि हो रही हो। प्रौढ़ या पुराने जीवाणुओं पर इतनी क्रिया नहीं होती। और जन्तुओं की ऊतकों को निर्माण करने वाली कोशिकाओं पर तनिक भी नहीं होती। इसी कारण पैनिसिलीन से उग्र रोगों में अधिक लाभ होता है, जीर्ण रोगों अथवा उन ही उग्र रोगों की जीर्णावस्था में इतना लाभ नहीं होना।

मात्रक (Unit)

पेनिसिलीन की मात्रा को मात्रकों में निर्धारित किया गया है जिस प्रकार भिन्न भिन्न सीरम, इन्स्यूलीन आदि की मात्रा निर्धारित की जाती है। अन्तर्जातीय विधान के अनुसार शुद्ध पेंसिलिन-जी के क्रिस्टलीय सोडियम लवण की ०.६ माइक्रोग्राम (१ मिली ग्राम = १।६६ ग्रेन का १००० वां भाग) पेंसिसिन की जीवाणुनाशक शक्ति को एक मात्रक माना गया है। इस प्रकार एक मिलीग्राम में १९५० से अधिक मात्रक हुए और एक ग्राम में १५ लाख।

मात्रा (Dosage)

पेनिसिलिन की मात्रा रोग की उग्रता और उसके प्रभाव पर निर्भर करती है। जब तक रोगी रोगमुक्त नहीं हो जाता तब तक उसको पेनिसिलिन देना आवश्यक है। इसकी बाजार में १ लाख, २ लाख, ४ लाख, ५ लाख और १० लाख मात्रकों की शिशियाँ मिलती हैं। १२ लाख और ३० लाख मात्रकों की भी शीशियाँ आती हैं जिनसे कई बार या कई रोगियों को इंजेक्शन दिये जा सकते हैं। १२ लाख की प्रोकेन-पेनिसिलीन का सप्ताह में एक बार इंजेक्शन दिया जाता है। रोग की उग्रता के अनुसार १ से ५ लाख तक सोडियम-पेनिसिलन-जी के अन्तर्पेशीय इंजेक्शन प्रति ६: ६: घंटे पर दिये जाते हैं। रोग की सामन्य अवस्था में १ या २ लाख का इन्जेक्शन उपयुक्त है।

कुछ ४ लाख प्रोकेन पेनिसिलिन के इस प्रकार के योग भी आते हैं जिनमें एक लाख क्रिस्टली जी–पेंसिलिन होती है और ३ लाख प्रोकेन पेनिसिलिन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जिसका शोषण धीरे-धीरे होता है, जी–क्रिस्टलीय के समान तुरन्त नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि १ लाख जी पेंसिलिन का तो तुरन्त शोषण होकर उसका रक्त स्तर उपयुक्त हो जाय और संक्रामक जीवाणुओं पर उसकी क्रिया होने लगे और शेष तीन लाख प्रोकेन पेंसिलिन का धीरे-धीरे शोषण होता रहे जिससे उसका अभीष्ट रक्त स्तर अक्षुण्ण बना रहे। इस विधि से २४ घंटे तक स्तर बना रहता है और औषधि की सन्तोषजनक क्रिया होती रहती है। किन्तु अत्युग्र विषम दशाओं में इस पर निर्भर नहीं करना चाहिए।

पेनिसिलिन खिलाई भी जाती है। इसके लिए विशेष टिकियाँ बनी हुई आती हैं। खाने से आमाशय का आम्लिक पाचक रस इसके कुछ भाग को नष्ट कर देता है। इस कारण इंजेक्शन की अपेक्षा ३ से ६ गुणा अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। पेंसिलिन–V इसके लिए विशेष उपयुक्त है। ऐल्यूमिनियम पेनिसिलिन, जो ऐल्यूमिनियम के लक्षण के साथ होने के कारण शीघ्र नहीं घुलती उसकी ५०००० कात्रक की टिकियां आती हैं। साधारण पेनिसिलिन की १ से १।२ लाख मात्रक तक की टिकिया बिकती हैं।

पेनिसिलीन का चिकित्सा में उपयोग

गत पृष्ठों में पेनिसिलीन के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा जा चुका है उससे पेनिसिलीन के चिकित्सा में उपयोग का बहुत कुछ आभास मिल गया होगा। यह बताया जा चुका है कि सब ग्राम धन जीवाणु पेनिसिलीन के शहीद हैं, उसके सामने सर झुका देते हैं और उससे विलीन हो जाते हैं। ग्राम ऋण वर्ग के दो जीवाणुओं का भी पेनिसिलीन के तेज से अस्तित्व मिट जाता है। गोनोकोकस, गनोरिया पैदा करने वाला और मैंनिगोकोकस मैनिंजाइटिस उत्पन्न करने वाला, उन दोनों का भी इस संबन्ध में उल्लेख किया जा चुका है। ग्राम-धन समूह में अनेक भयंकर रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु हैं। स्ट्रिप्टोकोकाई, स्टेफ़िलोकोकाइ प्रायः शरीर के सब ही अंगों में शोथ, व्रण तथा यूयोत्पादन करते हैं। उदर में पर्युदर्या शोथ (peritonitis), उण्डुक शोथ (appendicitis), पित्ताशयशोथ (cholecystitis) तथा अन्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

घातक रोग उत्पन्न करते हैं। इनके साथ अन्य जीवाणु भी इनकी सहायता के लिये पहुँच जाते हैं। न्यूमोकोकस फुफ्फुस प्रदाह, जिसको साधारणतया नियोनिया कहा जाता है, उत्पन्न करता है। कई प्रकार के जीवाणु समान लक्षण उत्पन्न कर सकते हैं। स्ट्रिप्टो, स्टेफ़िलो तथा दोनों मिलकर उपर्युक्त रोग उत्पन्न कर सकते हैं। स्ट्रि० हीमोलिटिक्स शोथ और यूयोत्पादन के साथ ऐसी तीव्र विषाक्तता अथवा रक्त-पूतिता (septicemia) उत्पन्न करता है कि रोगी मरणासन्न हो जाता है। ये हृदयान्तर्कला शोथ (endocardits) भी उत्पन्न कर देते हैं। गैसयुक्त कोथ (Gar garg-rene) तथा ऐन्थ्रैक्स भी ऐसे ही प्रचंड घातक रोग हैं जो ये जीवाणु उत्पन्न करते हैं। विसर्प (erysipelas) जिसमें अधिकतर रोगी मृत्यु का ग्रास होते थे, प्रसूति ज्वर, घावों में पीप का पड़ना, मध्यकर्ण शोथ (otitis-media) जिससे मस्तिष्कावरण का शोथ, कपालान्तर्गत रक्त नालों में शोथ (sinusitis) तथा मस्तिष्क में विद्रधि बन सकती हैं, अस्थि मज्जा शोथ तथा अस्थि विद्रधि आदि विषम रोग इसी वर्ग के जीवाणु उत्पन्न करते हैं। इन सबके लिए पेनिसिलिन प्रथम औषधि है। इसके आविष्कार के पूर्व इनमें से बहुतों को असाध्य माना जाता था। पर अब चिकित्सक दृढ़ विश्वास के साथ उनकी सफल चिकित्सा करने में समर्थ हैं। डिप्थीरिया में पेंसिलिन अभीष्ट लाभदायक सिद्ध नहीं हुई है।

सिफ़िलिस की चिकित्सा में पेनिसिलिन का उपयोग बताया गया है। आजकल प्रारंभ होते ही उसकी पेनिसिलिन द्वारा चिकित्सा की जाती है।

पेनिनिसिलिन के समान अन्य भी कई प्रतिजीवियों का आविष्कार हो चुका है। यद्यपि खोज बहुतों की हुई है जिनकी संख्या ३००० से भी ऊपर होगी किन्तु उनमें से आठ दस ही विशेष उपयोगी पाई गई हैं। उनका संक्षिप्त वर्णन आगामी पृष्ठों में किया गया है। सल्फ़ा योग, पेनिसिलिन तथा अन्य प्रतिजीवी सब ही जीवाणुओं पर क्रिया करते हैं। अतएव चिकित्सक रोग की चिकित्सा के लिए उपयुक्त औषधि को चुनते समय भ्रम में पड़ जाता है। उसको उपयुक्त योग चुनना कठिन हो जाता है। अतएव उसके पथ-प्रदर्शन के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लिए आगे चलकर एक सारणी दी गई है जिसमें रोग, उसके उत्पादक जीवाणु तथा जो औषधि उस रोग के लिए सर्वोत्तम हैं वह अंकित है। इससे विदित होगा कि कुछ जीवाणुओं के लिए सल्फ़ा अधिक उपयोगी है, कुछ के लिए पेनिसिलिन और कुछ के लिए अन्य प्रतिजीवी अधिक सफल प्रमाणित हुए हैं।

पेनिसिलिन का रोग को रोकने के लिए प्रयोग—

रोगों को रोकने के लिए भी पेनिसिलिन का प्रयोग किया जाता है। पूयजन्य अवस्थाओं में तथा शोथ में, एक अंग से दूसरे अंग में रोग के विस्तार को रोकने के लिए पेनिसिलिन के इंजैक्शन दिये जाते हैं। आन्त्र के शस्त्र कर्म में रोगी को पेनिसिलिन खिला कर आन्त्र प्रान्त को शुद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है जिससे आगे चलकर शोथ आदि न हो सके।

पेनिसिलिन का स्थानिक प्रयोग—

सल्फोनेमाइड की भाँति पेनिसिलिन का भी स्थानिक उपयोग किया जाता है। चूर्ण को घावों पर छिड़कने से उनकी पूय शीघ्र ही सूख जाती है। शस्त्र कर्म के पश्चात् घाव में पेनिसिलिन चूर्ण भर देने से वे जीवाणुओं द्वारा आक्रान्त नहीं होते, पूयोत्पादन से मुक्त रहते हैं। और उनके किनारे शीघ्र ही जुड़ जाते हैं। चर्म के घावों में पेनिसिलिन का मरहम बना कर लगाया जाता है। किन्तु यह निश्चय कर लेना चाहिए कि घाव को उत्पन्न करने वाले पेनिसिलिन से आहत होने वाले जीवाणु हैं या नहीं।

पेनिसिलिन का घोल बनाकर उसको नेत्र शोथ, कार्निया के व्रण तथा अश्रुकोष (Lacrimal sac) के रोगों में प्रयोग किया जाता है। कान बहने में उसको कान में डालना लाभदायक है। ऐसे घोल और मरहम बने हुए आते हैं।

पेनिसिलिन के कुछ अन्य रूप—

१. बेंजेथीन पेनिसिलिन-जी—इसको बिसिल्लिन (Bicillin) भी कहा जाता है। इसकी क्रिया दीर्घकालिक है। इसकी ३ लाख और ६ लाख

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मात्रक की शीशियाँ आती हैं। इसके एक अन्तर्पेशीय इन्जेक्शन से कई दिन तक उसका पर्याप्त रक्त स्तर बना रहता है। इस कारण जीर्ण अवस्थाओं में यह अधिक उपयोगी है।

२. हाइड्राब्रामीन पेनिसिलिन-जी (कम्पोसिल्लिन)—यह पेनिसिलिन 'जी' के साथ दो और रासायनिक रूपों का मिश्रण है। इसकी क्रिया बेन्जेथीन ही के समान है। इसका प्रयोग मुँह द्वारा किया जाता है। उग्र अवस्था के लिए प्रथम मात्रा ३ से ६ लाख की खिलाई जाती है और फिर ४ या ६ घन्टे पर उसके प्रभाव के अनुसार शेष मात्रायें दी जाती हैं।

३. फिनौक्सी मिथाइल पेनिसिलिन (V-Cillin)—इसको साधारणतया पेनिसिलिन कहा जाता है। इसको एक विशेष प्रकार के पोषक द्रव्य से तैयार किया जाता है। यह एक आम्लिक योग है। इस कारण खिलाने से आमाशयिक रस की इस पर क्रिया नहीं होती। यह आन्त्र में क्षारीय रसों में घुलती है। इसकी क्रिया मुख से खिलाने पर पेनिसिलिन-जी की अपेक्षा अधिक समय तक होती रहती है और रक्त स्तर भी शीघ्र ही उन्नत हो जाता है। इस कारण मूत्र द्वारा उत्सर्जन भी शीघ्र ही होने लगता है। इसकी मात्रा २ से ४ लाख तक का एक कैप्सूल दिन में तीन बार है। किन्तु उग्र अवस्थाओं में पेनिसिलिन-जी ही इंजेक्शन द्वारा प्रयोग करना उत्तम है।

४. पेनिसिलिन-वी पोटासियम (V-Cilliu-K)—यह वी—पेनिसिलिन का पोटासियम का लवण है। इसकी ग्रहणी में तुरन्त और पूर्ण घुलनशीलता इसके विशेष गुण हैं। यह आमाशय से निकल कर पक्वाशय में पहुँचते ही वहाँ के क्षारीय द्रव्यों में तुरन्त घुल जाती है और क्षुद्रान्त्र के प्रथम भाग ही में इसका पूर्ण शोषण होकर उसका शीघ्र ही उपयुक्त रक्त स्तर हो जाता है जो जी-पेंसिलिन से ४ गुणा अधिक होता है। इसके २ लाख और ४ लाख के मात्रकों के केप्सूल खाने के लिए आते हैं। २००००० के एक केप्सूल खाने के एक घण्टे पश्चात् ६ से ८ मात्रक प्रति सी० सी० का रक्त स्तर पहुँच जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

५. पैंनेथिमेट हाइड्रायोडाइड पेंसिलिन ए० एन०—इसको ऐस्टोपेन (Estopen) भी कहते हैं। यह बैंज़ाइल पेंसिलिन के अणु में रासायनिक क्रियाओं द्वारा कुछ अवयव जोड़ कर बनाई जाती है। यह विशेषकर फुफ्फुस में एकत्र होती है। इस कारण फुफ्फुस के रोगों में इसका विशेष प्रयोग किया जाता है।

६. प्रोकेन पेंसिलिन—इसका पहिले वर्णन किया जा चुका है। इसके एक भाग का शोषण धीरे-धीरे होता है किन्तु एक लाख मात्रक का शीघ्र ही हो जाता है। इस कारण इसकी क्रिया अधिक समय तक होती रहती है।

मूंगफली के तेल में भी पेंसिलिन का योग बनाया जाता है। ऐल्यूमिनियम मोनोस्टियरेट मिला देने से उसका शोषण मन्द गति से होता है।

पेनिसिलिन की विषाक्तता—

१ से २ प्रतिशत व्यक्ति पेनिसिलिन के प्रति असहिष्णु पाये जाते हैं जिनको पेनिसिलिन के प्रयोग से कई प्रकार के कष्ट हो जाते हैं। ज्वर, शरीर पर चकत्ते निकल आना, जिह्वा तथा कपोलों की भीतरी कला का शोथयुक्त हो जाना कितने ही रोगियों में मिलते हैं। किन्तु प्रायः वे ऐसे रोगियों में मिलते हैं जो कुछ समय से पेनिसिलिन का प्रयोग कर रहे हैं। मुख से खाने से इन्जेक्शनों की अपेक्षा यह दशा कम उत्पन्न होती है। यह दशा एलर्जी (Allergy) कहलाती है। कुछ व्यक्तियों में स्वभावतः ही यह दशा उपस्थित हो सकती है जैसे अन्य औषधियों के लिए भी उपस्थित मिलती है।

पेनिसिलिन अन्य सब प्रतिजीवियों की अपेक्षा कम विषैली है अथवा विषैली है ही नहीं। ९० या ९५ प्रतिशत व्यक्तियों को सामान्य मात्रा से २० गुणा अधिक मात्रा देने से भी कोई हानि नहीं होती। किन्तु ५ से १० प्रतिशत में उपर्युक्त के समान दशा उत्पन्न हो जाती है। अन्य दशायें जो उत्पन्न हो सकती हैं ये हैं—पाचन विकार, उदर शूल या दस्तों का आना, ऐंठन, आध्मान, सिर दर्द, हाथों पाँवों पर सूजन, खुजली, चर्मशोथ, जोड़ों या पेशियों में दर्द,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अरुचि, चक्कर आना तथा ईओसिनोफ़िलिया (eosinophilia) अर्थात् रक्त में ईओसीन श्वेत कणिकाओं (Eoinophils) की वृद्धि।

ये लक्षण प्रायः अल्पस्थायी होते हैं। पेनिसिलिन को बन्द करने पर जाते रहते हैं। कुछ विद्वानों ने रिपोर्ट की है कि पेनिसिलिन को जारी रखने पर ये लक्षण कम हो गये। बेनाड्रिल (benadryl) अथवा अन्य हिस्टामीननाशी वस्तु जैसे पायरीबेंजामीन (pyribenzamine) को प्रयोग करवाने से ये लक्षण तुरन्त शान्त हो जाते हैं।

क्या पेनिसिलीन से मृत्यु हो सकती है ?

ऐसे केस भी रिपोर्ट किये गये हैं जहाँ पेनिसिलीन के इन्जेक्शन से कुछ मिनटों से लेकर २ से ४ घंटों के भीतर मृत्यु हो गई है। एक विद्वान् ने सन् १९५३ से १९५७ के बीच में १२०० ऐसे रोगियों का वृत्तान्त एकत्र करके छापा है जिनमें पेनिसिलिन से अति तीव्र दशायें उत्पन्न हो गई थीं, रोगी मरणासन्न हो गये थे। इनमें से ३०० की दशा के अन्य कारण थे, ९०० में पेनिसिलिन ही उत्तरदायी थी। इन ९०० में से ८०० का अनाफ़िलेक्सिस (anaphylaxis) स्तब्धता हुई और ७२ की मृत्यु हुई, ५० को रक्त विकार हुए, ४५ के शरीर में जहाँ-तहाँ मस्तिष्कीय कारणों से शोथ हो गया और ८० के चर्म पर चकत्ते निकल आये। अनाफ़िलेक्सिस ऐसी दशा है जो सीरम या अन्य जैवी पदार्थों के प्रति शरीर में उत्पन्न हो जाती है। इन वस्तुओं के कुछ समय तक शरीर में प्रविष्ट होने से रुधिर में उन वस्तुओं को नष्ट करने वाली प्रतिवस्तुयें (Antibodies) बन जाती हैं। जब इनकी मात्रा अधिक हो जाती है तो फिर से इन्जेक्शन द्वारा प्रविष्ट हुए रक्षक पदार्थों (सीरम आदि) का ये प्रतिवस्तुयें एक दम नाश कर डालती हैं और उनके नाश से उत्पन्न हुई हिस्टेमीन तथा अन्य प्रोटीन पदार्थ शरीर पर ऐसा घातक प्रभाव डालते हैं कि शरीर उनसे आक्रान्त हो जाता है। इससे मृत्यु तक हो सकती है। यह दशा न केवल प्रतिजीवियों से उत्पन्न होती है वरन् सीरम से और भी अधिक होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ऐसी वस्तुओं का इन्जेक्शन देने से पूर्व इस दशा का पता लगाया जा सकता है। प्रथम रोगी की पूर्व दशा का इतिहास पूछना चाहिए। जो वस्तु उसको देनी है उसके इन्जेक्शन पहले रोगी ने लिये हैं या नहीं। यदि लिये हैं तो और भी परीक्षा करनी होगी। उस औषधि की अति न्यून मात्रा, १।८ या १।१० सी० सी०, सूचिका द्वारा चर्म के नीचे प्रविष्ट करो और १० मिनट तक चुपचाप बैठो। यदि यह दशा रोगी में उपस्थित होगी तो इस समय में कोई न कोई लक्षण प्रगट हो जायेंगे। खुजली आना, चर्म पर सूजन के प्रान्त, जी मिचलाना, पेट में ऐंठन, चक्कर आना आदि मालूम हों तो रोगी को एड्रिनेलिन हाइड्रोक्लोर (adrenalin hydrochlor) के १:१००० के लोशन की ½ सी० सी० का तुरन्त इन्जेक्शन दे दो तथा उस औषधि के इन्जेक्शन का विचार छोड़ दो। रोगी में उसके लिए पूर्ण असहिष्णुता है। वह उसको नहीं सहन कर सकता। उससे अनर्थ हो जाने का डर है।

यद्यपि यह दशा उन्हीं में उत्पन्न होती है जिनको पहिले उस विशिष्ट वस्तु के इन्जेक्शन लग चुके हैं तथापि ऐसे व्यक्तियों का भी उल्लेख किया गया है जिनमें पहले इंजेक्शन के पश्चात् ही इसी प्रकार की तीव्र दशायें उत्पन्न हो गईं। ये विषम दशायें इंजेक्शन के कुछ मिनट ही के भीतर अकस्मात् आरम्भ हो जाती हैं और कुछ ही मिनटों में भयंकर रूप धारण कर लेती हैं। स्तब्धता (Shock) के गाढ़े लक्षण चेहरे पर दिखाई देने लगते हैं। माथे पर ठंडा पसीना आ जाता है। नेत्र भीतर धँसे हुए से और गाल बैठे दिखाई देते हैं। विशेष घटना यह होती है कि रुधिर दाब (Blood pressure) कम हो जाता है। श्वास धीमा और कष्ट से आता है और चेहरे पर नीलिमा (Cyanosis) प्रगट हो जाती है। रोगी अचेतन हो जाता है। कुछ रोगियों को बांयठे आने लगते हैं। कुछ मिनटों से लेकर २४ घण्टे में मृत्यु हो जाती है। यदि समय मिल सके तो हिस्टेमीन नाशी औषधियों को दिया जाय और रुधिर दाब बढ़ाने का तुरन्त प्रबन्ध किया जाय। अन्तःशिरीय ग्लूकोज, प्लाज्योसान या सामान्य लवण विलयन का शिरा द्वारा आधान जितना शीघ्र किया जा सके, उत्तम है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस दशा को रोकने का सबसे उत्तम उपाय यह है कि पेनिसिलिन का प्रयोग केवल वहीं किया जाय जहाँ आवश्यक हो। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि जितना दुरुपयोग पेनिसिलिन का और कुछ सीमा तक अन्य प्रतिजीवियों का तथा सल्फ़ा औषधियों का किया जाता है वह अक्षम्य और निन्दनीय है। अन्य किसी देश में इतना दुरुपयोग नहीं होता जितना हमारे देश में होता है। वहाँ ये औषधियाँ इतने सहज में प्राप्त नहीं होतीं जितनी हमारे देश में मिल जाती हैं। यहाँ तो तनिक-तनिक सी बात में पेंसिलिन चलने लगी है। तनिक ज्वर हुआ पेनिसिलिन दे दिया। जुकाम, दस्त, गला दुखना, टांगों में दरद आदि सभी दशाओं में पेनिसिलिन का इंजेक्शय दे दिया जाता है। रोगी को उससे कोई लाभ नहीं होता और औषधि का व्यर्थ नाश होता है। साथ ही ऐसी भयंकर दशाओं की संभावना बढ़ जाती है।

पेनिसिलिन की सहिष्णुता—

पेनिसिलिन की थोड़ी मात्रा को अधिक दिनों तक प्रयोग करने से कितने ही जीवाणुओं में सहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है। वे पेंसिलिन को सहन कर लेते हैं, उससे नष्ट नहीं होते। उसका उन पर प्रभाव नहीं होता। पिछले दस वर्ष में इस घटना को अधि[illegible] गया है। जिस वर्ग के जीवाणु पहिले पेनिसिलिन से आहत हो जाते थे वे अब पेनिसिलिन को सह लेते हैं। इसका समाधान दो प्रकार से किया जाता है। एक तो संभावना यह है कि जीवाणुओं का पेनिसिलिन द्वारा आहत होने वाला वर्ग धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। पेनिसिलिन से वे नष्टप्राय हो चुके हैं और अब केवल वही वर्ग रह गया है जो पहले ही से पेनिसिलिन को सहने वाला था, उससे प्रभावित न होता था। उसी परिवार के जीवाणु अधिकतर रोगों का कारण होते हैं।

दूसरी संभावना यह है कि पेनिसिलिन की थोड़ी मात्रा से जीवाणु आहत तो होते नहीं, उनकी जीव[illegible] प्रक्रिया बदल जाती है और उनके इंजाइम क्रम के परिवर्तन से जीवाणुओं के अन्य रूप उत्पन्न होने लगते हैं जो पेनिसिलिन का निराकरण करने में समर्थ होते हैं, उसके प्रभाव का प्रतिरोध करते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

एक्स-रे या अल्ट्रावायोलेट किरणों के प्रभाव से तथा पेंसिलिन की थोड़ी मात्रा को संवर्धक द्रव्य में मिला देने से ऐसे ही रूप उत्पन्न हो जाते हैं जो पितृ जीवाणुओं से भिन्न होते हैं। वे पेनिसिलिन सहिष्णु होते हैं। स्ट्रिप्टोमाइसिन में ऐसा और भी अधिक होता है।

फिर भी यह घटना इतनी विस्तृत नहीं है जितना इसका डर था। कुछ समय पूर्व वैज्ञानिक और उद्योगपति घबरा उठे थे कि कहीं पेनिसिलिन की शक्ति जाती ही न रहे और वह बिलकुल निष्फल न हो जाय। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। कुछ जीवाणुओं को छोड़कर अन्य भयंकर जीवाणुओं—स्ट्रिप्टोकोकस हीमोलिटिक्स आदि—पर पेनिसिलिन का पहिले ही के समान प्रभाव होता है। पेनिसिलिन-जी (साधारणतया प्रयुक्त होने वाली) वैसा ही इन जीवाणुओं पर प्रभाव डालती है जैसा पहले डालती थी। निमोनिया तथा गोनोरिया के जीवाणुओं पर पेनिसिलिन की वैसी ही स्वच्छन्द क्रिया होती है। मैनिंगोकोकस भी उसी प्रकार पेनिसिलिन से आहत होते हैं।

रोग कितने ही प्रकार के जीवाणुओं तथा अन्य कारणों से उत्पन्न हो सकते हैं। वाइरस से उत्पन्न हुए रोगों में पेनिसलीन तथा अन्य प्रतिजीवी औषधियों से कोई लाभ नहीं होता। इनकी वाइरस पर कोई क्रिया नहीं होती। कितने ही रोग तीन-चार दिन में स्वयं ठीक हो जाते हैं। किन्तु इन रोगों में भी सल्फ़ा योगों तथा प्रतिजीवियों का चिकित्सकों द्वारा बहुत प्रयोग होता है। इससे एक लाभ अवश्य होता है कि वाइरस के साथ उपस्थित बेसिलस, कोकाई आदि उपद्रवों (complications) को नहीं उत्पन्न कर पाते। वाइरस जन्य रोग अपनी अवधि लेकर ठीक हो जाता है और रोगी अन्य जीवाणुवों से उत्पन्न होने वाले उपद्रवों से बच जाता है। किन्तु प्रत्येक रोग में, प्रत्येक अवस्था में इन औषधियों के प्रयोग की सराहना नहीं की जा सकती। इनसे जो सहिष्णुता उत्पन्न होती है वह रोगी के लिये वास्तविक आवश्यकता पड़ने पर भयंकर या प्राणान्तक प्रमाणित हो सकती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

टाइरोथ्राइसीन (Tyrothrycin)

पेनिसिलीन से पूर्व भी एक प्रतिजीवी पदार्थ रोकीफैलर इन्स्टीट्यूट के एक ड्यूवो नामक विद्वान् ने सन् १९३९ में बनाया था, जिसको उन्होंने ग्रामिसिडीन (Gramicidin) कहा था। क्योंकि उसकी क्रिया ग्रामधन जीवाणुओं पर होती थी। यह पदार्थ फफूँदी से न बनाकर एक बेसिलस ब्रेविस (Bacilus brevis) नामक जीवाणु से बनाया गया था। ड्यूवो ने अपने सूक्ष्मदर्शक से देखा कि यह एक दण्डाणु है जो गोल कोकस या गोलाणु पर चिपट जाता है और उसको गला देता है। अधिक अन्वेषण से मालूम हुआ कि ग्रामिसिडीन के साथ एक और पदार्थ भी मिला हुआ था जिसको टाइरोसिडीन (Tyrocidine) कहा गया। अतएव ग्रामिसिडीन और टाइरोसिडीन के मिश्रण को ड्यूवो ने टाइरोथ्राइसीन (Tyrothricin) का नाम दिया।

टाइरोथ्राइसीन एक अत्यन्त प्रबल जीवाणुनाशक वस्तु प्रमाणित हुई। ग्रामधन जीवाणु का इससे शीघ्र ही नाश हो जाता था। जितने प्रयोग किये गये उनसे ऐसे ही परिणाम निकले। अतएव इस वस्तु से वैज्ञानिकों को बहुत आशायें बँध गईं। किन्तु जब मनुष्यों को यह वस्तु इन्जेक्शन से प्रयोग करवाई गई तो वह अत्यन्त विषैली प्रमाणित हुई। उसकी थोड़ी सी मात्रा से विषम लक्षण प्रगट हो गये। अतएव उसके प्रयोग का विचार ही छोड़ दिया गया।

किन्तु टाइरोथ्राइसीन के स्थानिक प्रयोग से कोई हानि नहीं होती। इन्जेक्शन द्वारा रक्त में पहुँचने पर ही उसके विषैले प्रभाव होते हैं। इस कारण उसका घावों में स्थानिक प्रयोग किया जाता है। उसका चूर्ण घावों पर छिड़का जाता है। लोशन बनाकर उससे घावों का प्रक्षालन किया जाता है तथा उसमें गोज़ को भिगोकर घावों में रखते हैं।

ड्यूवो के इस आविष्कार की बहुत ख्याति हुई। फ्लेमिंग भी इससे प्रभावित हुआ। उसने अपना पेनिसिलीन का काम और भी उत्साह से

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आरम्भ किया और एक वर्ष पश्चात् ही पेनिसिलीन को पृथक् करने में फ्लोरे और चेन सफल हुये।

स्ट्रिप्टोमाइसीन (Streptomycin)

ड्यूबो के कार्य से एक और विद्वान् जो उसका शिक्षक भी रह चुका था उसको भी उत्तेजना मिली। Selwan waksman रुजर्स विश्वविद्यालय में कृषिविद्या विभाग का प्राध्यापक था जो भूमि में उपस्थित जीवाणु, फँफूदी, फंगस आदि का अध्ययन किया करता था। २५ वर्ष से वह इसी कार्य में लगा हुआ था। ड्यूबो भी उसका शिष्य रह चुका था। ड्यूबो के कार्य को सुनकर उसको यह विचार उत्पन्न हुआ कि संभव है कि भूमि के भीतर के जीवाणु या फंगस जिनका वह अध्ययन करता रहा है उनमें से भी कुछ रोगनाशक शक्ति से सम्पन्न हों। अतएव उसने एक सहस्र से अधिक भिन्न स्थानों की भूमि से मिट्टी मंगा कर उसको जल में घोल कर उनका संवर्धन किया। जिस प्रकार जीवाणुओं को पोषक द्रव्यों में मिला कर इन्क्यूबेटर में रख कर संवर्धन किया जाता है उसी प्रकार अनेक स्थानों से एकत्रित मिट्टी के नमूनों का भी संवर्धन किया गया और उसके पश्चात् जिस द्रव्य में उनका संवर्धन किया गया था उसकी जांच की गई। इस प्रकार १००० नमूनों से दस या बारह ऐसे पदार्थ मिले जिनकी चिकित्सा में उपयोगिता की संभावना थी। इनमें से एक वस्तु थी जिसको स्ट्रिप्टोथ्राइसीन कहा गया था। किन्तु टाइरोथ्राइसीन की भांति इसको भी अत्यन्त विषैला पाया गया। इसके पश्चात् ही सन् १९४४ में स्ट्रिप्टोमाइसीन का पता चला। इसकी खोज में वाक्समान के साथ शाज़ और बुगी (Schatz and Bugie) के नाम भी संबंधित हैं।

स्ट्रिप्टोमाइसीन तथा अन्य भी कितने ही विशिष्ट प्रतिजीवी जीवाणुओं या फफूँदियों से न बनकर एक जाति की बनस्पति में उपस्थित पाये गये हैं जिसको एक्टिनोमाइकोसीज़ (Actinomycoces) कहा जाता है। ये भी अत्यन्त निम्नतर वर्ग की वनस्पति हैं जो फफूँदी या जीवाणु से पृथक् हैं, किन्तु

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ये फंगस वर्ग ही के सदस्य हैं। इनके लम्बे-लम्बे दंड से होते हैं जिनमें कई भाग होते हैं। ये तंतु सरीखे लम्बे भाग myecillium कहलाते हैं। ये प्रायः भूमि में होते हैं। इनके लम्बे तारों के समान भाग से शाखायें निकलती हैं और उन्हीं की वृद्धि से ये भूमि में फैल जाती हैं। स्ट्रिप्टोमाइसीन को बनाने वाली एक्टिनोमाइकौसीज़को स्ट्रिप्टोमाइसीज़ ग्रिसियस (Streptomyces griscius) कहते हैं। वाक्समान ने १९१२ में इसका वर्णन किया था।

स्ट्रिप्टोमाइसीन ग्राम-धन और ग्राम ऋण दोनों वर्गों के कुछ जीवाणुओं पर क्रिया करती है। राजयक्ष्मा के जीवाणु (B. Tuberculosis) पर उसकी क्रिया होती है। इसी प्रकार के पदार्थ अन्य जीवाणु, फफूंदी आदि से बनते हैं जिनकी राजयक्ष्मा के जीवाणु पर घातक क्रिया होती है। बेसिलस सटिलिस समूह द्वारा उत्पन्न की हुई सब्टिलिन (Subtilin), ऐस्पर्गिल्लिस फ्यूमीगेस फंगस द्वारा निर्मित फ्यूमिगिसिन (Fumigicin) तथा ऐक्टिनोमाइसीज़ समूह द्वारा तैयार की हुई एक्टिनोमाइसीन, स्ट्रिप्टोथ्राइसीन, स्ट्रिप्टोमाइसीन, नियोमाइसीन, सीरोमाइसीन, ओक्सोमाइसीन तथा ईलायोमाइसीन सब राजयक्ष्मा जीवाणु की मारक वस्तुएँ हैं। कोई कम कोई अधिक। ऐक्टिनोमाइसीज़ का समूह मनुष्य के लिये अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित हुआ है। इनके पृथक् पृथक् वर्गों द्वारा बनाई हुई वस्तुयें अन्य जीवाणुओं, गोलाणु, दण्डाणु आदि पर क्रिया करने वाली प्रमाणित हुई हैं। कुछ का वर्णन आगामी पृष्ठों में किया गया है।

स्ट्रिप्टोमाइसीन का रूप

स्ट्रिप्टोमाइसीन के सल्फेट या क्लोराइल लवण स्ट्रिप्टोमाइसीन के नाम से बिकते हैं। ये श्वेत रंग के या कुछ पीलापन युक्त श्वेत रंग के चूर्ण होते हैं जिसकी १ ग्राम मात्रा की शीशियाँ बाजार में मिलती हैं। ये लवण जल में अत्यन्त घुलनशील होते हैं। आर्द्रता को तुरन्त सोखते हैं और द्रवने लगते हैं। इनमें गन्ध नहीं होती। इसका स्वाद कुछ कड़ुवा होता है। चूर्ण रूप में ये बहुत समय तक—दो वर्ष तक—उत्तम दशा में रहते हैं। किन्तु जल में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

घोल देने पर वे ७ दिन से अधिक नहीं रहते और उनको रेफ्रीजरेटर में रखना आवश्यक हो जाता है।

डाईहाइड्रोस्ट्रिप्टोमाइसीन

स्ट्रिप्टोमाइसीन के घोल में हाइड्रोजन को पास करने से यह योग तैयार हो जाता है। पहले इसमें कई प्रकार के लाभ समझे जाते थे। इसको कम विषैला माना जाता था। किन्तु अनुभव से दोनों में कोई अन्तर नहीं मालूम होता। कर्ण पर इन दोनों का प्रभाव पड़ता है। किन्तु जहाँ स्ट्रिप्टोमाइसीन का कर्ण के समतोलक विभाग (Vestibular) पर अधिक प्रभाव होता है और चक्कर आना, चलने में लड़खड़ाना आदि अवस्थायें उत्पन्न हो जाती हैं, डाईहाइड्रोस्ट्रिप्टोमाइसीन श्रवण विभाग (Cochler division) को अधिक प्रभावित करती है जिससे बधिरता उत्पन्न हो जाती है।

स्ट्रिप्टोमाइसीन की क्रिया और चिकित्सा में उपयोग

स्ट्रिप्टोमाइसीन की विशेष क्रिया राजयक्ष्मा के जीवाणु, कुष्ठ के जीवाणु तथा कुछ अन्य ग्राम ऋण जीवाणुओं पर होती है। जो ग्राम-धन जीवाणु पेनिसिलीन के सह्य हो जाते हैं वे भी स्ट्रिप्टोमाइसीन से आहत होते हैं। किन्तु तीन या चार महीने से अधिक प्रयोग करने से जीवाणुओं में सहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है और फिर उन पर इसकी भी क्रिया नहीं होती। कुछ जीवाणु तो स्ट्रिप्टोमाइसीन के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि वह उनका खाद्य बन जाती है। स्ट्रिप्टोमाइसीन से उनकी वृद्धि होती है।

स्ट्रिप्टोमाइसीन का प्रयोग केवल इंजेक्शन द्वारा हो सकता है। मुँह से खाने से, यद्यपि आमाशय के आम्लिक रस से पेनिसिलीन की भाँति उसका निराकरण नहीं होता, उसका आन्त्र द्वारा अत्यल्प शोषण होता है। उसका ८० प्रतिशत भाग आन्त्र में पहुँचकर मल के साथ निकल जाता है। उससे आन्त्र के बहुत से जीवाणु, उपयोगी जीवाणु भी, नष्ट हो जाते हैं। इस कारण आन्त्र के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शस्त्र कर्मों के पूर्व भी कुछ दिन तक उसको खिलाया जाता है जिससे वह स्थान संक्रमित न होने पाये।

इन्जेक्शन देने के १ से ३ घंटे के भीतर स्ट्रिप्टोमाइसीन का रक्त-स्तर उपयुक्त सान्द्रता प्राप्त कर लेता है। २४ घंटे में ८० प्रतिशत भाग मूत्र द्वारा निकल जाता है।

मात्रा

संक्रामक रोगों में एक ग्राम स्ट्रिप्टोमाइसीन प्रत्येक २४ घंटे में दी जाती है। किन्तु यह देख कर कि इसका रक्त स्तर शीघ्र ही कम हो जाता है आधा ग्राम प्रातः और आधा ग्राम संध्या को देना उत्तम होता है। उग्र अवस्थाओं में २ से ४ ग्राम तक चौबीस घंटे कई मात्राओं में विभक्त करके प्रति ६ घंटे पर अन्तःपेशीय इन्जेक्शन द्वारा दिया जा सकता है। इतनी विषम अवस्था न होने पर १ से २ ग्राम पर्याप्त है।

अल्पकाल तक प्रयोग के लिये डाइहाइड्रो रूप अधिक उपयुक्त है। किन्तु अधिक समय तक जब देना हो तो साधारण स्ट्रिप्टोमाइसीन ही प्रयोग करना चाहिये।

राजयक्ष्मा की चिकित्सा के सम्बन्ध में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा।

वायोमाइसीन (Viomicin)

इस प्रतिजीवी वस्तु को कई अन्वेषण कर्त्ताओं ने स्वतः-स्वतः सन् १९५१ में ट्रिप्टोमाइसीज़ फ्लोरिडियस, स्ट्रि० केलीफोर्नियस, स्ट्रि० विनेसियस तथा स्ट्रि० पुनेसियस नामक ऐक्टिनोमाइसीज़ जाति की वनस्पतियों से तैयार किया था। इसका वायोमाइसीन सल्फेट लवण ही प्रयोग किया जाता है।

यह एक श्वेत रंग की चूर्ण वस्तु है जो शुष्क अवस्था में दो वर्ष तक सक्रिय बनी रहती है। जल में घोल देने पर इसको रेफ्रीजरेटर में रखने पर एक सप्ताह तक सक्रियता बनी रहती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह योग विशेषकर राजयक्ष्मा के जीवाणु पर सक्रिय है। किन्तु स्ट्रिप्टोमाइसीन की अपेक्षा इसकी क्रिया कुछ दुर्बल होती है। इसको ऐसे रोगियों में विशेष उपयोगी पाया गया है जो स्ट्रिप्टोमाइसीन के अति दीर्घ काल तक प्रयोग से उसके सहिष्णु हो जाते हैं। स्ट्रिप्टोमाइसीन की भाँति इसको भी सदा PAS आदि के साथ प्रयोग करवाया जाता है।

इसका प्रयोग भी इन्जेक्शन द्वारा किया जाता है। मुँह से खिलाने से कोई लाभ नहीं होता। इसकी मात्रा २ ग्राम प्रति तीसरे दिन उपयुक्त है। इस मात्रा को आसुत जल में या आसुत लवण विलयन में घोलकर उसका नितम्ब प्रान्त में अन्तःपेशीय इन्जेक्शन दिया जाता है। दूसरी विधि यह भी है कि एक मात्रा को घोलकर उसको ४ समान भागों में बाँटकर एक एक भाग का प्रति बारह घण्टे पर इन्जेक्शन दिया जाता है।

वायोमाइसीन की विषाक्तता भी विशेष कर कर्ण तथा वृक्क को प्रभावित करने वाली है। कुछ अन्य एलर्जी के लक्षणों का भी उल्लेख किया गया है। किन्तु उपर्युक्त मात्रा का उल्लङ्घन न किया जाय तो उपद्रवों की अधिक सम्भावना नहीं रहती।

नियोमाइसीन (Neomycin)

नियोमाइसीन को प्रथम वाक्मान और लिकवेलियर ने सन् १९४९ में स्ट्रि० फ्रेडी (Streptomyces fradie) से बनाया था। यह एक भास्मिक (Basic) योग है जो अम्ल के साथ संयोग करके लवण बना देता है। इसके सल्फेट लवण का प्रयोग किया जाता है। इसमें वास्तव में तीन प्रकार की वस्तुयें मिली रहती हैं जिनको आविष्कर्त्ताओं ने नियोमाइसीन–ए, बी और सी कहा है।

नियोमाइसीन को प्रयोगशालाओं में परीक्षा करने पर राजयक्ष्मा जीवाणु पर क्रियाशील पाया गया। इस कारण राजयक्ष्मा की चिकित्सा में सफलता की इससे बहुत कुछ आशा हुई। किन्तु जब मनुष्यों में इसका प्रयोग किया

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गया तो वह अत्यन्त विषैली प्रमाणित हुई। उसने वृक्क को बहुत हानि पहुँचाई। बहुतों को बहरा बना दिया। इस कारण उसके प्रयोग की आशा छोड़ दी गई और अन्वेषणकर्त्ता हतोत्साह होकर उसको छोड़ बैठे।

किन्तु कुछ अन्वेषकगण फिर भी लगे रहे और अन्त में उन्होंने एक ऐसी वस्तु निकाल ली जो यद्यपि राजयक्ष्मा के जीवाणु के प्रति उदासीन थी, किन्तु आन्त्र के जीवाणुओं की प्रबल शत्रु थी। नियोमाइसीन को बैसिट्रेसिन के साथ मिलाकर बच्चों के प्रवाहिका रोग(Infantile diarrhoea) तथा एमीबा-जन्य अतिसार में बहुत लाभदायक पाया गया। इसको नियोबेसिन कहा गया। किन्तु यह भी नियोमाइसीन के नाम से बिकती है। इस प्रकार नियोमाइसीन को विशेषकर बेसिलस प्रोटियस (B. Proteud vulgaris) वल्गेरिस का प्रबल शत्रु पाया गया।

नियोमाइसीन का घावों में प्रयोग किया जाता है। आन्त्र के रोगों में तथा शस्त्र कर्म के लिये आन्त्र की शुद्धि करने के लिये इसकी टिकियाँ प्रति ६-६ घण्टे पर खिलाई जाती हैं। इसका मरहम भी प्रयोग में आता है।

दीर्घोपयोगी प्रतिजीवी (Broad spectrum antibiotles)

इन वस्तुओं को यह नाम इस कारण दिया गया है कि उनका प्रभाव ग्राम-धन, ग्राम-ऋण जीवाणुओं पर और रिकेट्सिया पर भी होता है। कुछ वाइरसों पर भी थोड़ा प्रभाव होता है। अतएव उनका उपयोग दीर्घ है, अधिक विस्तृत है। अंग्रेजी में इनको ब्रोड-स्पेक्ट्रम ऐण्टीबायोटिक्स कहा जाता है। ये निम्नलिखित चार वस्तु हैं :—

क्लोरेम्फिनिकोल (Chloramphinicol)
क्लोरटेट्रासाइक्लीन (Chlortetracycline)
ऑक्सीटेट्रासाइक्लीन (Oxytetracycline)
टेट्रासाइक्लीन (Tetracycline)

इन चारों पदार्थों को एक ही समूह में रखा गया है। इनकी क्रिया एक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

समान होती है। चारों ही का प्रभाव दोनों प्रकार के जीवाणु, रिकेट्सिया तथा थोड़ा बड़े-बड़े वाइरसों पर भी होता है। चिकित्सा में ये अत्यन्त उपयोगी पाये गये हैं। जहाँ रोगोत्पत्ति का कारण मिश्रित हो, कई प्रकार के जीवाणु मिले हों, वहाँ इनका प्रयोग विशेष लाभदायक है।

क्लोरेम्फिनिकोल

सन् १९४६ में अमरीका की पार्क डेविस एण्ड कम्पनी की प्रयोगशाला में यह वस्तु वेनेज्युला देश से लाई हुई मिट्टी में उपस्थित ऐक्टिनोमाइकोसीज़ से बर्कहोल्डर नामक विद्वान द्वारा तैयार की गई थी। इसी कारण इस ऐक्टिनोमाइसीज़ को स्ट्रिप्टोमाइसीज़ वेनेज्युली (Streptomyces venezulae) कहा गया। संवर्धक तरल द्रव्य (broth inttmre) में उसको उगाने से उसके श्वेत या मटमैले रंग के लम्बे-लम्बे सूई के आकार के क्रिस्टल बने। इस पदार्थ को क्लोरमाइसिटीन का नाम दिया गया। तरल द्रव्य जिससे इस पदार्थ को प्राप्त किया गया था तथा क्लोरमाइसिटीन का घोल बना कर उनको चूहों पर प्रयोग किया गया। इससे उनमें प्रविष्ट किये हुये ग्रामधन जीवाणु नष्ट हो गये। तब ग्राम-ऋण समूह का कुकर खाँसी का जीवाणु (Hemophilus pertusis) प्रविष्ट किया गया। इससे चूहों की मृत्यु हो जानी चाहिये थी। किन्तु इस वस्तु को खिलाने से सब बच गये। यह रोग छोटे बच्चों को विशेषकर होता है और अत्यन्त दारुण होता है जिसके उपद्रवों से मृत्यु तक हो जाती है।

इसी वर्ष में बोलीविया देश के एक नगर में टाइफ़स ज्वर बड़े वेग से फैल रहा था। अनेक रोगी अस्पतालों में पड़े हुये थे जिनमें से बहुत से विषम दशा में थे। पार्क डेविस कम्पनी ने अपने एक कर्मचारी को, जितनी भी क्लोरमाइसिटीन उनकी प्रयोग शाला में बनी थी उसको लेकर भेजा। औषधि केवल २२ रोगियों के लिये पर्याप्त थी। जिन रोगियों को यह औषधि मिल सकी, सब रोग मुक्त हो गये। शेष में से अनेक की मृत्यु हो गई। किन्तु रोग मुक्त हुये रोगियों में कुछ ऐसे थे जिनके तापक्रम के चार्ट शेष से भिन्न थे।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पीछे से छान बीन करने से पता चला कि ये टाइफ़स के रोगी नहीं थे, वे टाइफ़ाइड से ग्रस्त थे। इस प्रकार टाइफ़ाइड या आन्त्रिक ज्वर की एक अनुपम औषधि मालूम हो गई जिसकी अभी तक कोई औषधि नहीं थी। इस औषधि से ८ से १० दिन में टाइफाइड का ज्वर उतर जाता है और रोगी का बल भी शीघ्र ही लौट आता है।

कुछ विद्वानों के अनुसार क्लोरमाइसिटीन की उत्पत्ति प्रकृति में नहीं होती। केवल शुद्ध की हुई भूमि में या प्रयोगशालाओं में संवर्धन करने पर होती है।

क्लोरम्फिनिकोल या क्लोरमाइसिटीन का अणु अन्य प्रतिजीवी योगों में सब से छोटा होता है। इसका अध्ययन सन् १९४८ में किया गया था और उसके पश्चात् क्लोरमाइसिटीन को प्रयोगशालाओं में रासायनिक विधियों द्वारा तैयार किया गया। इसके रंग रहित या श्वेत रंग के क्रिस्टल का एक ग्राम ४०० सी० सी० जल में घुलनशील होता है। अलकोहल में पूर्णतया घुलनशील हैं। इनका स्वाद कड़वा होता है। इसके अणु में क्लोरीन का भाग रहता है।

क्लोरमाइसिटीन की क्रिया

इसकी क्रिया विशेष कर ग्राम-ऋण जीवाणुओं पर होती है यद्यपि कुछ ग्रामधन जीवाणु पर भी उसको सक्रिय पाया जाता है। राजयक्ष्मा के जीवाणु पर उसकी अत्यल्प क्रिया होती है। इसकी विशिष्ट क्रिया टाइफाइड के जीवाणु पर होती है जो फ्लेजिला (flajella सूक्ष्मतन्तु सरीखे) से युक्त होते हैं। यह वस्तु जीवाणु स्तंभक है, जीवाणु नाशी नहीं।

अन्वेषणों से पता चला है कि क्लोरमाइसिटीन भी पेंसिलीन की ही प्रकार क्रिया करती है। वह जीवाणु की प्रोटीन-संश्लेषण की शक्ति को नष्ट कर देती है और वह भी ग्लूटैमिक अम्ल के शोषण को रोक देने का फल होता है।

अन्य प्रतिजीवियों की भाँति क्लोरमाइसिटीन के प्रयोग से प्रतिरोधी या सहिष्णु रूप जीवाणुओं की उत्पत्ति शीघ्र नहीं होती और चिकित्सक के लिये कोई समस्या नहीं उत्पन्न होती।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्लोरमाइसिटीन का प्रयोग मुँह द्वारा होता है। उसका शीघ्र ही अंत्रियों से शोषण हो जाता है। एक तीन ग्राम की मात्रा खिलाने से दो घटे में रक्त में उसका अत्युच्च स्तर पहुँच जाता है जो दस घंटे के पश्चात् तक भी सक्रिय रहता है। जितनी क्लोरमाइसिटीन खिलाई जाती है उसका ९० प्रतिशत भाग २४ घंटे में मूत्र द्वारा निकल जाता है।

मात्रा

क्लोरोमाइसिटीन के ५०, १०० और २५० मिलीग्राम चूर्ण के कैप्सूल मुँह से खिलाने के लिये आते हैं। प्रथम मात्रा शरीर भार के प्रतिकिलोग्राम (१ किलोग्राम = २.२ पौंड = १.१ सेर) के लिये ५०—७५ मिलीग्राम देनी चाहिये। अर्थात् ६० सेर शरीर भार वाले व्यक्ति के लिये ३००० मिलीग्राम होनी चाहिये। प्रायः इतनी मात्रा में नहीं दी जाती। दैनिक प्रयोग में २५० मिलीग्राम के ४ कैप्सूल प्रति ६ घंटे पर दिये जाते हैं। रोग के उग्र होने पर एक कैप्सूल प्रति ३ या ४ घंटे पर दिया जा सकता है जब तक लक्षण कम न होने लगें। कुल १० से १५ ग्राम क्लोरमाइसिटीन (१ ग्राम = १००० मि० ग्राम) पर्याप्त समझी जाती है। मात्राओं में ८ घंटे से अधिक अन्तर न होना चाहिये।

चिकित्सा में प्रयोग

टाइफाइड के लिये यह औषधि अद्वितीय प्रमाणित हुई है क्योंकि वहाँ द्वितीय कोई है ही नहीं। उपर्युक्त मात्रा में उसका प्रयोग वांछित है।

उसके अतिरिक्त अन्य बहुत से रोगों में भी यह अत्यन्त सफल औषधि है। ऊपर कहा जा चुका है कि न केवल सब प्रकार के जीवाणु वरन् रिकेट्सिया और वाइरस जन्य भी बहुत से रोगों में यह कार्यकर होती है। कोकस और वाइरस जन्य दोनों प्रकार के निमोनिया में, मूत्र मार्ग के रोगों में, कुकुर खांसी, तथा पैनिसिलीन-सहिष्णु जीवाणु जन्य रोगों में भी इसके द्वारा सफल चिकित्सा की जाती है। गोनोरिया, रिकेट्सिया जन्य टाइफस ज्वर तथा अन्य रतिज दशाओं के लिये भी यह अत्युत्तम औषधि है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विषाक्तता

जन्तुओं को इस औषधि की बड़ी-बड़ी मात्रायें खिलाई गई हैं। किन्तु बहुत समय तक खिलाने पर भी कोई विषाक्तता के लक्षण नहीं उत्पन्न हुये—चूहों में प्रयोगों द्वारा २४२ मि० ग्राम प्रति किलोग्राम शरीर भार की घातक मात्रा (Lethal dare) पाई गई है। प्रोफेसर रथ्यूवनर ने कुछ कुत्ते के पिल्लों को दो वर्ष में १०० मि० ग्राम प्रति किलोग्राम शरीर भार की ११५० मात्रायें खिलाईं। किन्तु उन पिल्लों के रक्त में या अस्थियों में कोई परिवर्तन नहीं मिला। केवल उनका शरीर भार कुछ कम हो गया जिसका कारण क्षुधाह्रास था।

मनुष्य में औषधि के प्रयोग से जो सामान्यतया लक्षण पाये जाते हैं उनमें कोई भी चिन्ताजनक नहीं होता। जी मिचलाना, मुँह सूखना, मुँह में कड़ुवा स्वाद और कभी-कभी वमन, आमाशय में पीड़ा तथा पतले दस्त आना ये ही सामान्य लक्षण होते हैं। वे औषधि को बन्द या कम करने पर जाते रहते हैं

क्लोरोमाइसिटीन सन् १९४७ से प्रयोग हो रही है। इसके विषैले प्रभावों का अन्वेषण करने के लिये अमरीका की नेशनल रिसर्च काउन्सिल ने जो कमेटी नियुक्त की थी उसका अनुमान है कि सन् १९५८ तक कम से कम ८० लाख रोगियों को यह औषधि प्रयुक्त करवाई जा चुकी है। प्रथम पाँच या छः वर्षों में उनके दुष्परिणाम या उसके हानिकारक प्रभावों की किसी ने रिपोर्ट नहीं की। प्रथम बार सन् १९५२ में कुछ ऐसे रोगियों का उल्लेख किया गया जिनकी क्लोरोमाइसिटीन के कुछ काल तक प्रयोग करने के पश्चात् रक्तविकारों से मृत्यु हो गई। कुछ में रक्त में कणिकाओं की संख्या कम हो गई, कुछ में शरीर में रक्त जहाँ-तहाँ जमने की घटना हुई। इनकी खोज करने पर कमेटी ने रिपोर्ट किया 'क्लोरोमाइसिटीन के कारण इन दुष्परिणामों के होने का सन्तोषजनक प्रमाण नहीं मिलता। उन व्यक्तियों ने अन्य कितनी ही औषधियाँ खाई थीं। किन्तु यह सम्भावना के बाहिर नहीं है कि कुछ दशाओं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में, विशेषतया असहिष्णु व्यक्तियों में, क्लोरोमाइसिटीन के प्रयोग से विषम रक्त परिवर्त्तन उत्पन्न हो जाँय'।

इससे यह चेतावनी अवश्य ही लेनी चाहिये कि क्लोरमाइसिटीन का प्रयोग केवल तभी किया जाय जब वह अत्यावश्यक हो। जब तक रोग उग्र न हो तथा रोगी की अवस्था विषम न हो तब तक उसका प्रयोग रोगी के हित में नहीं है। यदि चिकित्सक पूर्ण अध्ययन किये बिना, हानि लाभ समझे बिना उसका रोगी से प्रयोग करवाता है तो वह एक निंदनीय कर्म करता है। क्लोरमाइसिटीन के प्रयोग को केवल दो ही उपयुक्त दशायें हैं, एक टाइफ़ाइड में, जिसके लिये कोई अन्य औषधि है ही नहीं, और दूसरे उन दशाओं में जब रोगी अन्य प्रतिजीवियों के प्रति सहिष्णु हो गया हो और सल्फ़ायोगों का प्रभाव ही न होता हो।

टैट्रासाइक्लीन

सन् १९४७ में डग्गर (Daggar) ने एक ऐक्टिनोमासीन का वर्णन किया जिसको उन्होंने स्ट्रिप्टोमाइसीज़ औरियोफेसियेन्स (Strepto. Auriofaciens) का नाम दिया। इसको एक स्थान की मिट्टी में पाया गया। जब इस मिट्टी से थोडी को संवर्धक द्रव्य में उगाया गया तो स्वर्ण के समान रंग की एक फफूँदी उत्पन्न हो गई। इसके रंग के कारण इसका यह नामकरण हुआ। इसी के द्रव्य से क्लोरटैट्रासाइक्लीन को पृथक् किया गया। इसको साधारणतया **औरोमाइसीन** कहा जाता है। यह खोज लैडर्ले कम्पनी की प्रयोगशालाओं में हुई और वहीं औरोमाइसीन बनी। इस समय तक क्लोरमाइसिटीन इतनी मात्रा में नहीं बन पायी थी कि वह पूर्णतया चिकित्सा के लिये बाजार में उपलब्ध होती। औरोमाइसीन इस समय तक बाज़ार में आ चुकी थी और अत्यन्त उपयोगी पाई गई थी। यद्यपि यह टाइफ़ाइड जीवाणु पर क्रिया नहीं करती, किन्तु उसको बिसूचिका (Cholera) के जीवाणु पर अत्यन्त क्रियावान पाया गया। बहुत से अन्य जीवाणुओं पर भी उसकी उत्तम क्रिया होती है। इसके तीन वर्ष के पश्चात्

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सन् १९५० में आक्सीटैट्रासाइक्लीन बनी जिसको फाइजर कम्पनी की प्रयोगशाला में फ़िनले नामक विद्वान् ने स्ट्रिप्टोमाइसीज़ राइमोसस (Strepto. Rimosus) से बनाया। यह टैरामाइसीन के नाम से बिकती है। तीसरी वस्तु टेट्रासाइक्लीन है जिसको ऐक्रोमाइसीन के नाम से पुकारा जाता है। क्लोरटैट्रासाइक्लीन से इसको बनाया गया।

रासायनिक रूप—इन तीनों वस्तुओं का रासायनिक संगठन बहुत कुछ समान है। टैट्रासाइक्लीन के एक अणु में क्लोरीन का परमाणु जोड़ देने से क्लोरटैट्रासाइक्लीन बन जाती है और OH को जोड़ देने से आक्सी

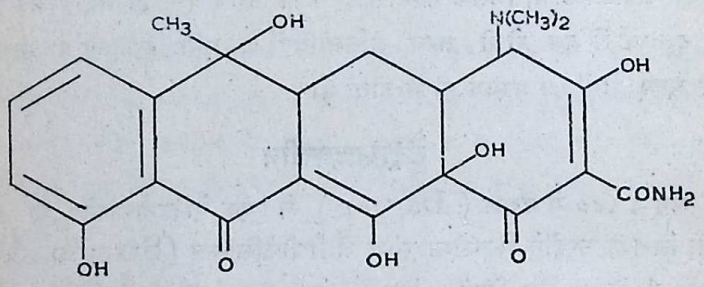

चित्र १७—टैट्रासाइक्लीन का अणु

टेट्रासाइक्लीन तैयार होती है। किन्तु वास्तव में बनाने की विधि इससे विरुद्ध है। पहले क्लोरटैट्रासाइक्लीन बनाई जाती है। इससे क्लोरीन के परमाणु को निकाल देने से टैट्रासाइक्लीन बनती है। इसी विधि से इस पदार्थ को तैयार किया जाता है। इन तीनों पदार्थों के रासायनिक संगठन का ज्ञान प्राप्त करके उनके रासायनिक सङ्केत सन् १९५२ में प्रकाशित कर दिये गये थे। अन्य प्रतिजीवियों की अपेक्षा ये सङ्केत साधारण और विचित्र हैं।

टैट्रासाइक्लीन या ऐक्रोमाइसीन—यह एक पीले रंग का क्रिस्टलीय चूर्ण होता है। इसके दो योग बन जाते हैं, एक सोडियम का लवण होता है और दूसरा औक्सीटैट्रासाइक्लीन हाइड्रोक्लोराइड, इसी का प्रयोग होता है। इसका एक ग्राम २ सी. सी. जल में घुलता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मात्रा—०·२५ से ०·५ ग्राम के कैप्सूल प्रति छः घंटे पर खाने को दिये जाते हैं। हाइड्रोक्लोराइड योग का ही उपयोग किया जाता है। इसका रक्त स्तर शीघ्र उपयुक्त हो जाता है और शरीर के उतकों में पहुँचकर वहाँ

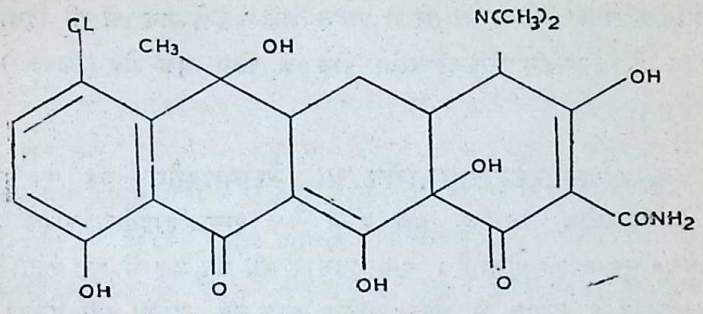

चित्र १८—क्लोरटैट्रासाइक्लीन का अणु

के तरल द्रव्यों में घुल कर वह अधिक स्थायी होता है जिससे उसकी क्रिया अधिक काल तक होती रहती है। बच्चों को प्रति एक सेर शरीर-भार के लिये १० से २५ मिलीग्राम प्रति ६-८ घंटे पर देना उपयुक्त है। फ़ोस्फेट लवण भी बनाया गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार उसका शोषण अधिक शीघ्र

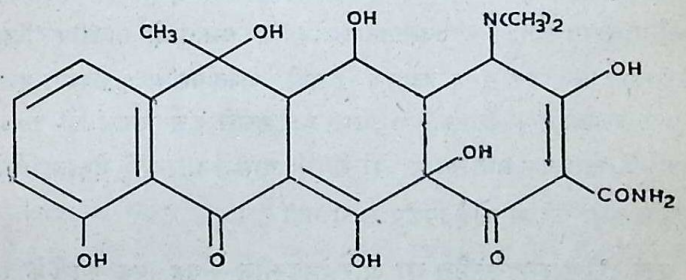

चित्र १९—ऑक्सीटैट्रासाइक्लीन का अणु

होता है और वह रक्त में भी अधिक समय तक उपस्थित रहता है। कुछ विद्वान् टैट्रासाइक्लीन को सोडियम मैटाफ़ोस्फेट के साथ मिलाकर देते हैं जिससे उनके अनुसार औषधि का अधिक समय तक प्रभाव बना रहता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुछ इस प्रकार के योग भी बनाये गये हैं जिनको ऐक्रोमाइसीन—V और सूमाइसीन आदि नामों से संबोधित किया जाता है।

ऐक्रोमाइसीन (हाइड्रोक्लोराइड) को ०·२५ से ०·५ ग्राम की मात्रा में प्रति ६ से १२ घंटे के अन्तर से अन्तःशिरीय इञ्जेक्शन से भी दिया जा सकता है। इसकी टिकियाँ तथा पीने के लिये एक पेय (शर्बत) भी आता है।

औक्सीक्लोरटैट्रासाइक्लीन या टैरामाइसीन—यह एक पीले रंग का क्रिस्टलीय गंधरहित चूर्ण होता है। इसका हाइड्रोक्लोराइड योग अत्यन्त घुलनशील होता है। एक ग्राम २ सी. सी. जल में घुल जाता है। किन्तु घुलने के पश्चात् ये घोल अधिक काल तक स्थायी नहीं होते। वे शुष्क अवस्था में धूप और आर्द्रता से बचाकर रखने पर बहुत समय तक सुरक्षित रहते हैं।

मात्रा—इसके ०·२५ से ०·५ ग्राम को प्रति ६ घंटे पर रात दिन दिया जाता है किन्तु चौबीस घंटे में चार ग्राम से अधिक न देना चाहिये। इसको जल के साथ खिलाया जाता है। इसके साथ तरल द्रव्यों का अधिक मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। ज्वर उतर जाने के पश्चात् दो या तीन दिन तक इसी मात्रा को जारी रखा जाय। इसको अन्तःपेशीय इञ्जेक्शन द्वारा भी दिया जा सकता है। किन्तु ०·५ ग्राम या इससे कम मात्रा को १०० सी. सी. जल में घोल कर प्रति बारह घंटों में दो बार में धीरे-धीरे देना उचित है। इञ्जेक्शन द्वारा देने से कोई विशेष लाभ नहीं है।

क्लोरटैट्रासाइक्लीन या औरोमाइसीन—यह एक स्वर्ण के समान पीले रंग का क्रिस्टलीय चूर्ण है। इसका भी एक हाइड्रोक्लोराइड योग बनता है जिसका एक ग्राम ७५ सी. सी. जल में घुलता है। इसका दूसरा रूप सोडियम लवण अधिक स्थायी नहीं होता।

मात्रा—इसकी मात्रा ०·२५ ग्राम है। उग्र दशाओं में ०·५ ग्राम दिया

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जा सकता है। प्रति ६ घंटे पर मुँह द्वारा यह मात्रा दी जाती है और लक्षणों के शमन हो जाने के पश्चात् २ दिन तक जारी रखी जाती है।

इससे उदर में ऐंठन होना या पतले दस्त होना आदि उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। इस कारण आवश्यक होने ही पर ०·२५ ग्राम से अधिक मात्रा दी जाय। प्रत्येक मात्रा के साथ दूध देना उपयोगी पाया गया है।

टैट्रासाइक्लीनों की क्रिया—तीनों टैट्रासाइक्लीनों की क्रिया समान है। ग्राम-धन, ग्राम-ऋण जीवाणु, रिकेटसिया तथा कुछ वाइरस पर भी इनकी प्रबल क्रिया होती है। इसी कारण इनको दीर्घोपयोगी (Broad spectrum) प्रतिजीवी कहा जाता है। मैंनिगोकोकस, गोनोकोकस, आन्त्र वैसिलाई (B. Coli), जीवाणुजन्य तथा ऐमीबाजन्य प्रवाहिकायें, ऐन्थ्रेक्स, सिफ़िलिस, टाइफस (तथा उसके अन्य रूपों में), वाइरसजन्य निमोनिया तथा मूत्रोत्सर्गी तन्त्र के रोग जनक जीवाणुओं पर इनकी उत्तम क्रिया होती है। इस परिच्छेद के अन्त पर दी हुई सारणी में पैंसिलीन, स्ट्रिप्टोमाइसीन तथा क्लोरमाइसिटीन की क्रियाओं की तुलना की गई है। राजयक्ष्मा के जीवाणु पर इन साइक्लीनों की क्रिया नहीं होती।

इनकी क्रिया की विधि क्या है, किस प्रकार ये जीवाणु के शरीर पर घातक प्रभाव डालती हैं, यह अभी तक नहीं मालूम हो सका है। विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि इनकी क्रिया की विधि पैनिसिलीन या स्ट्रिप्टोमाइसीन से पृथक् है। इनमें अन्य प्रतिजीवियों की अपेक्षा आक्सीजन (OH समूह) अधिक है। संभव है आक्सीजन की अधिकता ही इनकी क्रिया का कारण हो।

मुँह से खाने के दो से चार घंटे के भीतर इनका द्रुत गति से शोषण होकर शीघ्र ही उपयुक्त रक्त-स्तर पहुँच जाता है और छः घंटे तक वैसा ही बना रहता है। तीनों साइक्लीनों में इस संबन्ध में कुछ भेद पाया जाता है। किन्तु ६ घंटे के पश्चात् दूसरी मात्रा देने से रक्त-स्तर में कोई न्यूनता नहीं होने पाती। रक्त से प्लीहा, फुप्फुस, यकृत और वृक्क में इनका शीघ्रता से प्रसार हो जाता है। मस्तिष्क के द्रव में उनका प्रसार तभी होता है जब मस्तिष्कावरण शोथयुक्त

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होते हैं। इस रोग (meningitis) की चिकित्सा में सल्फाडाइजीन के प्रयोग के साथ टैट्रासाइक्लीनों के अन्तःशिरीय इञ्जेक्शनों से लाभ होता है।

इन प्रतिजीवियों के उपयोग में सबसे बड़ी सुगमता यह है कि उनका प्रयोग मुंह द्वारा होता है। इञ्जेक्शन द्वारा प्रयोग आवश्यक नहीं है।

टैट्रासाइक्लीनों की विषाक्तता—इन रासायनिक पदार्थों की विषाक्तता अत्यल्प है। बहुत से जन्तुओं को ये पदार्थ बहुत काल तक खिलाये गये किन्तु उनको कोई हानि नहीं हुई। कुछ की तो वृद्धि और भी अधिक होने लगी।

कुछ रोगियों में इन पदार्थों के प्रयोग के पश्चात् जी मिचलाना, वमन, उदर के ऊर्ध्व भाग में दर्द, पतले दस्त तथा गुदा और योनि में खुजली पायें गये हैं। गुदा और योनि की खाज (Pruritis, Vaginitis) विशेष कष्टदायक लक्षण होते हैं। विद्वानों की सम्मति के अनुसार ये लक्षण इन प्रतिजीवियों से नहीं उत्पन्न होते। प्रतिजीवियों के प्रयोग से आन्त्र तथा अन्य भागों के सहज निवासी जीवाणु-समूह में जो विस्तृत परिवर्त्तन हो जाते हैं जिनसे उनमें से अनेक जीवाणु मर जाते हैं और नये-नये सूक्ष्म जीवाणु, फंगस आदि उत्पन्न हो जाते हैं वे इन लक्षणों के कारण होते हैं। अब प्रायः सब ही विद्वान् इस विचार से सहमत हैं कि दीर्घकाल तक इन प्रतिजीवियों के आन्त्र में पहुँचने से वहाँ के जीवाणुवर्ग में उथल-पुथल मच जाती है। उस ही के कारण ये लक्षण होते हैं। उन्होंने यह पाया कि मुँह, आन्त्र तथा योनि में एक प्रकार के फंगसवर्ग के सूक्ष्म जीव बन गये जिनको मोनिला (Monilla) कहते हैं। Candid albicans नाम का इस वर्ग का फंगस मिला। स्वाभाविक अवस्था में आदिम निवासी जीवाणु इनकी वृद्धि नहीं होने देते। उनके दूर होते ही ये वृद्धि करने लगते हैं। अतएव कुछ विद्वानों ने इस फंगस को नष्ट करनेवाली प्रतिजीवी रसायन की खोज की और सन् १९५० में हैजेन और ब्राउन (Hazen and Brown) ने स्ट्रिप्टोमाइसीज़ नौरेसी (Stre, Nouresi) नामक फंगस से एक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रतिजीवी पदार्थ उत्पन्न किया जिसको निस्टाटीन (Nystatin) का नाम दिया। इसको मायोकोस्टीन भी कहते हैं और टैट्रासाइक्लीन के साथ मिलाकर उसका मिस्टेक्लीन (Mysteclin) नामक योग बनाया गया है। कुछ अन्य भी इस प्रकार के पदार्थ अन्य फंगसों से बनाये गये हैं, इनके प्रयोग से टैट्रासाइक्लीन का लाभ तो होता है। किन्तु उपर्युक्त उपद्रव नहीं उत्पन्न होते।

टैट्रासाइक्लीनों का विषाक्तता से रहित होना तथा उनका द्रुत शोषण, उग्र संक्रामक रोगों की चिकित्सा के लिये ये दोनों गुण उनको अत्युत्तम आदर्श औषधि बना देते हैं। इनका प्रयोग बहुत बढ़ गया है। इनका अधिक मूल्य ही एक ऐसा दोष है जिसके कारण बहुत-सी जनता उनके लाभ से वंचित रह जाती है। इस कारण पेनिसिलीन अब भी पूर्ववत् अपने पाँव जमाये हुये है।

ऐराइथ्रोमाइसीन (Erythromycin)

इसको आइलोटाइसीन और एराइथ्रोसीन भी कहते हैं। यह फिलिपाइन से लाई हुई मिट्टी के नमूने से बनाई गई थी। इस वस्तु के श्वेत रंग के क्रिस्टल होते हैं। इसका १ ग्राम १००० सी. सी. जल में घुलता है। इसके कई लवण बनाये गये जिनमें से कुछ टिकिया के रूप में मुंह से खाने के लिये उपयुक्त हैं और कुछ अन्तःपेशीय या अन्तःशिरीय इन्जेक्शन द्वारा दिये जाते हैं।

क्रिया—ऐराइथ्रोमाइसीन का क्रिया पेनिसिलीन के समान होती है। ग्राम-धन जीवाणुओं के अतिरिक्त कुछ ग्राम-ऋण जीवाणुओं पर भी इसकी क्रिया होती है। इसकी विशेष क्रिया डिप्थीरिया के जीवाणुओं पर होती है जो पेनिसिलीन या अन्य प्रतिजीवियों से भली भाँति प्रभावित नहीं होते। इस रोग से बच्चे और बालकों की प्रति वर्ष एक बड़ी संख्या में मृत्यु होती है। इसकी कोई विशिष्ट औषधि भी नहीं है। अतएव ऐराइथ्रोमाइसीन, जो लिली कम्पनी का बना हुआ आइलोटाइसीन के नाम से बिकता है, चिकित्साविज्ञान के लिये बहुत बड़ी देन है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसकी क्रिया अन्य बहुत से जीवाणुओं पर भी होती है जिन पर पेनिसिलीन का प्रभाव नहीं होता। पेनिसिलीन के सहिष्णु जीवाणुओं पर भी इसका प्रयोग प्रभावकारी होता है। आन्त्र के जीवाणुओं तथा ऐन्टेमीबा हिस्टोलिटिका (Entamoeba Hystolytica) जो प्रवाहिका का कारण होता है उसके लिये भी यह उत्तम औषधि है। सिफ़िलिस के कारण ट्रिपोनिमापेलिडम पर भी इसकी क्रिया होती है।

पेनिसिलिन की भाँति इसकी क्रिया विशेषकर नये उत्पन्न हुये विभाजन करने वाले जीवाणुओं पर अधिक होती है।

विषाक्तता—इसकी विषाक्तता अत्यल्प है। कुछ व्यक्तियों में जी मिचलाना, वमन, प्रवाहिका, ऐंठन तथा अतिदौर्बल्य आदि पाचन संबंधी लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। मात्रा कम करने से ये लक्षण जाते रहते हैं।

मात्रा—युवा व्यक्ति को ०·२ ग्राम की मात्रा प्रति ४ से ६ घंटे पर दी जाती है। एराइथ्रोमाइसीन की ०·१ से ०·२ ग्राम की टिकियाँ आती हैं। इसका एक रूप erythromycin glucoheptonate अन्तःशिरीय इन्जेक्शन के लिये भी तैयार किया जाता है। इसके ०·२५ ग्राम को १० सी. सी. जल में मिलाकर ऐम्पूल बनाये जाते हैं। दूसरा रूप लैक्टोबायोनेट का इसी मात्रा का ऐम्पूल अन्तःशिरीय तथा अन्तःपेशीय दोनों प्रकार के इन्जेक्शनों द्वारा दिया जा सकता है। इसका स्वादिष्ट पेय भी पीने के लिये बनाया गया है।

चिकित्सा में प्रयोग—ऊपर कहा है कि सब ग्राम-धन जीवाणुओं के लिये यह संघातक वस्तु है। अतएव स्टेफ़िलोकोकस, स्ट्रिप्टोकोकस, न्यूमोकोकस तथा कितने ही पूयजनक दण्डाणुओं द्वारा उत्पन्न रोगों में इसका प्रयोग किया जाता है। जब पेनिसिलिन के दीर्घ प्रयोग से सहिष्णु जीवाणु उत्पन्न हो जाते हैं तो ऐराइथ्रोमाइसीन का प्रयोग लाभदायक सिद्ध हुआ है।

स्वयं एराइथ्रोमाइसीन के प्रति जीवाणु सहिष्णु हो जाते हैं। किन्तु वह दीर्घकालिक प्रयोग का फल होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ऐराइथ्रोमाइसीन खाने के पश्चात् एक से दो घंटे में इसका रक्तस्तर उच्चतम हो जाता है। किन्तु ६ घंटे के पश्चात् उसका विशेष ह्रास होने लगता है और बारह घंटे में उसमें विशेष कमी हो जाती है। इस कारण प्रति ६ घंटे पर मात्रा देना आवश्यक है।

अन्य प्रतिजीवी योग

प्रकृति में जितने जीव हैं, जीवाणु, फंगस, ऐक्टिनोमाइसीज़ आदि उन सब में जीवन का घोर संग्राम मचा हुआ है। सब ही अपने लिये एक विशिष्ट स्थान बनाने तथा अपने वंश की सुरक्षा में प्रयत्नशील हैं। सब ही एक दूसरे को धकेल कर अस्तित्व के क्षेत्र से बाहर कर देने में लगे हुये हैं, एक दूसरे को नष्ट कर देने तथा उससे उसका भोज्य छीन लेने का उद्यम कर रहे हैं। जीवाणु असंख्य प्रकार के हैं। ऐक्टिनोमाइसीज़ के पृथ्वी में कितने प्रकार हैं यह कोई नहीं जानता। मनुष्य उन्हीं को जानता है जो दैवी संयोग से उसके हाथ लग गये हैं। यद्यपि अभी तक सहस्रों माइसीज़ जाँच की जा चुकी हैं तो भी उन्होंने रसायन विद्या का एक नया ही क्षेत्र मनुष्य के लिये खोल दिया है। इन्हीं की खोज करते-करते रसायनज्ञों ने यह मालूम किया है कि ये सब जीव रासायनिक पदार्थों का अपनी रक्षा के लिये निर्माण करते हैं। उनसे सब प्रकार से अपने शत्रुओं को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उनके भोज्य को विषाक्त करते हैं, उनको पोषण नहीं ग्रहण करने देते, उनका आक्सीजन पहुँचने का मार्ग बन्द कर देते हैं और कुछ तो उनको सशरीर गला डालते हैं।

गतपृष्ठों में प्रतिजीवियों द्वारा उत्पन्न किये हुये इन बहुत से रासायनिक पदार्थों को रोगों के नाश के लिये कितना और किस प्रकार उपयोगी पाया गया है इसका वर्णन किया गया है। किन्तु अन्य भी कितने ही प्रतिजीवियों का पता लगा है और दिन-दिन लग रहा है। उनमें से कुछ पदार्थ मनुष्य के लिये उपयोगी पाये गये हैं। संभव है और भी शक्तिशाली प्रतिजीवी आगे चलकर पाये जाँय। इन प्रतिजीवियों ने अभी प्रत्येक देश की मृत्यु

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संख्या को घटा दिया है और मनुष्य का संभावित-जीवनकाल (Life expectancy) बढ़ा दिया है। मनुष्य की जीवन-क्रियाओं के लिये आवश्यक रसायनों की उत्पत्ति करके उसको शतवर्षजीवी बनाना भी इन प्रतिजीवियों के लिये संभावना से बाहर की बात नहीं है।

आगामी पृष्ठों में कुछ नये आविष्कृत प्रतिजीवियों का उल्लेख किया गया है जिनका हाल ही में पता चला है। अभी बहुत से प्रयोगात्मक अवस्था में हैं।

टाइरोथ्राइसीन

टाइरोथ्राइसीन का पहले उल्लेख किया जा चुका है। डुबोइस ने इसको पेनिसिलिन से भी पहले बनाया था। यद्यपि प्रयोगों में यह उत्तम जीवाणुनाशक वस्तु प्रमाणित हुई किन्तु मनुष्य में प्रयोग करने पर अत्यन्त विषैली मालूम हुई। अतएव इसका इन्जेक्शन द्वारा प्रयोग बिलकुल बन्द कर दिया गया। किन्तु मुँह से खिलाने पर या घाव के पृष्ठ पर लगाने से उससे विषैले प्रभाव नहीं हुये। जिन रोगियों में इसकी अधिक मात्रा घावों में भरी गई या लोशन के रूप में प्रयोग हुई उनमें से कुछ को रक्तस्राव हो गया।

इसका कारण यह मालूम हुआ कि यह वस्तु जल में या शारीरिक द्रव्यों में घुलनशील नहीं है। इस कारण मुँह से खाने पर या घावों पर लगाने से उसका इतना शोषण नहीं हो पाता कि उससे कोई हानि पहुँच सके। जब अधिक मात्रा का शोषण हो जाता है तो रक्तस्राव होने लगता है।

जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है टाइरोथ्राइसीन में दो प्रतिजीवी मिले रहते हैं। एक ग्रामिसिडीन है जो केवल १० प्रतिशत होती है। और दूसरी टाइरोसिडीन जो ८० प्रतिशत है। इन दोनों की क्रिया दो प्रकार से होती है। ग्रामिसिडीन जीवाणु की वृद्धि रोकती है, उनकी संख्या नहीं बढ़ने देती। टाइरोसिडीन जीवाणु में आक्सीजन नहीं पहुँचने देती, उसके श्वासकर्म को रोक देती है और उसके आवरण (cellwall) को गला देती है। किन्तु ग्रामिसिडीन की क्रिया प्रबल होती है, टाइरोसिडीन की हलकी होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ग्रामिसिडीन का ग्राम-धन जीवाणुओं पर प्रबल प्रभाव होता है, टाइरोसिडीन की कुछ ग्राम-ऋण जीवाणुओं पर हलकी-सी क्रिया होती है।

टाइरोथ्राइसीन के रक्त में पहुँचने पर रक्त की लाल कणिकायें गलने लगती हैं। यह क्रिया टाइरोसिडीन की होती है। (Haemolysin) इससे रक्त-स्राव आदि भयंकर दशायें उत्पन्न हो जाती हैं। इस कारण इसका इंजैक्शन द्वारा प्रयोग बिल्कुल बन्द कर दिया गया है।

चिकित्सा में उपयोग—इस पदार्थ का अब केवल स्थानिक उपयोग किया जाता है। घावों, विद्रधियों, कारबंकिल, मध्यकर्ण शोथ, विसर्प, अस्थि-मज्जाशोथ के व्रण आदि में इसका स्थानिक प्रयोग किया जाता है। इसके चूर्ण को घाव पर छिड़का जाता है। गहरे घावों में इसके लोशन को भर देते हैं पर निरन्तर विधि से एक रबड़ की नलिका को घाव के भीतर डालकर उसके द्वारा लोशन को पहुँचाते रहते हैं। इस लोशन को ४ पौंड जल में १ ग्राम टाइरोथ्राइसीन मिलाकर बनाया जाता है। मुँह में रखने के लिये भी इसकी टिकिया बनाई जाती हैं।

बेसिट्रेसिन (Bacitracin)

इस वस्तु का अविष्कार भी इतिहास की एक घटना है। न्यूयोर्क के प्रेज़बिटेरियन अस्पताल में एक सातवर्षीय कन्या रोगी थी। उसकी टाँग का अस्थिभग्न हो गया था जो किसी प्रकार संक्रमित हो गया, उसमें पूय पड़ गई। कन्या का नाम मारगेरेट ट्रेसी था। उसके घाव से पूय लेकर डाक्टर जान्सन, ऐंकर और मैलेनी ने परीक्षा की। उसमें बेसिलेस सबटिलिस (B. Subtilis) उपस्थित मिला। उसका उन्होंने संवर्धन किया और संवर्धक द्रव्य में यह प्रतिजीवी पदार्थ मिला जिसका उन्होंने रोगी के नाम पर नामकरण किया और उसको बेसिट्रेसीन कहा।

बेसिट्रेसीन एक श्वेत रंग का चूर्ण है जो रखने से कुछ पीला हो जाता है। यह जल में घुलनशील है। किन्तु इसके लोशन शीघ्र ही अपनी शक्ति खो देते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्रिया—बेसिट्रेसीन की क्रिया सब ग्राम-धन जीवाणुओं पर होती है तथा सिफ़िलिस के स्पाइरोकीट पर भी होती है। किन्तु ग्राम-ऋण जीवाणुओं पर नहीं होती। इसके प्रयोग से वृक्कों को बहुत हानि पहुँचती है। इस कारण इसका प्रयोग अत्यन्त परिमित हो गया है।

चिकित्सा में उपयोग—इसका स्थानिक उपयोग किया जाता है। शारीरिक प्रयोग नहीं किया जाता। स्थानिक प्रयोग फोड़े, फुन्सी, घाव, चर्म के स्ट्रिप्टो, स्टेफ़िलों के रोग, विस्तृत व्रण आदि में लाभदायक पाया गया है। इसका विशेष उपयोग उन दशाओं में है जब जीवाणु पेनिसिलीन के सहिष्णु हो जाते हैं और उन पर पेनिसिलीन की क्रिया नहीं होती। बेसिट्रेसीन के प्रति सहिष्णुता नहीं उत्पन्न होती।

कितने ही अन्वेषकों ने पेनिसिलीन और बेसिट्रेसीन में अद्भुत सहजीविता या सहकारिता (synergism) के लक्षण पाये हैं। एक वस्तु दूसरे की क्रिया को बढ़ाती है। दोनों को मिलाकर प्रयोग करने से उनकी क्रिया पृथक्-पृथक् प्रयोग करने की अपेक्षा कईगुना अधिक होती है। चूहों में स्पाइरोकीटा पैलिडा से संक्रमित करके उनको पेनिसिलिन–बेसिट्रेसीन का योग दिया गया। पेनिसिलिन की साधारण मात्रा की $\frac{1}{50}$ और बेसिट्रेसीन की $\frac{1}{5}$ मात्रा से चूहे रोगमुक्त हो गये। अन्य विद्वानों ने दण्डाणुजन्य हृदन्तःकलाशोथ के एक रोगी का वर्णन किया है जिसमें डिप्थीरिया के समान जीवाणु भी उपस्थित मिले थे। उसको मिश्रित पेनिसिलीन और बेसिट्रेसीन की अतिन्यून मात्राओं से लाभ हुआ। कितने ही अन्य विद्वानों ने भी इसी प्रकार का मत प्रकट किया है। संभव है न्यून मात्रा से वृक्कों को हानि पहुँचने का डर जाता रहे। इस ओर अभी और भी अन्वेषण हो रहे हैं और इन मिश्रित योगों का कुछ प्रयोग होने लगा है। नियोमाइसीन, पौलिमिक्सीन, टाइरोथ्राइसीन के साथ बेसिट्रेसीन मिलाकर योग बनाये गये हैं जिनकी टिकिया, लोशन, मरहम, मुँह में रखने की टिकिया (troches) बाज़ार में मिलती हैं। किन्तु अधिकतर बेसिट्रेसीन का प्रयोग स्थानिक ही

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होता है। जब उसको खाने को दिया जाय तो मूत्र परीक्षा करते रहना चाहिये। वृक्कों पर बहुत ध्यान रखने की आवश्यकता है।

कारबोमाइसीन, मेगनामाइसीन—यह 'स्ट्रिप्टोमाइसीज़ हाल्सटेडिआई' (Streptomyces Halstedii) नामक फंगस से बनाई जाती है। इसकी क्रिया सब ग्राम-धन जीवाणुओं पर होती है। जिन पर पेनिसिलीन की क्रिया नहीं होती या जो उसके सहिष्णु हो जाते हैं वे भी कारबोमाइसीन से नष्ट होते हैं। इसकी विषाक्तता भी विशेष नहीं है। जन्तुओं को २०० मिलीग्राम शरीरभार के प्रति किलोग्राम के हिसाब से तीन मास तक प्रति दिन खिलाने से भी कोई हानि नहीं हुई।

इसकी क्रिया एराईथ्रोमाइसीन के समान है। कुछ वाइरसों और रिकेट्सियाओं पर भी उसकी क्रिया होती है। इसका विशेष उपयोग पेनिसिलीन तथा टेट्रासाइक्लीनों के सहिष्णु जीवाणुओं के विरुद्ध है।

इसका अधिक अन्वेषण करने की आवश्यकता है।

पोलीमिक्सीन (Polymyxin)

यह भूमि के निवासी पोलीमिक्सा दण्डाणुओं (Bacillus Polymyxa) की कई श्रेणियों से उत्पन्न कई योगों का समूह है। उनसे पोलीमिक्सीन—ए, बी, सी, डी, और ई उत्पन्न की जा चुकी हैं और संभव है और भी मिलें। इन भिन्न-भिन्न प्रकार की पोलीमिक्सीनों की क्रियायें भी भिन्न और उनके संगठन में भी भेद हैं। ये सब ग्राम ऋण जीवाणुओं पर क्रिया करती हैं। Pseudomonas aeruginosa नामक जीवाणु जिसको B. Pyocaenius भी कहते हैं उस पर पोलीमिक्सीनों की विशेष क्रिया होती है। यह जीवाणु नीले रंग की पूय बनाता है। इस पर अन्य किसी औषधि का प्रभाव नहीं होता। इस दृष्टि से यह औषधि बड़े महत्व की है।

ये पाँचों पोलीमिक्सीन वृक्कों के लिये विषैली हैं। किन्तु ए, और डी विशेषकर विषैली हैं। इस कारण उनका प्रयोग मनुष्य पर नहीं किया

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गया है। बी योग का ही प्रयोग किया गया है। इसका सल्फेट लवण ग्राम-ऋण जीवाणु-जन्य रोगों में काम में लाया गया है। जब अन्य प्रतिजीवी सफल नहीं हुये तब भी इसके प्रयोग से लाभ हुआ। किन्तु इससे भी विषैले लक्षण उत्पन्न हुये। मूत्र में अलाबूमिन की उपस्थिति और सूक्ष्मदर्शी द्वारा परीक्षा से वृक्कों की हानि का पता लगा। कुछ और प्रकार के लक्षण भी पाये गये। दुर्बलता, चलने में टाँगों का लड़खड़ाना, जहाँ-तहाँ चर्मक्षोभ तथा चक्कर आना, इन लक्षणों से मालूम होता है कि इस पदार्थ का मस्तिष्क तथा तन्त्रिकाओं पर भी प्रभाव होता है।

पोलीमिक्सीन का उपर्युक्त कारणों से प्रायः स्थानिक प्रयोग ही किया जाता है। तथा आन्त्र के कुछ पराश्रयी जन्य रोगों में इसकी टिकिया भी खिलाई जाती है जिनमें योग का ऐसा रूप बना दिया जाता है कि उसका शोषण अति न्यून होता है।

सीरोमाइसीन (आक्सामाइसीन या साइक्लोसिरीन)—सन् १९५६ में यह वस्तु दो फंगसों Stre. garyphalus और Orchidaceus से बनाई गई और इसका संगठन तथा संकेत मालूम किया गया। इसको ग्राम-धन और ग्राम-ऋण जीवाणुओं तथा रिकेट्सिया, आन्त्र के पराश्रयी अमीबा आदि, तथा राजयक्ष्मा के जीवाणुओं पर सक्रिय पाया गया है। मूत्रल तन्त्र वृक्क, गवीनी तथा मूत्राशय के संक्रमण, विशेषतया जीर्ण संक्रमण में जहाँ अन्य औषधियाँ काम नहीं करतीं वहाँ इसका अत्युत्तम प्रभाव होता है। राजयक्ष्मा के जीवाणु पर भी इसकी क्रिया होती है। यद्यपि स्ट्रिप्टोमाइसीन की भाँति उसकी उपयोगिता अभी तक सिद्ध नहीं हो सकी है तो भी उसकी सफलता की संभावना के पर्याप्त सङ्केत मिल चुके हैं। खाने के पश्चात् शीघ्र ही इसका उपयुक्त रक्तस्तर हो जाता है। यह मस्तिष्क मेरुद्रव तथा नेत्र के अग्रकक्ष के द्रव्य में भी संचरित हो जाती है जो पेनिसिलीन तथा कितने ही प्रतिजीवी नहीं कर पाते। रक्त लसीका, मूत्र आदि में तो वह अन्य प्रतिजीवियों की भाँति पहुँच ही जाती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्यूरोमाइसीन—इसको स्ट्रिप्टोमाइसीज़ ऐल्बो-नाइगर से सन् १९५२-५३ में पृथक् किया गया और निद्रालुरोग (Sleeping sickness) के कारक ट्रिपैनोसोम जाति के जीवों पर सक्रिय पाया गया। कुछ विद्वानों ने उसको अमीबा नाशक भी पाया है। इसकी विषाक्तता भी कम है। जन्तुओं को केवल बहुत अधिक मात्रा प्रयोग करवाने पर विषजन्य लक्षण उत्पन्न हुए।

नोवोबायोसीन ऐल्बामाइसीन, कार्डिल्माइसीन, कैथोमाइसीन, कैथोसीन—नोवोबायोसीन को इन भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा गया है। इस पदार्थ को 'स्ट्रिप्टोमाइसीज़ नीविन्स' (Str. nievens) से बनाया गया है। इसकी विशेष क्रिया स्ट्रिप्टोकोकस पायोजिनीज़ (पूयोत्पादक) पर होती है। इसके २५० मि. ग्राम के कैप्सूल आते हैं। प्रथम मात्रा ४ कैप्सूल की होती है और उसके बाद दो-दो दिन में दो बार दिये जाते हैं। प्रथम मात्रा देने के पश्चात् २ घंटे में रक्त में पर्याप्त मात्रा हो जाती और १२ घंटे पश्चात् तक बनी रहती है। उग्र दशाओं में ०·१ से ०·५ ग्राम तक मात्रा प्रति छः घंटे पर दी जा सकती है।

अभी तक इसका प्रयोग अन्य प्रतिजीवियों के सहिष्णु रूपों के लिये परिमित सा है यद्यपि अन्य दशाओं में भी किया गया है।

ओलियन्डो माइसीन या माट्रोमाइसीन—यह प्रतिजीवी स्ट्रिप्टोमाइसीज़ ऐन्टोबायोटीकस (Str, antibioticus) से बनाया जाता है। इसकी क्रिया विस्तृत बताई जाती है। ग्राम ऋण और ग्राम-धन दोनों प्रकार के जीवाणु तथा रिकेट्सिया और वाइरस सबों पर इसका प्रभाव होता है। सहिष्णु स्टेफिलोकोकाई पर यह विशेषकर सक्रिय होती है। इसकी विषाक्तता भी कम है। इसकी मात्रा अन्य प्रतिजीवियों की भाँति २५० मिलीग्राम के कैप्सूल २४ घंटे में चार बार है।

सीगमामाइसीन—यह टैट्रासाइक्लीन और ओलियेन्डोमाइसीन के मिश्रण का नाम है। जिसमें २५० मिलीग्राम के एक कैप्सूल में १६७ मिलीग्राम टैट्रा-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

साइक्लीन और ८३ मि. ग्राम ओलियेन्डोमासीन होते हैं। युवा व्यक्ति को १ से २ कैप्सूल तक २४ घंटे में ४ बार दिये जाते हैं। इस प्रकार की मिश्रित चिकित्सा में कई प्रकार के लाभ बताये जाते हैं। उनकी विषाक्तता कम कही जाती है। दोनों पदार्थ सहकारी होने पर उनकी मात्रा कम प्रयोग करनी पड़ती है। उनका प्रभाव भी शीघ्र होता है।

फंगस पर क्रिया करनेवाले प्रतिजीवी

ऊपर जिन पदार्थों का वर्णन किया गया है वे सब जीवाणुओं पर क्रिया करने वाले हैं फंगस पर काम करने वाले इसी प्रकार के कुछ पदार्थ बनाये गये हैं। माइकोस्टेटिन का पहले उल्लेख किया जा चुका है। इसको स्ट्रिप्टोमाइमीज़ नौरेरिस से बनाया गया था। पहले इसका नाम फंगीसाइडिन (Fungicidin) रखा गया। यही अब मायोकोस्टेटीन (myocostatin) के नाम से बाज़ार में मिलता है। इसकी विशेष क्रिया यस्टी के समान नये उगने वाले रूपों पर होती है जिनको मोनीलिया (monilia) कहते हैं। जीवाणु इस से प्रभावित नहीं होते। ये मोनीलिया प्रतिजीवियों के कुछ समय तक प्रयोग करने से प्रतिद्वन्द्वी जीवाणुओं के नष्ट हो जाने पर बृहद् संख्या में उत्पन्न हो जाते हैं और पतले दस्त, वमन, जी मिचलाना, खुजली आदि उपद्रव उत्पन्न करते हैं। अतएव अन्य प्रतिजीवियों के साथ माइकोस्टेटिन का प्रयोग करवाया जाता है। इसके ५ लाख मात्रक (units) का एक कैप्सूल दिन में तीन बार खिलाया जाता है। टैट्रासाइक्लीन के साथ इसका मिस्टीक्लीन नामक जो योग बाज़ार में बिकता है उसका पहले उल्लेख किया जा चुका है।

माइकोस्टेटीन के विषैले प्रभाव बहुत कम पाये गये हैं। जन्तुओं को कई मास तक बड़ी-बड़ी मात्रायें खिलाई गईं, किन्तु उनमें हानि के कोई लक्षण नहीं मिले। मनुष्यों में अधिक मात्राओं के खिलाने से केवल वमन या जी मिचलाने के लक्षण पाये गये हैं। मिस्ट्रीक्लीन के एक कैप्सूल में २५०००

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मात्रक मिस्ट्रीक्लीन होती है। २४ घंटे में चार कैप्सूल छः छः घंटे पर दिये जाते हैं। इस प्रकार दस लाख मिस्टिीक्लीन २४ घंटे में पहुँचती है।

अन्य ऐसे ही कुछ और भी प्रतिजीवी बनाये गये हैं।

गत पृष्ठों में सल्फ़ानेमाइड योगों तथा प्रतिजीवी पदार्थों का जो वर्णन किया गया है उससे विदित है कि ये सब योग जीवाणुओं पर क्रिया करने वाले हैं। कई योग एक ही श्रेणी के जीवाणुओं पर क्रिया करते हैं। इससे चिकित्सा के समय उपयुक्त योग को चुनना कठिन हो जाता है। अतएव चिकित्सक के पथ प्रदर्शन के लिये निम्नलिखित सारणी उपयोगी प्रमाणित होगी।

रोग	रोगजनक जीवाणु	सल्फ़ा योग	पैनिसिलीन	स्ट्रिप्टोमाइसीन	क्लोरिम्फ़िनिकौल	टेट्रासाइक्लीन
एक्टिनोमाइकोसिस	एक्टिनोमाइकोसीज़	++	++	+	++	+
अमीबिक रोग (amoebiasis)	ऐन्टेमीबा डिस्टोलिटिका	+	—	—	—	++
सिफिलिस	ट्रिपोनिम, पैलिडम	—	+++	—	+	+++
मैलेरिया	प्लाज्मोडियम	+	—	—	—	—
ग्राम-धन जीवाणु–						
पूयज जीवाणु जन्य संक्रामक रोग, पूयोत्पादन	स्ट्रिप्टोकोकस " हीमोलिटिक स्टेफ़िलोकस	++	+++	+	++	+++
निमोनिया	न्यूमोकोकस	++	+++	+	++	+++
मूत्रल रोग (संक्रामक)	स्ट्रिप्टोकोकस स्टेफिलोकोकस	—	—	—	++	+++
डिप्थीरिया	कार्नीवेक्टोरियम डिप्थरी	+	+	—	++	+++
ऐन्थ्रैक्स	वैसिलस रोन्थ्रसिस	+	++	—	++	++
गैसगैन्ग्रीन (कोथ)	बै. एरोजिनीज कैप्सूलेटस (क्लौस्ट्रीडियम)	+	++	+	+	++
टिटेनस	क्लौस्ट्रोडियम टिटेनाई	—	++	+	+	+

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रोग	रोगजनक जीवाणु	सल्फ़ा योग	पैनिसिलीन	स्ट्रिप्टोमाइसीन	क्लोरिफ़िनिकोल	टैट्रासाइक्लीन
ग्राम-ऋण जीवाणु—						
गोनोरिया	गोनोकोकस	+++	+++	+	+	+++
मस्तिष्कावरणार्त्ति (मैनिंजाइटिस)	मैनिंगोकोकस	++	++	+	++	++
मूत्रल रोग	बे० कोलाई	++	—	++	++	++
प्रवाहिका	शिगैलार	++	—	+	++	++
प्लेग	पैस्चुरेल्ला पेस्टिस्	++	—	+++	+	+
विसूचिका (हैज़ा)	विब्रियो कौलरी	+	—	++	+	+
टाइफ़ाइड	साल्मोनैला टाइफोसा	—	—	+	+++	++
कुक्कुर खांसी	बै० पर्टसिस	—	—	+	++	++
पूयोत्पादन	बै० पायोसिनियस बै० प्रोटियस	—	—	—	++	+
अन्य जीवाणु तथा जीव—						
राजयक्ष्मा	मायोबैक्टीरियम ट्यूबर्क्यूलोसिस	—	—	++	—	—
टाइफ़स	रिकेट्सिया	—	—	—	++	++
वाइरसजन्य निमोनिया	वाइरस	—	—	—	++	++
इन्फ्लुयेंजा	वाइरस	—	—	—	+	++

सारणी में संकेतों का अर्थ—

— क्रिया नहीं होती।

\+ सामान्य क्रिया होती है।

++ संतोषजनक क्रिया होती है।

+++ प्रबल क्रिया होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जितने प्रतिजीवियों का वर्णन किया गया है उनके अतिरिक्त कितने और भी प्रतिजीवी योग अभी परीक्षा और विकास की अवस्था में हैं। प्रत्येक बड़ी कम्पनी नये पदार्थ के अविष्कार में व्यस्त है। इस आर्थिक और औद्योगिक स्पर्धा से विज्ञान की उन्नति हुई है, उसके द्वारा मनुष्य जाति का कल्याण हुआ है। मृत्युसंख्या की कमी तथा मनुष्य के जीवन-काल की वृद्धि, चिकित्सा तथा स्वास्थ्यविज्ञान की उन्नति का सबसे बड़ा प्रमाण है। यद्यपि इस स्पर्धा से आर्थिक हानि तथा मनुष्य की मानसिक चिन्ताओं में भी कुछ वृद्धि हुई है तो भी आय-व्यय का लेखा जाँचने पर मानव जाति को लाभ ही हुआ है।

ये कम्पनियाँ, उद्योगपति तथा औषधि निर्माणकर्त्ता अब भी नये पदार्थों की खोज में हैं। हाल ही में एक पदार्थ फ्यूमिगिलिन (Fumigillen) बनाया गया है जिसका विशिष्ट लक्ष्य केवल एक जीव है जिसको 'ऐन्डेमीबा हिस्टोलिटिका' (Endamoeba Hystolytica) कहते हैं। यह जीव अमीविक प्रवाहिका का कारण होता है। बहुत बार यह आन्त्र में सिस्ट (पुटी) का रूप लेकर निष्क्रिय पड़ा रहता है। शरीर के अन्य भागों में, विशेषकर यकृत में यह अमीबा पहुँचकर विद्रधि उत्पन्न कर देता है। जीर्ण रूप का अमीविक रोग जिसको amoebiasis कहते हैं ऐसा कठिन और दुस्साध्य रोग है कि जन्म भर पीछा नहीं छोड़ता। उसको शरीर से बहिष्कृत करने के लिये चिकित्सक और रोगी दोनों को जिस धैर्य की आवश्यकता होती है वह वास्तव में उनकी एक परीक्षा है। यह अनुमान किया जाता है कि हमारे देश के २५ प्रतिशत निवासी इस रोग के किसी न किसी रूप से ग्रस्त हैं। आसाम, बंगाल, बिहार, मद्रास आदि राज्यों में तो ६० प्रतिशत जनता के इस जीव से आक्रान्त होने का अनुमान किया जाता है। अमरीका से उन्नतिशील देश में १ करोड़ ३·२५ लाख व्यक्ति इस रोग से ग्रस्त समझे जा ते हैं। चीन में हमारे देश से भी बुरी दशा है। अन्य बहुत से देशों का भी यही हाल है। फ्यूमिगिलिन यदि वास्तव में अमीबा पर इतनी ही कार्यकर प्रमाणित हुई जितनी आशा की जाती है तो उसके द्वारा मानवजाति के कल्याण का अनुमान किया जा सकता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसी प्रकार की अन्य भी कितनी ही वस्तुयें तैयार हो रही हैं और वैज्ञानिक विद्वान् उनका अध्ययन कर रहे हैं।

प्रतिजीवियों का वृद्धि पर प्रभाव—पशुओं पर अनेक प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि प्रतिजीवियों में कोई ऐसा अवयव होता है जो पशु के शरीर की वृद्धि को बढ़ा देता है। अमरीका में जो लोग पशुओं को पालने और उनको बेचने का व्यवसाय करते हैं वे सब पशुओं के खाद्य में किसी प्रतिजीवी—पैनिसिलिन तथा अन्य योग—की थोड़ी मात्रा मिला देते हैं। इसका प्रभाव यह होता है कि जहाँ १४ या १५ सप्ताह में १० पौंड खाद्य खाने के पश्चात् मुर्गे (Chicken) का भार १० पौंड होता था वहाँ प्रतिजीवियों को खिलाने के पश्चात् ९ से ११ सप्ताह में उतने भार का मुर्गा हो गया और उसको कुल ९ पौंड खाद्य खिलाना पड़ा। यह अनुमान लगाया गया है कि प्रतिजीवियों को खाद्य में मिलाने से वर्ष भर में ४००,००० टन खाद्य की बचत होती है और मुर्गों का मूल्य भी अधिक मिलता है। टर्की, और मच्छरों पर और भी उत्तम प्रभाव पाया गया। बकरी, भेड़, बछड़े आदि जितने भी पशुओं को पाला जाता है उन सब पर प्रतिजीवियों का ऐसा ही प्रभाव होता है। उनकी मृत्यु तथा उनमें रोग संख्या भी कम होती गई।

यह भी पाया गया कि प्रतिजीवियों को खाद्य के साथ खिलाने से प्रोटीनों की आवश्यकता कम हो जाती है। यह बड़े महत्व की बात मालूम हुई। जो पशु केवल घास या चना या कुछ अन्य वनस्पति ही खाते हैं उनके शरीर के लिये आवश्यक प्रोटीनों का संश्लेषण करने की सामर्थ्य प्रतिजीवी ही प्रदान करते हैं। उनकी सहायता से शाकाहारी शरीर अपने लिये प्रथम श्रेणी के प्रोटीन तैयार कर लेता है। अभी तक अन्वेषक विद्वान् इस रहस्य का पता नहीं लगा पाये हैं। जब विटामीन बी$_{१२}$ की खोज हुई और उसकी शारीरिक पोषण के संबंध में महत्वपूर्ण क्रिया मालूम हुई तो वैज्ञानिकों ने सोचा कि यही वह अवयव है जो शरीर को प्रोटीन बनाने की शक्ति देता है। इसको Animal protein factor कहा गया। यह वस्तु कितने ही फंगसों के संवर्धन में उत्पन्न हो जाती है। स्ट्रिप्टोमाइसीज़ जिन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बड़े-बड़े पात्रों में उगायी जाती है जिससे स्ट्रिप्टोमाइसीन बनती है उनमें विटामीन बी$_{१२}$ स्वयं ही बन जाती है। यह स्ट्रिप्टोमाइसीन का अतिरिक्त उत्पादन-पदार्थ (Byproduct) है जो स्ट्रिप्टोमाइसीन को निकालने के पश्चात् बच जाता है। पहिले इसको फेंक दिया जाता था। किन्तु अब पासा पलट गया है। जब से विटामीन बी$_{१२}$ की खोज हुई है तब से वह फ़ाइज़र कम्पनी का मुख्य पदार्थ हो गई और स्ट्रिप्टोमाइसीन अतिरिक्त पदार्थ हो गई। कम्पनी को स्ट्रिप्टोमाइसीन की अपेक्षा विटामीन-बी$_{१२}$ से अधिक आर्थिक लाभ होता है। इसी वस्तु को प्रोटीनोत्पादक अवयव माना गया।

किन्तु जिस तिलछट से विटामिन-बी$_{१२}$ पृथक् कर ली जाती है उसको खिलाने से भी उसी प्रकार वृद्धि होती है। इससे पता चलता है कि वृद्धि करने वाला अवयव तिलछट में भी है। अभी तक विद्वानों को यह नहीं मालूम हुआ है कि प्रतिजीवियों में शरीरवृद्धि करने वाला कौनसा अवयव है। किन्तु इसमें उनको कोई सन्देह नहीं है कि वह अवयव है अवश्य। उसको खोज निकालना केवल समय की बात है।

यद्यपि पशुओं में यह शरीरवर्धक परिणाम पाये गये हैं किन्तु इसका कोई निश्चय नहीं किया जा सका है कि इस अत्युग्र वृद्धि का उनके भावी जीवनक्रम पर क्या प्रभाव होगा। उनमें बल, रोगरोधक शक्ति, स्फूर्त्ति तथा अन्य गुण वैसे ही होंगे जैसे साधारण क्रम से वृद्धि होने वालों में होते हैं अथवा इससे विपरीत होगा। इसमें बहुत सन्देह है। इस कारण मनुष्य पर ये प्रयोग अधिक नहीं किये गये हैं। जिन बच्चों को प्रतिजीवी मिश्रित आहार दिये गये हैं उनकी रिपोर्टें वैसी ही मिली हैं जिनकी आशा की जा सकती थी। उनका स्वास्थ्य उत्तम रहा। वे उन सब विकारों से मुक्त रहे जिनसे शिशु इस अवस्था में प्रायः ग्रस्त हो जाते हैं। उनकी वृद्धि भी उत्तम हुई। किन्तु तो भी मानव-शिशु में केवल शरीरभार बढ़ाना ही अन्तिम उद्देश्य नहीं कहा जा सकता। पशुओं की द्रुत वृद्धि और शरीर भार बढ़ाना आर्थिक दृष्टि से लाभदायक होता है। उनको अधिक समय तक जीवित

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रहना नहीं है। वे शीघ्र ही बाज़ार में बेचे दिये जाते हैं और उनकी जीवन लीला समाप्त हो जाती है। मनुष्य का जीवन-उद्देश्य कुछ दूसरा ही है। उस उद्देश्य की पूर्त्ति में प्रतिजीवियों से कुछ सहायता मिलती है या नहीं यह कहना अभी असंभव है। प्रतिजीवियों को बने हुये ही अभी इतने थोड़े वर्ष हुए हैं कि मानव जीवन पर उनका क्या प्रभाव होगा यह कहना कठिन है।

चिकित्सा में मिश्रित प्रयोग—

सल्फोनेमाइड के योग, पैनिसिलीन, स्ट्रिप्टोमाइसीन, टैट्रासाइक्लीन, क्लोरिनैम्फीकोल तथा अन्य कितनी माइसीन योगों की क्रिया बहुत कुछ एक समान है। पैनिसिलीन की क्रिया परिमित है। स्ट्रिप्टोमाइसीन की क्रिया उससे विस्तृत है। कुछ ग्राम-धन जीवाणुओं पर भी है और राजयक्ष्मा पर विशिष्ट क्रिया है। क्लोरिनैम्फिकोल की विशिष्ट क्रिया टाइफ़ाइड के जीवाणु पर है, यद्यपि अन्य पर भी प्रभाव होता है। टैट्रासाइक्लीनों की क्रिया और भी अधिक विस्तृत है। ग्राम-धन और ग्राम-ऋण दोनों प्रकार के जीवाणु इससे प्रभावित होते हैं।

संक्रामक रोगों में प्रायः कई प्रकार के जीवाणु मिले रहते हैं। कुछ पर पैनिसिलीन की क्रिया होती है, कुछ पर नहीं। कुछ पर सल्फोनेमाइड की उत्तम क्रिया होती है। फिर कुछ प्रतिजीवियों के प्रति जीवाणुओं में सहिष्णुता शीघ्र ही उत्पन्न हो जाती है। विशेषकर स्ट्रिप्टोमाइसीन के प्रति। एक दिन में सहिष्णुता उत्पन्न होते देखा गया। एक विद्वान् का यहाँ तक अनुमान है कि 'कुछ समय पश्चात् संसार के सभी राजयक्ष्मा जीवाणु स्ट्रिप्टोमाइसीन-सहिष्णु हो जायेंगे।' यह तो अत्युक्ति है। किन्तु बहुतों में सहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है।

इन कारणों से चिकित्सा में एक से अधिक जीवाणुनाशक औषधियों का साथ ही प्रयोग किया जाता है। उण्डुकार्त्ति (Appendicitis) में पैनिसिलीन और स्ट्रिप्टोमाइसीन दोनों के इन्जेक्शन मिला कर दिये जाते हैं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

और सल्फ़ाडियाज़ीन का पृथक् इन्जेक्शन दिया जाता है क्योंकि प्रायः रोगियों को इस औषधि को मुख द्वारा देने से वमन होने लगते हैं। इसी प्रकार अन्य विषम दशाओं में भी दो उपयुक्त प्रतिजीवियों का व्यवहार किया जाता है। दोनों प्रतिजीवी यदि एक ही जीवाणु पर क्रिया करते हैं तो भी भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। एक उसका आहार रोकता है तो दूसरा उसके लिये विष बन जाता है। कोई उसको श्वास नहीं लेने देता, तीसरा उसका विभाजन रोक देता है जिससे उसकी संख्या नहीं बढ़ पाती। इस प्रकार की चिकित्सा से जीवाणुओं पर चारों ओर से घोर आक्रमण होता है जिससे उनको सहिष्णु-रूप उत्पन्न करने का समय नहीं मिलता और जीवाणुओं का शीघ्र ही नाश हो जाता है। एराइथ्रोमाइसीन और क्लोरिनैम्फिकोल दोनों का मिश्रित प्रयोग स्टेफिलो, स्ट्रिप्टोकोकाई जन्य विषम अवस्थाओं में सफलतापूर्वक किया गया है। हृदयान्तःकलाशोथ (जीवाणु जन्य), पैनिसिलीन और स्ट्रिप्टोमाइसीन से कुछ विद्वानों को अत्युत्तम फल मिले हैं जब कि केवल एक ही प्रतिजीवी के प्रयोग से कोई लाभ नहीं हुआ। इसी प्रकार टैरामाइसीन (औक्सीटैट्रासाइक्लीन) और पैनिसिलीन तथा पैनिसिलीन और ऐक्रोमाइसीन (टैट्रासाइक्लीन) के मिश्रित प्रयोग को स्टैफ़िलोकोकसजन्य विषम दशाओं में बहुत सफल पाया गया है।

किन्तु कुछ अन्वेषकों को प्रयोगशालाओं में किये गये प्रयोगों में उत्तम परिणाम नहीं मिले हैं। उन्होंने देखा कि एक प्रतिजीवी से दूसरा प्रतिजीवी निष्क्रिय हो गया, उसकी क्रिया घट गई। इसमें सन्देह नहीं कि प्रति-जीवियों में भी सहजीविता और प्रतिजीविता के बहुत उदाहरण मिलते हैं। शरीर में ऐसी घटना घटने की संभावना है। इस कारण प्रयोग से पूर्व ऐसे योगों को लेना चाहिये जिनमें विरोध के प्रमाण न मिले हों।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चतुर्थ परिच्छेद

मैलेरिया-नाशक औषधियाँ

मैलेरिया अत्यन्त प्राचीन रोग है और भूमण्डल का कोई ऐसा देश नहीं है जहाँ यह रोग न फैला हो। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन पाया जाता है। हिप्पोक्रेटीज़ ने सन् ४२२ ईसापूर्व में इसका उल्लेख किया है। रोम और यूनान वालों को इसका ज्ञान था। वे जल से भरे हुये स्थान और दलदलों को इसका कारण मानते थे। वे समझते थे कि ऐसे सीलयुक्त स्थानों की भूमि से विषैले वाष्प निकल कर वायु में मिल जाते हैं और वे ही मैलेरिया रोग का कारण होते हैं। रोम के विस्तृत साम्राज्य के ह्रास का कारण यही रोग हुआ। रोम की सेनाओं के सिपाही इस रोग से ग्रस्त होने के कारण जहाँ-तहाँ हारते चले गये। यह रोग उनमें इतनी प्रबलता से फैला कि वे युद्ध करने के योग्य न रहे और बहुतेरे युद्धक्षेत्र से भागकर अपने घरों में लौट आये।

हमारे देश में इससे भयंकर क्षति होती थी। कुछ ही वर्ष पूर्व तक यह अनुमान किया गया था कि कम से कम एक करोड़ व्यक्ति प्रति वर्ष बीमार पड़ते हैं और उनमें से कम से कम दस लाख की स्वयं मैलेरिया के कारण मृत्यु होती है। मैलेरिया के प्रभाव के कारण अन्य रोगों से ग्रस्त होकर मरने वालों की संख्या भी कम नहीं थी। यह तो उन व्यक्तियों की कथा हुई जिन्होंने अपने प्राण गँवाये। किन्तु मैलेरिया के कारण जो अशक्त और दुर्बल होकर जीविकोपार्जन के ही अयोग्य हो गये उनकी संख्या और भी अधिक थी। इससे कृषि की अत्यन्त हानि होती थी। उद्योग धन्धों के लिये परिश्रम करने के योग्य मज़दूरों का मिलना कठिन हो गया था। इससे देश की असीम आर्थिक हानि होती थी। परिवार का जीविकोपार्जन करने

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वाला ही जब रोगग्रस्त और अशक्त हो जाता है तो सारे परिवार का जीवन कष्टमय हो जाता है।

संसार के अन्य देशों का भी यही हाल है। यह रोग ठंडे मुल्कों की अपेक्षा शीतोष्ण देशों में अधिक होता है। ग्रीस, इटली, दक्षिणी फ्रांस, स्पेन, मेडागास्कर आदि देशों में बहुत होता है। टर्की, यूगोस्लेविया, ब्राज़ील, मैक्सिको तथा अमरीका के दक्षिणी भागों में भी यह रोग बहुत होता है। संसार भर की मनुष्य जाति को आक्रान्त और अशक्त बनाने वाला इसके समान दूसरा कोई रोग नहीं है।

यद्यपि इस रोग का ज्ञान अतिप्राचीन है तो भी उसका वास्तविक कारण और रोग किस प्रकार फैलता है यह नहीं मालूम था। वे लोग इतना जानते थे कि जिन स्थानों में जल भरा रहता है वहाँ यह रोग अधिक होता है। किन्तु उनको इससे अधिक ज्ञान न था। रोग को उत्पन्न करने वाले पराश्रयी (Parasite) का पता सबसे पहिले फ्रांसीसी सेना के एक चिकित्सक ने, जिसका नाम लेवरान था, सन् १८८० में लगाया था। यह महोदय ऐल्जीरिया में सेना के साथ नियुक्त थे। वहीं उन्होंने अनेक रोगियों के रक्त की परीक्षा की। भिन्न-भिन्न समय पर की। जाड़ा लगने के समय, ताप बढ़ जाने पर, पसीना आने के समय, ज्वर उतर जाने पर तथा ज्वर से पूर्ण मुक्त होने के काल में रोगियों के रक्त से फ़िल्म बना कर और उसको उपयुक्त प्रकार से रँग कर अणुदर्शी द्वारा देखा। इससे उनको अनेक रोगियों के रक्त की लाल कणिकाओं के भीतर और उनसे बाहर रक्त में कई आकार के पिंड मिले। वे एक ही पराश्रयी के भिन्न-भिन्न रूप थे जो पराश्रयी की वृद्धि से बने थे। ज्यों-ज्यों वृद्धि होती थी त्यों-त्यों उनका रूप बदलता जाता था। इस प्रकार लेवरान ने मनुष्य के रक्त में होने वाले पराश्रयी के जो 'प्लोज्मोडियम' (Plasmodium) जाति का था, अमैथुनी जीवन चक्र (Asexual life cycle) का तो पता लगा लिया। किन्तु वे यह न मालूम कर पाये कि यह पराश्रयी मनुष्य के रक्त में किस प्रकार पहुँचता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस खोज का श्रेय रौनाल्ड रौस (Sir Ronald Ross) को है। यह भारतवर्ष में अंग्रेजी सेना में चिकित्सक थे। यह भी मैलेरिया की खोज में लगे हुए थे। लेवरान के खोजे हुए प्लाज्मोडियम को इन्होंने भी रोगियों के रक्त में देखा। किन्तु इससे अधिक ये भी न कर पाये। तभी एक बार वे छुट्टी लेकर लन्दन गये हुए थे। वहाँ वे स्कूल-आफ-ट्रौपिकल मैडीसिन के डाइरेक्टर सर पैट्रिक मैन्सन से मिले और उनसे अपनी खोजों की चर्चा की। उन्होंने फ़ाइलेरिया पर अन्वेषण करके यह पाया था कि फ़ाइलेरिया के पराश्रयी के दो जीवन-चक्र होते हैं। एक चक्र मनुष्य के शरीर में होता है। किन्तु दूसरा चक्र मच्छर के शरीर में सम्पूर्ण होता है, मनुष्य के शरीर में नहीं हो सकता। दूसरे चक्र के लिये पराश्रयी को मच्छर के शरीर की आवश्यकता होती है। सर पैट्रिकमैन्सन ने रौनाल्डरौस को सुझाया कि संभव है कि मैलेरिया में भी ऐसा ही होता हो। उन्होंने रोस को अपना अन्वेषण कार्य जारी रखने की सलाह दी। इससे रोस का उत्साह बहुत बढ़ा और लौट कर उन्होंने बड़ी लगन से कार्य प्रारंभ किया।

उन्होंने सहस्रों मच्छरों के शरीरों का व्यवच्छेदन किया। मैलेरिया के रोगियों को उनसे कटवाया। कटवाने के दो-दो चार-चार दिन पर उनका व्यवच्छेदन किया। अन्त में अपने अटूट और निरन्तर दो साल के परिश्रम के पश्चात् वे पराश्रयी को मच्छर के शरीर में खोजकर निकालने में सफल हुये और कितने ही मच्छरों की परीक्षा पर उनको पराश्रयी के अनेक रूप मिले। ये भी अमैथुनी चक्र की भाँति पराश्रयी के वृद्धि-क्रम की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के रूप थे। यह खोज करने के पश्चात् उन्होंने अपनी नोटबुक में लिखा।

'Seeking his secret deeds with tears and toiling breath.
I find thy cunning seeds, O million murdering death.'

रौनाल्डरौस की इस खोज से पता लग गया कि मच्छर रोगी को काटने के समय जब उसका रक्त चूसता है तो पराश्रयी के अमैथुनी चक्र के कुछ

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रूप उसके आमाशय में चले जाते हैं। वहाँ वे वृद्धि करते हैं और कई परिवर्त्तनों के पश्चात् जब वे अपने अन्तिम रूप में पहुँच जाते हैं तो मच्छर की लालाग्रन्थियों में आकर एकत्र हो जाते हैं। जब मच्छर फिर किसी व्यक्ति को काटता है तो वह अपने थूक के साथ उनको उसके रक्त में प्रविष्ट कर देता है जहाँ उनका अमैथुनी चक्र फिर प्रारंभ होता है। मच्छर के शरीर में होने वाला मैथुनी चक्र (Sexual cycle) कहलाता है।

रौनाल्ड रौस की इस खोज से स्पष्ट हो गया कि मैलेरिया का पराश्रयी किस प्रकार मनुष्य के रक्त में पहुँचता है। मच्छर मनुष्य के रक्त से पराश्रयी को चूस लेता है और वही फिर मनुष्य के रक्त में प्रविष्ट कर देता है। हाँ, वह चूसता पराश्रयी के किसी और रूप को है और उसकी वृद्धि के पश्चात् दूसरे ही रूप को मनुष्य में प्रविष्ट कर देता है। अतएव मच्छर मैलेरिया का वाहक प्रमाणित हुआ। यह भी मालूम हुआ कि केवल अनाफिलीज जाति का मच्छर ही यह कर्म करता है और उनमें भी केवल मादा मच्छर ही मनुष्य को काटती है, नर के मुँह में काटने का अंग नहीं होता।

यह खोज इतने महत्त्व की थी कि उससे मैलेरिया को रोकना तथा उसका मूलोच्छेद संभव हो गया। इसके लिये रौस को सर का खिताब मिला और लेवरान और रौस दोनों को नोबेल पुरस्कार दिया गया।

आज सब ही देश मैलेरिया का नाम मिटाने के प्रयत्न में लगे हुये हैं। प्रत्येक देश में रोग घट गया है। इसके लिये विश्व स्वास्थ्यसंघ (World Health organisation) जो संयुक्त-राष्ट्र-संघ (U. N. O.) का एक अंश है, सब ही देशों को बहुत सहायता पहुँचा रहा है। हमारे देश में भी इस ओर सन्तोषजनक उन्नति हुई है। सरकार ने मैलेरिया विभाग ही बना दिया है जिसका काम मैलेरिया-संबंधी अन्वेषण तथा उसको रोकने के नये-नये उपाय निकालना तथा प्रत्येक प्रदेश को उनके उपायों को कार्यान्वित करने में सहायता देना है। प्रत्येक प्रदेश स्वतः मैलेरिया के मूलोच्छेदन में प्रयत्नशील है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

औषधियों का विचार करने से पूर्व मैलेरिया के संबंध में निम्न बातों का विचार आवश्यक है।

१. मैलेरिया का रोगवाहक (Veetor) मच्छर।
२. मैलेरिया का कारण—पराश्रयी या प्लाज्मोडियम।
३. मैलेरिया का आक्रान्त व्यक्ति—रोग के लक्षण।

मच्छर—केवल ऐनोफ़िलीज जाति का मच्छर मैलेरिया फैलाता है, उसमें भी केवल मादा मच्छर। ऐनोफ़िलीज जाति की ३५० उपजातियों का उल्लेख किया गया है। किन्तु उनमें से केवल ६० रोग फैलाने वाली हैं। हमारे देश में केवल ८ या ९ उपजातियाँ मैलेरिया का वहन करती हैं। क्यूलेक्स जाति का मच्छर फ़ाइलेरिया का वाहक है। तीसरी जाति ईडीज़ (Aedes Egyptii) डैंगू और पीत ज्वर का वहन करती है।

मच्छर बँधे या रुके हुये जल में अंडे देते हैं जिनसे २ या ३ दिन में जल में द्रुतगति से तैरने वाले लार्वा (larva) या इल्ली बन जाती हैं। ये लार्वा ८ से १० दिन में प्यूपा (Pupa) बन जाते हैं। दो तीन दिन पश्चात् बड़े से शिर वाला, कोमा आकार का प्यूपा निश्चेष्ट पड़ जाता है और उसके शरीर के फटने से एक पूर्ण किन्तु छोटा मच्छर निकल आता है जो एक या दो घंटे में परों के सूख जाने पर उड़ जाता है।

मैलेरिया नाश के उपायों में मच्छरों का नाश एक विशेष साधन है। लार्वों को नष्ट करना सुगम उपाय है। डी० डी० टी० और गामेक्सान नामक औषधियाँ इसके लिये बहुत उपयोगी प्रमाणित हुई हैं। जहाँ जल भरा होता है वहाँ इन औषधियों के घोल को जल में मिला देते हैं। इससे लार्वा नष्ट होते हैं। अन्य उपाय भी किये जाते हैं। ये औषधियाँ वयस्क मच्छरों के नाश में भी बहुत सफल प्रमाणित हुई हैं। इनकी फुहारें कमरों की दीवारों पर डाली जाती हैं।

मैलेरिया का पराश्रयी—यह प्लाज्मोडियम (Genes) का एक-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कोशीय प्रजीवाणु (protozoon) है। ये तीन प्रकार के होते हैं और तीन प्रकार का रोग उत्पन्न करते हैं :—

१. **प्लाज्मोडियम वाइवेक्स**—(Plasmodium Vivax) इसके कारण **सुदम्य तृतीयक** (benign tertian) प्रकार का मैलेरिया होता है जिसमें तीसरे दिन ठंढ के साथ ज्वर आता है और चार पाँच घण्टे पश्चात् उतर जाता है।

२. **प्लाज्मोडियम फेल्सीपैरम** (Pl. Falciparum)—यह **दुर्दम्य तृतीयक** (Malignant tertian) रूप का ज्वर उत्पन्न करता है। ज्वर में कोई क्रम नहीं होता। २४ घंटे या इससे भी अधिक निरन्तर बना रह सकता है। कुछ घंटे तक उतरा रहने के पश्चात् फिर बढ़ सकता है। अन्य विषम लक्षण भी प्रकट हो सकते हैं। शीघ्र ही उपयुक्त चिकित्सा न होने से ज्वर बढ़ता चला जाता है और रोगी की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। ऐसे रोग में बहुत मृत्यु होती हैं।

३. **प्लाज्मोडियम मैलेरी** (Pl. Malariae)—यह **चतुर्थक** (Quartan) प्रकार के ज्वर का कारण होता है जिसमें चौथे दिन ज्वर आता है।

यह पाया गया है कि इन तीनों प्लाज्मोडियम में से प्रत्येक के कई प्रकार (strains) होते हैं। आकृति में अणुदर्शी द्वारा वे सब प्रकार एक ही दीखते हैं, कोई भेद नहीं दिखाई देता। किन्तु उनकी प्रबलता में बहुत भेद होता है। कुछ तीव्र रोग उत्पन्न करते हैं, कुछ मृदु। वास्तव में प्रत्येक प्रकार की तीव्रता में भेद होता है। उन पर औषधियों के प्रभाव में भी भेद पाया जाता है। कुछ थोड़ी ही मात्रा से शीघ्र ही वश में आ जाते हैं। कुछ के दमन के लिये अधिक मात्रायें दीर्घकाल तक प्रयोग करनी पड़ती हैं। कुछ के बार-बार पुनराक्रमण होते हैं, कुछ के नहीं।

पराश्रयी का जीवन चक्र—लैवरान और रौनाल्डरौस ने पराश्रयी के अमैथुनी और मैथुनी चक्र तो मालूम कर लिये थे। किन्तु अब एक और

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चक्र मालूम हुआ है जो ऊतकान्तर्गत या पूर्व-लोहिताणु चक्र (tissue phase or pre-erythrocytic cycle) कहलाता है । संक्रमित मादा मच्छर काटने के समय स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में पराश्रयी के स्पोरज (sporozoites) रूपों को रक्त में प्रविष्ट कर देता है। आध घंटे तक रक्त में रहकर ये यकृत या अस्थियों की कोशिकाओं में चले जाते हैं जहाँ वे १०, १२ दिन तक विना रोग के लक्षण उत्पन्न किये पड़े रहते हैं। इस काल में व्यक्ति पूर्णतया स्वस्थ रहता है। इस समय में पराश्रयियों में वृद्धि होती है, वे प्रच्छन्नखंडज (cryptomerozoites) के रूप में कोशिकाओं तथा उनके बीच में छिपे रहते हैं। दस बारह दिन पश्चात् ये खंडज (merozoites) बनकर कोशिका के फटने से बाहर निकल कर रक्त में आ जाते हैं। यह **पूर्व-लोहिताणु अवस्था** कहलाती है।

अब प्रत्येक खण्डज पोषज (trophozoites) बन कर रक्त की एक लाल कणिका के भीतर घुस जाता है। इसी समय रोगी को जाड़ा लगता है और इसी समय क्विनीन की उत्तम क्रिया होती है। लाल कणिका के भीतर पोषज गोल पिण्ड बन जाता है। उसके आकार की वृद्धि होती है और उसमें खण्ड बनने लगते हैं। यह खण्डज प्रसू (Schizont) कहलाता है। धीरे धीरे खंड पूर्ण होकर एक दूसरे से पृथक् होने लगते हैं और खंडज कहलाते हैं। इस समय कणिका फट जाती है और खंडज (merozoites) बाहर रक्त में आ जाते हैं। प्रत्येक खंडज फिर से नई कणिका पर आक्रमण करता है और उसके भीतर प्रविष्ट होकर फिर से पूर्ववत् चक्र प्रारंभ कर देता है। यह **अमैथुनी चक्र** कहलाता है।

कुछ समय तक इसी प्रकार अमैथुनी चक्र चलता रहता है। उसके पश्चात् कुछ पोषज खण्डज रूप न धारण करके मैथुनी रूप बन जाते हैं और **युग्मकजन** (gametocytes) की उत्पत्ति करते हैं। ये नर और मादा रूपों की उत्पत्ति करने वाले होते हैं। मनुष्य के रक्त में इससे अधिक वृद्धि नहीं होती। उसके लिये मच्छर के शरीर की आवश्यकता होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस अवस्था पर जब कोई मादा मच्छर रोगी को काटता है जिसके रक्त में पराश्रयी के मैथुनी रूप उपस्थित होते हैं तो वे मच्छर के आमाशय में पहुँच जाते हैं जहाँ लाल कणिका के आवरण के फट जाने से ये रूप स्वतन्त्र होकर नर और मादा युग्मक (gametes) बन जाते हैं। इसके पश्चात् नर युग्मक के शरीर से कई लम्बे तन्तु निकलते हैं जिनमें से एक तन्तु मादा युग्मक के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। इससे युग्मज (zygote) बनता है। इसका एक सिरा नुकीला हो जाता है जिसको चल युग्म (Ookinete) कहते हैं। यह अपने नुकीले सिरे से आमाशय की भित्ति को छेद कर उसमें प्रविष्ट हो जाता है और वहाँ पड़ा रहता है। उसका आकार बढ़ता है। उसके चारों ओर ऊतकों के एकत्र होने से एक गाँठ सी बन जाती है जो युग्मक पुटी (oocyst) कहलाती है। इसका आकार बढ़ता रहता है। इसके भीतर खंडज भरे रहते हैं, उनकी संख्या भी बढ़ती रहती है। अन्त में पुटी फट जाती है, खंडज मच्छर की शरीर गुहा (body cavity) में पहुँच जाते हैं और वहाँ से लाला ग्रन्थियों में पहुँच कर स्पोरज के रूप में वहाँ एकत्र रहते हैं। जब मच्छर किसी व्यक्ति को काटता है तो उसके लाला के साथ व्यक्ति के रक्त में प्रविष्ट हो जाते हैं। और फिर प्रथम चक्र प्रारंभ करते हैं। यह मैथुनी चक्र (Sexual cycle) कहलाता है।

पराश्रयी की तीनों जाति में जीवन-चक्र का यही क्रम है। किन्तु उनमें अवधि में अन्तर पाया जाता है। प्ला. वाइवैक्स का अमैथुनी चक्र ४८ घंटे में समाप्त होता है। इस कारण प्रति ४८ घंटे के पश्चात् जब नये खंडज रक्त कणिकाओं को फाड़कर निकलते हैं तब जाड़ा लग कर ज्वर आता है। प्ला. मैलेरी का चक्र ७२ घंटे में समाप्त होता है, इस कारण ज्वर चौथे दिन आता है। प्ला. फैल्सीपैरम का क्रम अनिश्चित है, ज्वर निरन्तर कई दिनों तक चढ़ा रह सकता है या उसका घातक अन्त हो सकता है।

किन्तु प्ला. मैलेरी का रोग (घातक तृतीयक) सामयिक और उपयुक्त चिकित्सा से शीघ्र ही जाता रहता है, यद्यपि चिकित्सा में विलम्ब तथा आवश्यक मात्रा में औषधि न देना प्राणांतक हो सकता है। इस रूप में सफल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चिकित्सा के पश्चात् बार-बार पुनराक्रमण नहीं होते। प्लाज़्मोडियम के वे रूप भी नहीं उत्पन्न होते जो ऊतकों में छिपे पड़े रहते हैं और समय-समय पर (दो वर्ष का अन्तर संभव है) रक्त में आकर कणिकाओं को आक्रान्त करके रोग उत्पन्न करते हैं।

प्ला. वाइवैक्स से उत्पन्न हुआ मैलेरिया एक चिरकालिक किन्तु मृदु रोग है जिसमें तत्काल मृत्यु का भय नहीं रहता। किन्तु इसमें ऊतकान्तर्गत रूप बहुत बनते हैं जो ऊतकों में छिपे पड़े रहते हैं और पुनराक्रमण का कारण होते हैं। इस प्रकार के पराश्रयी का औषधियों से नाश कठिनता से होता है और अधिक काल तक सतत प्रयत्न करना पड़ता है। इसी रूप में प्लीहा अभिवृद्धि और रक्तकणिकाओं का अधिक नाश होता है जिससे रक्तक्षीणता भी उत्पन्न हो जाती है और त्वचा में हीमेटिन के कण एकत्र होने से रंग काला हो जाता है।

मैलेरियानाशक औषधियों की खोज

क्यूनीन मैलेरिया की बड़ी पुरानी औषधि है। यह सिन्कोना नामक वृक्ष की छाल से बनाई जाती है। सत्रहवीं शताब्दी में दक्षिणी अमरीका के पैरू प्रदेश में स्पेन वालों का राज्य था। वहाँ स्पेन के राजा की ओर से एक गवर्नर नियुक्त था। कहा जाता है कि गवर्नर की स्त्री मैलेरिया से ग्रस्त होने पर इसी वृक्ष की छाल के प्रयोग से रोगमुक्त हुई थी और उसने ही सबसे पहिले सिंकोना की छाल को योरूप में प्रयोग के लिये भेजा। पैरू में खोज करने से पता चला कि वहाँ के रैडइंडियन निवासी इसी के प्रयोग से रोगमुक्त होते थे। योरूप में भी सिंकोना का बहुत प्रयोग बढ़ गया यहाँ तक कि पैरू से मिलने वाली सिंकोना छाल कम होने लगी। तब उन लोगों ने अठारहवीं शती के मध्यकाल में जावा में सिंकोना वृक्षों को उगाया और कुछ ही वर्षों के पश्चात् अंग्रेजों ने भारतवर्ष में इन वृक्षों की खेती प्रारंभ की। इससे पूर्व योरूप में सिंकोना की छाल से क्यूनीन बनाई जा चुकी थी और मैलेरिया में उसका प्रयोग अत्यन्त सफल प्रमाणित हुआ था। अतएव क्यूनीन का ख़र्चा बहुत बढ़

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गया था और सब ही देशों से उसकी माँग होने लगी थी। जावा में उत्पन्न हुये वृक्षों की छाल से अधिक क्यूनीन निकलती थी। भारतवर्ष में उगाये हुये वृक्षों में क्यूनीन की मात्रा कम थी। इस कारण सब ही देश क्यूनीन के लिये जावा पर निर्भर रहते थे। जावा और वेस्ट इंडीज़ डच लोगों के अधिकार में थे। इस कारण अन्य देशों को क्यूनीन न मिलने का डर रहता था।

योरूप के महायुद्ध में जब जापान ने फिलिपाइन, जावा तथा वैस्ट इन्डीज़ को अपने अधिकार में कर लिया तो अन्य देशों को क्यूनीन मिलना बन्द हो गया। तब सब ही देशों में क्यूनीन के समान गुणकारी औषधि के निर्माण की खोज आरंभ हुई। जर्मनी ने इससे पूर्व ही खोज प्रारंभ कर दी थी। अमरीका में खोज भी प्रारंभ हुई और सिंकोना की खेती भी की गई। जर्मनी में युद्ध से पूर्व ही एटाब्रिन और प्लाज्मोक्विन बन चुके थे। प्रोफेसर अर्हलिख ने अपने प्रयोगों से सन् १८९१ में बता दिया था कि 'मिथिलिन ब्ल्यू' नामक रंग में मैलेरिया पराश्रयियों को नष्ट करने का कुछ गुण है। इसको ही आधार बना कर जो खोजें की गईं उनसे **प्लाज्मोक्विन** का आविष्कार हुआ। इस योग की विशेष क्रिया मैलेरिया पराश्रयी के मैथुनीरूप युग्मकजनों पर होती है। किन्तु अमैथुनी पोषज (Trophozoito) पर उसकी कोई क्रिया नहीं होती। रासायनिक संगठन के अनुसार इसमें एक अंश (क्विनोलिन वलय) क्यूनीन ही के समान है जिसकी क्रिया केवल अमैथुनी रूपों पर होती है। अतएव और प्रयोग तथा अन्वेषण किये गये, और सन् १९३० में **एटेब्रिन** का निर्माण हुआ।

गत महायुद्ध में प्रत्येक देश में इस दिशा में अनेक खोजें हुईं। अमरीका में **क्लोरोक्विन** और **ऐमिडोक्विन** नामक योग तैयार हुये जो रोग के आक्रमण को रोकने में एटाब्रिन से अधिक क्रियाशील पाये गये। इंग्लैण्ड में **क्लोरो-गुवेनाइड** योग तैयार हुआ। और भी खोजें हुईं जिनसे **डाराप्रिम** तैयार हुआ जिसकी अमैथुनी रूपों पर क्रिया होती है और जो मैथुनी रूपों, युग्मक जनों,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

को भी नहीं उत्पन्न होने देता। इस प्रकार यह योग एटाब्रिन और प्लाज्मोकिन दोनों का काम करता है और इस कारण रोग को रोकता भी है तथा पुनराक्रमणों से भी मुक्ति देता है। इसकी विषाक्तता भी बहुत कम है और मात्रा भी थोड़ी है। इस कारण यह अत्युत्तम औषधि प्रमाणित हुई है।

मैलेरिया की चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाली औषधियाँ

क्यूनीन—सिंकोना वृक्ष की छाल और जड़ का यह एक अंश है। यह एक अलकलाइड है। ऐसे १८ अलकलाइड सिंकोना में पाये जाते हैं। किन्तु केवल दो अलकलाइड क्यूनीन और क्यूनीडीन उपयोगी पाये गये हैं। सिंकोना दक्षिणी अमरीका का एक जंगली वृक्ष है जो वहाँ के जंगलों में बहुतायत से होता है। किन्तु उसमें क्यूनीन का अंश केवल ५ प्रतिशत पाया जाता है। जावा, वेस्ट इन्डीज़ आदि के सिंकोना वृक्षों की छाल से १८ प्रतिशत तक क्यूनीन निकलती है। हमारे देश में भी इसकी उत्पत्ति की जाती है।

क्यूनीन के रूप—क्यूनीन के विशेषकर चार योगों का प्रयोग किया जाता है। १. क्यूनीन सल्फेट। २. क्यूनीन बाई-सल्फेट। ३. क्यूनीन हाइड्रोक्लोराइड। ४. क्यूनीन बाई-हाइड्रोक्लोराइड। इनके अतिरिक्त क्यूनीन-यूरिया-हाइड्रोक्लोराइड का इंजैक्शन बनाने के लिये प्रयोग किया जाता है।

ये सब योग श्वेत रंग के फसफसे, अत्यन्त हलके चूर्ण रूप में होते हैं जिनका स्वाद अत्यन्त कड़ुवा होता है। इनकी जल में घुलनशीलता भिन्न-भिन्न है। क्यूनीन सल्फेट ८०० गुणा जल में घुलती है। इस कारण उसमें सल्फुरिक अम्ल मिला कर उसके मिक्शचर तैयार किये जाते हैं। क्यूनीन हाइड्रोक्लोराइड ३२ गुणा, क्यूनीन-बाई-सल्फेट १० गुणा और क्यूनीन-बाई-हाईड्रोक्लोराइड ०·६ भाग जल में घुल जाते हैं। इस कारण क्यूनीन-बाई-हाइड्रोक्लोराइड ही का इन्जैक्शन बनाने के लिये उपयोग किया जाता है। क्यूनीन का अवशोषण क्षुद्रान्त्र से तुरन्त हो जाता है। किन्तु यदि टिकिया बहुत कड़ी होती है या उस पर किसी अनघुलनशील पदार्थ का स्तर चढ़ा रहता है तो टिकिया के वैसे ही मल द्वारा निकल जाने का डर रहता है। अवशोषण

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

के पश्चात् आधा क्यूनीन तो यकृत् द्वारा ३६ घंटे में विभंजित हो जाता है और शेष आधा मूत्र द्वारा निकल जाता है।

क्यूनीन की क्रिया—यद्यपि क्यूनीन की क्रिया शरीर के भिन्न-भिन्न भागों पर भी होती है, उसकी तथा सिंकोना के अन्य अलकलाइडों—क्यूनीडीन, सिंकोनीन तथा सिंकोनिडीन—की विशिष्ट क्रिया मैलेरिया के पराश्रयी प्लाज़्मोडियम के खंडजप्रसू (Schizont) रूप पर होती है। प्ला. वाइवैक्स के रक्त में उपस्थित खंडजप्रसू नष्ट हो जाते हैं। किन्तु जो यकृत् की कोशिकाओं में जाकर छिप जाते हैं उन पर क्यूनीन तथा अन्य अलकलाइडों की क्रिया नहीं होती और वे ही पुनराक्रमणों का कारण होते हैं। किन्तु पुनराक्रमणों को क्यूनीन से सफलतापूर्वक रोका जा सकता है और दो वर्ष के पश्चात् वे नहीं होते। प्ला. फैल्सीपैरम के मैलेरिया में ऐसा नहीं होता। एक बार सफल चिकित्सा के पश्चात् फिर ज्वर के पुनराक्रमण नहीं होते। पराश्रयी के युग्मकरूप क्यूनीन से अप्रभावित रहते हैं।

क्यूनीन किस प्रकार पराश्रयी रूपों को नष्ट करती है, उसकी क्रिया का क्या रूप होता है, यह अभी तक नहीं मालूम हुआ है। क्यूनीन को जीवद्रव्य (Protoplasm) का सामान्य विष (Protoplasmic poison) माना जाता है। इसके कुछ अर्थ नहीं हैं। प्रत्येक औषधि जीवद्रव्य के लिये विष है। अन्तर केवल उसकी मात्रा का है। अधिक मात्रा से प्रत्येक औषधि जीवद्रव्य को नष्ट कर देगी। यही क्यूनीन के सम्बन्ध में सत्य है। क्यूनीन चिकित्सोपयोगी मात्रा में पराश्रयी के अमैथुनी रूपों का नाश करती है, अंगों की कोशिकाओं के जीवद्रव्य का नहीं, यहाँ तक कि पराश्रयी के मैथुनी रूपों का भी नहीं।

क्यूनीन की शरीर के अंगों पर क्रिया

क्यूनीन अपने कड़वे स्वाद के कारण पाचकरसों के उत्पादन को बढ़ाती है। इस कारण थोड़ी मात्रा में उसका पाचक औषधि की भाँति उपयोग किया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्यूनीन में कुछ ज्वरहारी (Antipyretic) प्रभाव भी है। ऐस्पिरिन, फ़िनिसेटिन आदि की भाँति उससे सब प्रकार के ज्वर कम होते हैं। किन्तु मैलेरिया का ज्वर उतरना केवल पराश्रयियों के नाश का फल होता है।

क्यूनीन की बड़ी मात्राओं से गर्भपात हो जाता है। इस कारण गर्भावस्था में, विशेषकर दूसरे मास में जो आर्त्तव की तिथि हों उनमें क्यूनीन की बड़ी मात्रायें न देनी चाहिये। किन्तु गर्भिणी मैलेरिया से ग्रस्त हो तो क्यूनीन की चिकित्सोपयोगी मात्रा न रोकनी चाहिये। मैलेरिया स्वयं गर्भपात का कारण होता है।

क्यूनीन की विषाक्तता के लक्षण—क्यूनीन की अधिक मात्रा और कुछ विशेष द्रुतग्रहियों (Sensitive, allergic) में थोड़ी मात्रा से भी कानों में आँधी चलने का सा शब्द या तारों के बजने की सी ध्वनि सुनाई देने लगती है। नेत्र के सामने तारे से टूटना, दृष्टि का कम हो जाना और कभी-कभी अंधता तक हो जाती है। दृष्टिनाड़ीक्षय (Optic atrophy) तक देखा गया है। द्विदृष्टि, प्रकाशासह्यता (Photophobia) तथा दृष्टि क्षीणता हो सकते हैं। शिरदरद, जी मिचलाना, तथा वमन होने लगते हैं। बहुत अधिक मात्रा से ज्वर, उन्माद, मानस विकार, अचैतन्यता तथा मृत्यु तक देखी गई हैं।

कुछ व्यक्तियों को क्यूनीन तनिक भी सहन नहीं होती। ०·१ ग्राम से त्वचा पर लाल-लाल पित्ती के समान चकत्ते बन जाते हैं। खुजली आती है। ज्वर तथा दमे के से लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। मूत्राशय या नाक से रक्तस्राव हो सकता है। ऐसे व्यक्तियों में त्वचा पर—१० प्रतिशत क्यूनीन का लोशन लगाकर इस दशा को मालूम किया जा सकता है। लोशन लगाने के पश्चात् उस स्थान की त्वचा को सुई या चिमटी से खुरच देने से लाल चकत्ता (शोथ प्रान्त) बन जायगा। ऐसे व्यक्तियों को थोड़ी-थोड़ी क्यूनीन के बार-बार इन्जैक्शन देकर उनमें सहिष्णुता उत्पन्न की जा सकती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्यूनीन का चिकित्सा में उपयोग तथा मात्रा

क्यूनीन एक विषाक्त औषधि है। मैलेरिया के अतिरिक्त उसका अन्य दशाओं में उपयोग न करना चाहिये। मैलेरिया की भी उत्तमोत्तम औषधियों का निर्माण हो गया है जो क्रियाशील भी अधिक हैं और जिनमें विषैले प्रभाव भी कम हैं।

मैलेरिया में ०·६ ग्राम की क्यूनीन सल्फेट की टिकियाँ दिन में तीन वार, भोजन के पश्चात्, तीन या चार दिन तक अथवा जब तक ज्वर आना बन्द न हो जाय तब तक देना चाहिये। उसके पश्चात् भी ३ दिन तक इसी प्रकार टिकियाँ दी जाँय। इसके पश्चात् ३ महीने तक ०·६ ग्राम की एक टिकिया रात्रि को भोजनोपरान्त दी जाय। इससे प्रायः रोग के पुनराक्रमण नहीं होते। जिनको मैलेरिया के क्षेत्रों में रहना पड़ता है और जो बार-बार संक्रमित होते रहते हैं उनमें रोग को क्यूनीन से नहीं रोका जा सकता।

प्लाज्मोक्वीन—इसको पामाक्विन (Pamaquine Naphthoate) भी कहते हैं। यह एक पीले रंग का स्वाद और गंध रहित चूर्ण होता है। प्रयोगशाला में मैलेरियाहारी औषधियों में यह सबसे पहिले बनाया जाने वाला योग है। इसका विशेष उपयोग सुदम्य तृतीयक मैलेरिया के पुनराक्रमणों को रोकने में है। उसकी क्रिया प्ला० वाइवेक्स और प्ला० फैल्सीपैरम दोनों के मैथुनी रूपों युग्मकजनों पर घातक होती है। किन्तु अमैथुनी रूपों पर नहीं होती। इस कारण क्यूनीन के ०·६ ग्राम के साथ १० मिली-ग्राम मिलाकर, दिन में तीन बार, १० से १४ दिन तक दी जाती है। यह मात्रा सुदम्य तृतीयक के युग्मकों को आहत करने के लिये आवश्यक है। दुर्दम्य तृतीयक के युग्मक उससे ५ दिन में नष्ट हो जाते हैं।

द्वितीय महायुद्ध में इसके अनेक रोगियों में विषैले प्रभाव पाये गये। उससे मैटहीमोग्लोबीनीमिया (Methaemoglobinaemia), रक्तनीलिमा (Cyanosis) और रक्तलायी कामला (Haemolytic jaundice) हो जाते हैं। कभी-कभी वाहिनियों के भीतर ही रक्तलयन (Haemolysis) होने लगता है। शिरदर्द, उदरशूल, अतिसार आदि पाचन विकार अनेक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रोगियों में पाये जाते हैं। दुर्बलता तथा हृदयावसाद भी मिले हैं। मैपाक्रीन से इसकी विषाक्तता और भी बढ़ जाती है। इस कारण दोनों औषधियों को एक साथ नहीं दिया जाता।

पैन्टाक्वीन (Pentaquine)

यह प्लाज्मोक्वीन के बहुत कुछ समान है और उसी के अणु में कुछ परमाणुओं को घटा-बढ़ा कर बनाया गया है। इसकी भी क्रिया मैथुनी रूपों पर होती है और इस कारण ज्वर के पुनराक्रमण रुक जाते हैं। ८०० व्यक्तियों जिनको मैलेरिया के ४ पुनराक्रमण हो चुके थे उनको ५० योगों का प्रयोग करवाया गया। अन्यों की अपेक्षा पैन्टाक्वीन अधिक क्रियाशील पाई गई। किन्तु उसकी विषाक्तता बहुत अधिक है। प्लाज्मोक्वीन के संबंध में बताये हुये सब ही उपद्रव उससे उत्पन्न होते हैं। सवर्णी (काले रंग के) सिपाहियों में रक्तलायी कामला, हृदयावसाय, उदर शूल तथा अन्य पाचन विकार, मैटहीमोग्लोबीनिमियाँ, उन्माद आदि उपद्रव अधिक मिले। रक्तक्षयी उपद्रव भी उत्पन्न हो जा सकते हैं। इस कारण रक्त की परीक्षा करते रहना आवश्यक है।

अतएव इस योग का उपयोग बहुत कम हो गया और इसी पर अन्वेषण करके कम विषैले योगों को बनाने का प्रयत्न किया गया जिसका परिणाम प्राइमाक्वीन हुई।

प्राइमाक्वीन—(Primaquine)

इस समूह में यह सबसे उत्तम योग पाया गया। पुनराक्रमणों को रोकने में तथा मैथुनी रूपों को नष्ट करने में यह पैन्टाक्वीन के ही समान उपयोगी प्रमाणित हुई किन्तु उससे कम विषैली थी। इसकी मात्रा १५ मिली ग्राम है जो २६·५ मिलीग्राम प्राइमाक्वीन डाई-फोस्फेट की टिकिया में होती है। क्विनीन या क्लोरोक्वीन के साथ दिन में तीन बार १४ दिन तक इस योग को देने से आरोग्यलाभ होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस योग का कोरिया के युद्ध में बहुत प्रयोग किया गया था। युद्ध के दिनों में रोग को रोकने के लिये क्लोरोक्वीन या एटेब्रीन दिया गया। युद्ध के पश्चात् लौटने के समय प्रत्येक व्यक्ति को १५ मिलीग्राम प्राइमाक्वीन, दिन में एक बार १४ दिन तक दी गई। इससे लौटे हुये व्यक्तियों में बहुत कम पुनराक्रमण हुये और उपद्रव भी कम हुये। रक्तलायी कामला केवल एक को हुई। मैटहीमोग्लोबीनीमिया भी अत्यल्प को हुई।

किनाक्राइन, ऐटाब्रीन (Atabrine), मैपाक्रीन (Mepacrine) ये तीनों एक ही योग के नाम हैं।

इस योग का रासायनिक संगठन भिन्न प्रकार का है। वह क्यूनीन से भी नहीं मिलता। यह एक पीले रंग का क्रिस्टलीय गन्धरहित किन्तु अत्यन्त कडुवे स्वाद का चूर्ण होता है। यह जल में हलका घुलनशील है। घुलने पर इसका आम्लिक घोल बनता है। इसकी क्रिया क्विनीन ही के समान है। वह दुर्दम्य तृतीयक पर विशेष क्रियाशील है। प्ला० वाइवेक्स और फेल्सीपैरम दोनों के अमैथुनी रूपों पर उसकी क्रिया क्विनीन की अपेक्षा अधिक प्रबल होती है। किन्तु मैथुनी रूपों युग्मकजनों पर क्रिया नहीं होती और न पूर्व-लोहिताणु अवस्था ही पर होती है। इस कारण ऐटाब्रीन पुनराक्रमणों को नहीं रोक पाती।

प्रयोग और मात्रा—आन्त्रकला से अवशोषित होने के पश्चात् इसका अधिक भाग यकृत् और प्लीहा में पहुँचकर वहाँ एकत्र हो जाता है। इस कारण रक्त में इसकी थोड़ी ही मात्रा रह जाती है। अतएव चिकित्सा प्रारंभ करते समय इसको अधिक मात्रा में देना पड़ता है। इसकी प्रथम पाँच मात्रायें, (०·२ ग्राम की) प्रत्येक मात्रा १ ग्राम सोडा बाईकार्बोनेट के साथ छः छः घंटे पर खिलाई जाती है और प्रत्येक मात्रा के साथ एक गिलास जल पिलाया जाता है। उसके पश्चात् ०·१ ग्राम की मात्रायें, दिन में तीन बार, छः दिन तक दी जाती हैं।

ऐटाब्रीन की विषाक्तता—ऐटाब्रीन की विषाक्तता कम है। अधिकतर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व्यक्तियों में तीन चार दिन के प्रयोग के पश्चात् त्वचा पीली हो जाती है। नेत्र भी पीले दिखाई देते हैं। इससे कोई हानि नहीं होती। प्रयोग बन्द करने के पश्चात् एक सप्ताह में पीलापन जाता रहता है। कुछ व्यक्तियों में वमन और अतिसार आदि पाचन विकार भी पाये गये हैं।

कुछ व्यक्तियों में विशेष असहिष्णुता का उल्लेख भी मिलता है। यकृत् और रक्त क्षीणता तथा कणयुक्त श्वेताणुक्षय भी कुछ व्यक्तियों में पाये गये हैं।

फीताकृमि (Tapeworm) की चिकित्सा में भी ऐटाब्रीन का प्रयोग किया जाता है।

इंग्लैण्ड में ऐटाब्रीन ही को मैपाक्रीन कहा जाता है।

क्लोरोक्वीन (Chloroquine)—यह श्वेत रंग का क्रिस्टलीय चूर्ण होता है जो जल में शीघ्र ही घुल जाता है। मैलेरिया की चिकित्सा में यह योग बहुत उपयोगी पाया गया है। ऐटाब्रीन और क्यूनीन दोनों की अपेक्षा यह अधिक लाभदायक है। इससे चर्म और नेत्र पीले भी नहीं होते, न अन्य विषैले लक्षण ही होते हैं। इसकी क्रिया प्ला० वाइवेक्स और फैल्सीपैरम के रक्त में उपस्थित असैथुनी रूपों पर होती है। एक या दो दिन ही के प्रयोग से ज्वर के आक्रमण रुक जाते हैं। किन्तु उसकी मैथुनी रूपों पर क्रिया नहीं होती। प्ला० फैल्सीपैरम के ज्वर की तो इससे सम्पूर्ण चिकित्सा हो जाती है। प्ला० वाईवेक्स के पूर्व-लोहिताणु तथा मैथुनी रूप पर क्रिया न होने से उनके पुनराक्रमण नहीं रुकते। अतएव आजकल आक्रमण रोकने के लिये (Suppressive treatment) क्लोरोक्वीन प्रयोग करवाई जाती है। उसके पश्चात् १४ दिन तक प्राइमाक्वीन दी जाती है। सेना में इस क्रम का बहुत प्रयोग किया गया है। जब तक सैनिक कोरिया के मैलेरियामय स्थानों में रहे तब तक उनको क्लोरोक्वीन मिलती रही। जब वे वहाँ से अपने घरों को लौटे तो उनको १४ दिन तक प्राइमाक्वीन प्रयोग करवाई गई। इससे बहुत सन्तोषजनक परिणाम निकले। मैलेरिया रोग में बहुत कमी हो गई।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्लोरोक्वीन का शोषण क्षुद्रान्त्र की श्लैष्मिक कला द्वारा होकर वह रक्त में शीघ्र ही पहुँच जाती है और वहाँ से यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस और रक्त की श्वेत कणिकाओं में पहुँच कर एकत्र होती जाती है। इसका त्याग इसी रूप में या कुछ परिवर्त्तन के पश्चात् मूत्र द्वारा होता है।

प्रयोग तथा मात्रा—क्लोरोक्वीन की ०·२५ ग्राम की टिकियां आती हैं। प्रथम मात्रा २ ग्राम की अर्थात् ४ टिकियों की दी जाती है। उसके छः घंटे पश्चात् ०·५ ग्राम (दो टिकियाँ) फिर दिया जाता है। तत्पश्चात् दो दिन तक प्रति दिन ०·५ ग्राम दिया जाता है। कुल मात्रा २·५ ग्राम पहुँचनी चाहिये।

रोग को रोकने के लिये सप्ताह में ०·५ ग्राम की एक मात्रा पर्याप्त है।

विषाक्तता—साधारण चिकित्सोपयोगी मात्रा में इस योग की विषाक्तता अत्यल्प है। कुछ लोगों में शिर दर्द, जी मिचलाना, वमन तथा पाचन विकारों का उल्लेख किया गया है। दृष्टि विकारों का उल्लेख भी पाया जाता है। अति मात्रा के प्रयोग से दृष्टि का धुँधलापन, द्विदृष्टि, शिर चकराना, देखने में कठिनाई, गुदार्त्ति (Pruritis) तथा निद्रानाश हो सकते हैं।

प्रयोगों में जन्तुओं को अतिमात्रा खिलाने से ऐटाब्रीन ही के समान लक्षण उत्पन्न हो गये। किन्तु मनुष्य में ०·८ ग्राम प्रति सप्ताह १४ मास तक खिलाने से विषाक्तता के कोई लक्षण नहीं उत्पन्न हुये।

कामोक्विन (Camoquin), आमोडियाक्वीन (Amodiaquin)—इस योग का रासायनिक संघटन क्लोरोक्वीन के बहुत कुछ समान है। यह एक हलके पीले रंग का क्रिस्टलीय चूर्ण है जो बीस गुने जल में घुलनशील है। मैलेरिया के आक्रमण को रोकने में यह क्लोरोक्वीन से भी अधिक क्रियाशील है। इसकी एक मात्रा ज्वर रोकने के लिये पर्याप्त कही जाती है। यह मैलेरिया की एक अत्युत्तम औषधि प्रमाणित हुई है और रोग के सब ही प्रकारों में लाभकारी है।

प्रयोग और मात्रा—इसकी ०·२ ग्राम की टिकियाँ बनाई जाती हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वयस्क व्यक्ति के लिये ३ टिकियों की एक मात्रा निर्दिष्ट है। इससे फैल्सीपैरम-जन्य मैलेरिया से पूर्ण रोगमुक्ति होती है। किन्तु वाईवेक्स के आक्रमण केवल कुछ समय के लिये रुकते हैं, पुनराक्रमण होते रहते हैं। पूर्ण रोगमुक्ति नहीं होती।

बच्चे और बालकों को शरीर के प्रति १ सेर भार (१ किलोग्राम = २·२ पौण्ड) के लिये १० मिली ग्राम औषधि दी जाती है।

इस योग की अति मात्रायें खिलाई गईं तथा कई दिन तक सामान्य मात्रा भी खिलाई गई किन्तु एक मात्रा की अपेक्षा कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

विषाक्तता—इस योग की विषाक्तता बहुत कम है। चिकित्सोपयोगी मात्रा के प्रयोग से मनुष्यों में कोई लक्षण नहीं मिले हैं। वमन या पाचन विकार तक नहीं होते। एक विद्वान् ने ८ सप्ताह तक प्रयोग करने से एक व्यक्ति के श्वेताणुक्षय से मृत्यु का उल्लेख किया है।

क्लोरोगुवेनाइड हाइड्रोक्लोराइड, प्रोगुवानिल हाइड्रोक्लोराइड, पैल्यूड्रीन—क्लोरोगुवेनाइड के ऐसीटेट (Acetate) लवण का नाम पैल्यूड्रीन है। प्रोगुवानिल और पैल्यूड्रीन लोकप्रिय नाम हैं। पैल्यूड्रीन बनाने वाली कम्पनी का नाम है। प्रोगुवानिल वैज्ञानिक नाम है। इसको गुआन्टोल (Guantol) भी कहते हैं।

यह एक रंगरहित क्रिस्टलीय चूर्ण है और जल में थोड़ा ही घुलनशील है। इसकी विशेष क्रिया यह है कि यह पराश्रयी के मैथुनी रूपों को इस प्रकार प्रभावित करता है कि वे मच्छर में वृद्धि नहीं कर पाते जिससे स्पोरज रूप नहीं उत्पन्न होते और इस कारण मच्छर के काटने से रोग नहीं उत्पन्न होता। दुर्दम्य तृतीयक पर इसका विशेष प्रभाव होता है। उसका पराश्रयी नष्ट हो जाता है। पूर्व-लोहिताणु अथवा ऊतकान्तर्गत रूपों पर भी उसका कुछ प्रभाव होता है। किन्तु धीमा प्रभाव होने के कारण पोषज रूप सहिष्णु हो जाते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रयोग और मात्रा—इस योग की ०·३ ग्राम की टिकियाँ, दिन में दो बार, दस दिन तक दी जाती हैं। इससे दुर्दम्य ज्वर से पूर्ण मुक्ति हो जाती है। किन्तु वाइवैक्स के आक्रमणों को रोकने के लिये ०·३ ग्राम की प्रथम मात्रा के पश्चात् ०·३ ग्राम की एक मात्रा सप्ताह में एक बार या ०·२ ग्राम सप्ताह में दो बार अथवा ०·१ ग्राम प्रति दिन देने की पद्धति निर्दिष्ट की गई है।

विषाक्तता—इस योग की विषाक्तता बहुत कम है। चिकित्सोपयोगी मात्राओं के प्रयोग से कोई विषाक्तता के लक्षण रिपोर्ट नहीं किये गये हैं। उसकी चौगुनी मात्रा के प्रतिदिन कई दिन तक प्रयोग से शिरदर्द और उदर-शूल आदि पाचन विकारों का उल्लेख किया गया है।

डाराप्रिम (Daraprim)—यह उपर्युक्त योगों से भिन्न श्रेणी का योग है और इस कारण इसका रासायनिक संघटन अन्य ही प्रकार का है। कई वर्ष के परिश्रम से हचिंग्स महोदय ने लगभग ३०० योग तैयार किये। उनमें से केवल डाराप्रिम उपयोगी प्रमाणित हुआ।

अन्य सब योगों से डाराप्रिम अधिक क्रियाशील पाया गया है। इसकी मात्रा भी थोड़ी है और उसमें स्वाद और गन्ध न होने से बालक और वयस्क सब ही सहज में उसको खा लेते हैं। इस कारण मैलेरिया की चिकित्सा तथा मूलोच्छेदन दोनों के लिये यह उपयुक्त वस्तु है। प्रयोगों से मालूम हुआ है कि पराश्रयी के ऊतकान्तर्गत रूपों पर भी इसकी क्रिया होती है। रोगी के रक्त में उपस्थित मैथुनी रूप भी इसके द्वारा इस प्रकार परिवर्त्तित हो जाते हैं कि वे मच्छर के शरीर में पहुँचने पर विकास नहीं करते। इस कारण स्पोरज रूप न बनने से मच्छर संक्रामक नहीं होता। रोग फैलाने में असमर्थ होता है।

प्रयोग और मात्रा—इस योग की क्रिया धीमी गति से होती है, तुरन्त नहीं होती। इस कारण रोग की उग्र अवस्था में चिकित्सा के लिये डाराप्रिम के साथ क्लोरोक्विन या क्विनाक्रीन मिला दिया जाता है। २५ मिली ग्राम डाराप्रिम ०·२ ग्राम क्विनाक्रीन या ०·५ ग्राम क्लोरोक्वीन दोनों दो दिन तक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दिये जाते हैं। उग्र आक्रमण के ठीक हो जाने के पश्चात् आक्रमणों को रोकने के लिये २५ मिली ग्राम डाराप्रिम सप्ताह में एक बार देना पर्याप्त है।

प्रयोगों में डाराप्रिम की सहिष्णुता उत्पन्न की गई है। किन्तु सामान्य चिकित्सा-क्रम में सहिष्णुता उत्पन्न होने की संभावना नहीं मालूम होती।

विषाक्तता—सामान्य चिकित्साक्रम से कोई विषाक्तता के लक्षण नहीं उत्पन्न होते। कुछ व्यक्तियों को ५० मिलीग्राम सप्ताह में दो बार, तीन महीने तक खिलाया गया। किन्तु उनमें कोई उपद्रव नहीं उत्पन्न हुए। बारह व्यक्तियों को २५ मिली ग्राम प्रति दिन ५० दिन तक खिलाया गया। उनमें से एक को रक्तक्षीणता हो गई। हीमोग्लोबिन और लाल कणिकाओं की संख्या कम होने लगी। किन्तु ओषधि को बन्द करने के पश्चात् वह ठीक हो गई। रक्तकणिकायें और हीमोग्लोबिन फिर पूर्ववत् हो गये।

किन्तु अति मात्रा से कुछ मृत्यु रिपोर्ट की गई हैं।

मैलेरियानाशी औषधियों का संक्षेप

नाम	मात्रा	क्रिया
क्यूनीन—		
क्यूनीन सल्फ़ेट	१ ग्राम	केवल अमैथुनी रूपों पर, विशेषकर खंडज प्रसू (Schidonp) पर।
,, वाई सल्फेट	१ ग्राम	
,, हाईड्रोक्लोराइड	१ ग्राम	
,, डाई हाइड्रोक्लोराइड	आधा ग्राम (इंजैक्शन)	
,, यूरिया हाड्रोक्लोराइड	आधा ग्राम (इंजैक्शन)	
प्लाज्मोक्वीन	१० मिली ग्राम, दिन में तीन बार क्यूनीन या ऐटाब्रीन के साथ १४दिन तक	सुदम्य तृतीयक (वाइवैक्स) के मैथुनी रूपों (युग्मकजनों) पर।
,,	,, ५ दिन तक	दुर्दम्य तृतीयक (फैल्सीपैरम) के युग्मकजनों पर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पैन्टाक्वीन	प्रयोग नहीं होता	
प्राइमाक्वीन		
प्राइमाक्वीन सल्फेट टिकियाँ	२६·५ मिली ग्राम	मैथुनी रूपों पर।
ऐटाब्रीन		
क्विनाक्राइन हाइड्रोक्लोराइड टिकिया	०·१ ग्राम	अमैथुनी (युग्मकजनों) पर।
क्लोरोक्वीन फास्फेट टिकियाँ	०·५ ग्राम	,, ,,
क्लोरोगुएनिड या प्रोगुवनिल या पैल्यूड्रीन	०·३ ग्राम	मैथुनी रूपों का मच्छर में विकास रुक जाता है।
डाराप्रिम	२५ मिलीग्राम	अमैथुनी (पोषज) पर, तथा मैथुनी रूपों का मच्छर में विकास रोक देता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पंचम परिच्छेद

अमीबानाशी औषधियाँ

अमीबा एक एककोशीय (unicellular) जीव है जो प्रजीवाणु जाति का है। यह प्राकृतिक अवस्था में जल में रहता है। मनुष्य के शरीर के भीतर यह भोजन जल आदि खाने के पदार्थों के साथ पहुँचता है। जो अमीबा मनुष्य में रोग उत्पन्न करता है वह 'ऐन्डेमीबा हिस्टोलिटिका' (Endamoeba Hystolytica) कहलाता है। मनुष्य में यह तीन प्रकार के लक्षण उत्पन्न करता है, प्रथम जिसको अमीबिका प्रवाहिका (Amoebic Dysentery) कहते हैं। दूसरे अमीबिका आन्त्रार्त्ति या कोलाइटिस (Amoebic colitis) और तीसरे यकृतशोथ (Hepatitis), इन तीनों दशाओं को 'अमीबिकता' या ऐमीबियेसिस (Amoebiasis) के नाम से पुकारा जाता है।

प्रवाहिका दो प्रकार की होती हैं, एक बैसिलरी (Bacillary) जो 'शिगैला डिसेन्टरी' नामक जीवाणु के कारण होती है और दूसरी ऐन्डेमीबा हिस्टोलिटिका के कारण। शिगैला जीवाणु आन्त्र की कला में शोथ उत्पन्न कर देता है। उसमें सूजन हो जाती है, रक्त का प्रवाह बढ़ जाता है जिससे रक्तस्राव होता है। इसी से मल के साथ रक्त आता है। कभी-कभी केवल रक्त और श्लेष्मा निकलते हैं। श्लेष्मल कला जहाँ-तहाँ गलने लगती है। उसमें विस्तृत व्रण बन जाते हैं और वहां की श्लेष्मल कला गल कर पृथक् हो जाती है। ये ही श्लेष्मल कला के टुकड़े तथा शोथयुक्त कला से बना हुआ श्लेष्मा दस्तों में निकलते रहते हैं। दस्तों की संख्या बहुत बढ़ जाती है। उग्र दशा में सौ-सौ दस्त प्रति दिन आते हैं। रोगी को हर समय दस्त करने की इच्छा बनी रहती है। आन्त्रगति के विकृत हो जाने से उदर में ऐंठन होती है। दस्तों में केवल रक्त और श्लेष्मा ही निकलते हैं, मल बहुत थोड़ा होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अमीबाजन्य प्रवाहिका इतनी उग्र नहीं होती। अमीबा श्लेष्मल कला में घुस जाता है और वहां व्रण उत्पन्न कर देता है। इस कारण अधिक श्लेष्मल कला विगलित नहीं होती। व्रण की गहराई अधिक होती है किन्तु विस्तार अधिक नहीं होता। इस रोग में दस्तों की संख्या कम होती है और प्रायः मल के साथ रक्त और श्लेष्मा मिले रहते हैं। इस रोग का जीर्णरूप बहुत पाया जाता है। जब तब आक्रमण होते रहते हैं। दस्तों के न आने पर भी पाचन विकार बने रहते हैं :

बृहदान्त्र में अमीबा के कारण उत्पन्न हुआ शोथ (Amoebic colitis) एक जीर्ण रोग है जिसमें स्थानिक पीड़ा तथा ऐंठन होती है और कभी-कभी श्लेष्मायुक्त दस्त आ जाते हैं। उदर पर से दबाकर देखने से उस स्थान पर पीड़ा होती है। यह अत्यन्त दुष्ट रोग होता है जिससे मुक्ति पाना कठिन होता है।

अमीबा यकृत् में पहुँच कर उसमें शोथ उत्पन्न कर देता है जिससे आगे बढ़कर विद्रधि बन सकती है। यह एक भयंकर रोग होता है जिसमें शल्य चिकित्सा की आवश्यकता हो सकती है।

ऐन्डेमीबा हिस्टोलिटिका आन्त्र में अन्य पचे हुये अवयवों के साथ प्रवाह करता रहता है और उन्हीं से पोषण ग्रहण करता है। प्रथम यह अवस्था रहती है। इस अवस्था में वह ईमेटिन तथा अन्य औषधियों से सहज में आहत हो जाता है। उन औषधियों की उस पर भली भाँति क्रिया होने से वह नष्ट हो जाता है। किन्तु कुछ समय पश्चात् वह दूसरी अवस्था में आ जाता है जो 'सिस्ट' (Cyst) कहलाती हैं। ये सूक्ष्म गोल दाने से होते हैं जो अणुदर्शी (Microscope) से दीखते हैं। ये सिस्ट मल के साथ शरीर से निकला करती हैं। व्यक्ति प्रायः रोग के लक्षणों से मुक्त होता है। बहुत काल तक यही दशा रह सकती है। वास्तव में इसमें सन्देह है कि ये सिस्ट कभी नष्ट भी होती हैं या नहीं। इस अवस्था पर सन्तोषजनक क्रिया करने वाला योग अभी तक नहीं पाया गया है। जिन व्यक्तियों के मल में सिस्ट निकलती रहती हैं और जो स्वयं रोग के लक्षणों से मुक्त रहते

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हैं वे 'वाहक' कहलाते हैं। वे रोग को फैलाते हैं, उसका वहन करते हैं। उनके शरीर से निकली हुई सिस्ट अन्य व्यक्तियों के शरीर में पहुँचकर फिर अमीबा में परिवर्त्तित हो जाती हैं जिसको 'ट्रोफोज़ाइट या पोषज' अवस्था भी कहते हैं।

कुछ अन्वेषकों की सम्मति में ऐन्डेमीबा हिस्टोलिटिका दो प्रकार का होता है। एक की सिस्ट का आकार बड़ा (१० माइक्रोन से अधिक) होता है, दूसरे की सिस्ट का छोटा होता है। ये छोटी सिस्ट वाले अमीबा इतने उग्र नहीं होते। बड़े आकार के सिस्ट उत्पन्न करने वाले अधिक हानिकारक होते हैं। उनमें कई प्रकार के अन्य भेद भी पाये जाते हैं।

रोग की पहिचान के लिये मल परीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। बहुत बार पुनः पुनः परीक्षा करने पर सिस्ट मिलती हैं। सिस्टों का भेद करना और भी कठिन होता है।

हमारे देश में, यह अनुमान किया जाता है कि २५ प्रतिशत जनता इस रोग से ग्रस्त है। अमरीका में १० प्रतिशत अनुमान किया जाता है। किन्तु संभावना यह है कि छोटी सिस्ट वाले अमीबा ही संक्रमण का कारण होते हैं।

अमीबा के संक्रमण को फैलाने वाले विशेषकर वाहक ही होते हैं। उनके मल में सिस्ट निकला करती हैं। यह मल प्रायः भूमि में मिल जाता है या उसकी खाद बनाई जाती है जिसका खेतों में उपयोग किया जाता है। भूमि या खाद में सिस्ट नष्ट नहीं होतीं, जीवित रहती हैं और वे खेतों में उपजे हुये खाद्यों द्वारा, जिनको बिना पकाये हुये ही खाया जाता है, शरीर में पहुँच जाती हैं। मक्खियाँ भी इनके संवहन में बहुत सहायक होती हैं। उनके पर या टांगों पर चिपट कर सिस्ट खाद्य पदार्थों में पहुँचती हैं। पागलख़ानों में रोग स्वयं रोगियों या अन्य व्यक्तियों की अंगुलियों द्वारा फैलता है।

अमीबिक रोग प्रत्येक देश के लिये, विशेष कर उष्ण देशों के लिये बहुत बड़ी समस्या था। विश्व स्वास्थ्य संघ (W. H. O.) तथा उसकी सहायता से प्रत्येक देश में रोगनाश के किये गये उपायों से रोग में कमी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हो गई है। किन्तु तो भी अभी रोग बहुत फैला हुआ है। सौभाग्य से इस रोग की अन्य कई रोगों की भाँति महामारी नहीं फैलतीं।

चिकित्सा में प्रयुक्त होनेवाली औषधियाँ :—

१. ईमेटीन (Emetine)—ईमेटीन इपीकेकुवाना (Cephaelis Ipecacuanha) नामक वृक्ष की जड़ों से निकलने वाला एक अलकलाइड है। इसके साथ और भी कई अलकलाइड निकलते हैं। किन्तु ईमेटीन हाइड्रोक्लोराइड रोग चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है जिसके अधस्त्वक् (त्वचा के नीचे, पेशी में नहीं) इन्जेक्शन दिये जाते हैं। इपीकेकुवाना से और भी योग बनाये जाते हैं जिनमें से वाइनम् इपीकेकुवाना (Vinum-Ipecac) का खांसी में प्रयोग होता है। इपीकेकुवाना तथा ईमेटीन को मुँह से खिलाने से वमन होने लगते हैं। ये औषधियाँ वमनकारी (Emetic) पदार्थ हैं। इस कारण ईमेटिन को इन्जेक्शन द्वारा देना होता है। अधस्त्वक् इंजेक्शन से भी कभी-कभी वमन हो जाता है।

ईमेटीन से अमीबा आहत होते हैं। यह माना जाता है कि आन्त्र की भित्ति में प्रविष्ट होने पर उन पर ईमेटिन की क्रिया नहीं होती। जब तक वे आन्त्र मार्ग में मल में मिले रहते हैं तब तक वे ईमेटीन की क्रिया से बचे रहते हैं। प्रयोगों से पाया गया है कि ४० लाख में १ भाग ईमेटिन की उपस्थिति से अमीबा नष्ट होता है। इन्जेक्शन से देने के पश्चात् वह आन्त्र भित्तियों में रक्त द्वारा पहुँच जाता है। किन्तु वमन क्रिया मस्तिष्क में स्थित वमन केन्द्र की उत्तेजना से होती है। यद्यपि प्रयोगों में ईमेटिन की अमीबा पर इतनी प्रबल घातक क्रिया पाई गई है, तो भी प्रायः सब ही विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि अकेली ईमेटीन शरीर के ऊतकों में अमीबा को नष्ट करने में असमर्थ है और इस कारण वे ईमेटिन के साथ अन्य योगों के प्रयोग का भी परामर्श देते हैं। इनमें मैलेरिया के सम्बन्ध में बताया हुआ क्लोरोक्वीन योग अत्युपयोगी प्रमाणित हुआ है। ईमेटीन यकृत् में उपस्थित अमीबा के नाश में अवश्य ही अद्वितीय और अमोघ पाई गई है। इसका

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कारण यह है कि शोषण के पश्चात् इसका अत्यधिक भाग यकृत् में एकत्र हो जाता है। अन्य ऊतकों में थोड़ी ही मात्रा पाई जाती है। हृदय के ऊतक में उसकी अत्यल्प मात्रा एकत्र होती है यद्यपि हृदय पर ही ईमेटिन का सबसे अधिक विषैला प्रभाव होता है।

प्रयोग और मात्रा—ईमेटीन के ३० से ६० मिलीग्राम प्रति दिन इन्जैक्शन द्वारा ५ दिन तक दिये जाते हैं। कुछ विद्वान् १० दिन तक देने की अनुमति देते हैं। किन्तु इससे अधिक नहीं। ईमेटीन एक विषाक्त पदार्थ है। उसका विशेष विषैला प्रभाव हृदय पर होता है। दस दिन से अधिक प्रयोग के कारण ईमेटीन की अधिक मात्रा के एकत्र होने से विषैले प्रभाव अकस्मात् प्रस्फुटित (Cumnlative poisoning) हो सकते हैं। कितने ही चिकित्सक ईमेटीन को किसी हृदयोत्तेजक योग स्ट्रिकनीन आदि के साथ मिलाकर देते हैं और रोगी को दिन भर अपनी देख भाल में रखते हैं। कुछ चिकित्सक निरन्तर ५ दिन से अधिक देने की सलाह नहीं देते। कुछ दिन के विराम के पश्चात् फिर ५ दिन तक देते हैं। वे इसी प्रकार कई बार ५ दिन के क्रम का निर्देश करते हैं। कुछ लोग ३० दिन के विराम की सलाह देते हैं। यदि १० दिन तक प्रति दिन इन्जेक्शन दिये जाँय तो ३०दिन का विराम आवश्यक है। विद्वानों का एक समूह इमेटीन देने की सलाह ही नहीं देता। उनकी सम्मति में क्लोरीक्वीन अमीबा संक्रमण की चिकित्सा के लिये पर्याप्त है। ईमेटिन को केवल यकृत् के शोथ तथा विद्रधि में प्रयोग करना चाहिये और तब ईमेटिन को यकृत् विद्रधि में प्रविष्ट करना चाहिये।

जब से क्लोरोक्वीन का आविष्कार हुआ है तब से उसने ईमेटीन का स्थान ले लिया है। यकृतशोथ में भी उसका प्रयोग संतोषजनक मिला है।

आजकल ईमेटीन और क्लोरीक्वीन दोनों का साथ-साथ प्रयोग सर्वमान्य है।

विषाक्तता—ईमेटीन के अधिक दिनों के प्रयोग से विशेषतया हृदय को हानि पहुँचती है। नाडी दुर्बल और क्रमहीन हो जाती है। हृदय दौर्बल्य (asthenia) हो जाता है। हृत्पेशी शोथ (myocarditis) तथा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हृत्संकोचों के व्यतिक्रम से मृत्यु तक देखी गई है। जी मिचलाना, वमन, अतिसार तथा तन्त्रिका शोथ भी उत्पन्न हो जाते हैं। यदि चिकित्सा क्रम में कोई भी ऐसे लक्षण दिखाई दें तो ईमेटीन तुरन्त बन्द कर देनी चाहिये।

ईमेटीन के प्रभाव का पता केवल मल परीक्षा से मालूम होता है। इस लिये समय-समय पर मल की परीक्षा करते रहना चाहिये।

२. कार्बार्सन (carbarsone)—यह आर्सनिका का कारबनिक (Pentavalent) योग है। यह श्वेत रंग का गंधरहित चूर्ण होता है जिसकी ०·२५ ग्राम की टिकिया बनाई जाती हैं। इसकी क्रिया गतिशील अमीबा तथा उसकी सिस्ट दोनों पर होती है। १० दिन तक दो टिकियाँ प्रतिदिन दी जाती हैं और ८ टिकियों अर्थात् २ ग्राम का एक ऐनीमा देकर चिकित्सा क्रम समाप्त कर दिया जाता है। यदि इस चिकित्सा को दुहराना पड़े तो तीन सप्ताह से पूर्व उसको प्रारंभ नहीं करना चाहिये।

कार्बार्सन का आन्त्र की श्लैष्मिक कला से धीरे-धीरे अवशोषण होता है। इस कारण वह आन्त्र मार्ग में ही अधिक समय तक रहता है। इससे यकृत् तथा वृक्क के शोथ की दशा में उसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसका शरीर से त्याग भी अधिक समय लेता है। आर्सनिक अन्य भारी धातुओं (heavy metals) की भाँति शरीर के ऊतकों में एकत्र होता है और कुछ समय के पश्चात् विषाक्तता के लक्षण प्रकट होते हैं। इस योग की विषाक्तता बहुत कम है। किन्तु चर्मशोथ, अतिसार, वमन आदि हो सकते हैं।

३. मिलिबिस (Milibis)–इसका वैज्ञानिक नाम ग्लाइकोबिआर्सोल है। यह भी कार्बार्सन की भाँति आर्सनिक का एक कार्बनिकपंचसंयोजक (pentavalent) योग है जिसमें बिस्मथ भी उसके साथ जोड़ दिया गया है। यह एक हलके गुलाबी रंग का चूर्ण होता है जो जल में घुलनशील नहीं है। केवल हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में घुलता है। इस कारण आन्त्र की श्लेष्मलकला द्वारा उसका शोषण नहीं के बराबर होता है। इसलिये उसकी विषाक्तता भी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बहुत कम है। कार्बार्सन की अपेक्षा केवल दशांश कही जाती है। किन्तु जल में न घुलने और अवशोषण के अत्यल्प होने से यह लाभ होता है कि यह योग आन्त्र मार्ग में अधिक समय तक बना रहता है और इस कारण अमीबा और सिस्ट पर उसकी क्रिया होती रहती है।

अन्वेषण कर्त्ताओं ने अमीबानाश में इस योग को बहुत उपयोगी पाया है। अनेक जन्तुओं पर तथा रोगग्रस्त मनुष्यों में प्रयोग किये गये हैं जिनके परिणाम स्वरूप यह निष्कर्ष निकाला गया है कि ०·५ ग्राम मिलिबिस दिन में तीन बार, ८ दिन तक देने से ८० प्रतिशत रोगी रक्त मुक्त हो जाते है। मल अमीबा रहित हो जाता है।

कुछ विद्वानों को ०·२२ ग्राम मिलिबिस और ०·०७५ ग्राम क्लोरोक्वीन दिन में २ बार ७ दिन तक देने से अत्युत्तम परिणाम मिले हैं। ९० प्रतिशत रोगियों में मल अमीबा तथा सिस्ट से मुक्त मिला। एक दूसरे विद्वत्समूह ने ०·५ ग्राम मिलिबिस और ०·१५ ग्राम क्लोरोक्वीन के प्रयोग को बहुत संतोषजनक पाया।

विषाक्तता—मिलिबिस की विषाक्तता बहुत कम है। इस कारण अधिक मात्रा के प्रयोग से भी हानि नहीं रिपोर्ट की गई है। किन्तु तो भी यह आर्सनिक का योग है। इस कारण आर्सनिक की विषाक्तता का सदा ध्यान रखना चाहिये।

मात्रा—मिलिबिस की ०·५ ग्राम की एक टिकिया दिन में तीन बार ७ दिन तक दी जाती है जिसके पश्चात् मल परीक्षा आवश्यक है। यदि अमीबा या सिस्ट मिलें तो तीन सप्ताह के पश्चात् फिर से चिकित्सा क्रम को दोहराया जाय। जैसा ऊपर कहा जा चुका है ०·५ ग्राम मिलिबिस और ०·१२ ग्राम क्लोरोक्विन का १५ दिन तक मिश्रित प्रयोग अत्यन्त सफल पाया गया है।

मिलिबिस आन्त्र से बाहर के अमीबिक रोग में उपयोगी नहीं है। इस कारण उसका प्रयोग केवल आन्त्र के रोग में ही किया जाता है।

चिनिफ़ोन (Chinifon)—इसको याट्रीन भी कहते हैं। यह इसी नाम से अधिक प्रसिद्ध है। यह एक पीले रंग का कड़ुवा चूर्ण है जो कैप्सूल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में भर कर दिया जाता है। यह एक आयोडीन का योग है और अमीबा तथा सिस्ट दोनों पर क्रिया करता है। किन्तु आन्त्र से बाहर यह क्रियाशील नहीं है। इसकी ०·२५ ग्राम की टिकिया या कैप्सूल दिन में ३ से ४ बार, ७ से १४ दिन तक दिये जाते हैं। इससे कोई विषाक्तता के लक्षण नहीं उत्पन्न होते। किन्तु यकृत् के रोगों तथा अवटुका (thyuoid) के विकारों या जिनको आयोडीन की असहिष्णुता हो उनको यह योग न देना चाहिये।

५. **वायोफौर्म, ऐन्टरोवायोफौर्म** (Vioform, Enteroviofoam)- इसका प्रयोग बहुत लोकप्रिय है। इसकी ०·२५ ग्राम की टिकियाँ दिन में तीन या चार बार दस दिन तक दी जाती हैं। दस दिन के पश्चात् दस दिन के विराम पर उसका पुनः प्रयोग करवाया जा सकता है। इस योग की विषाक्तता बहुत कम है।

६. **डायोडोक्विन** (Diodoquin)—यह एक भूरे से रंग का चूर्ण है। यह जीर्ण रोग में बहुत उपयोगी पाया गया है। विषाक्तता अत्यल्प होने से इसको अधिक समय तक दिया जा सकता है। इसकी क्रिया भी केवल आन्त्र के भीतर स्थित अमीबा और सिस्ट पर होती है। इसकी ०·६ ग्राम की १ टिकिया दिन में तीन बार ७ से २० दिन तक दी जाती है।

७. **क्लोरोक्वीन** (Chloroquine)—इसका मैलेरिया के सम्बन्ध में वर्णन किया जा चुका है। क्लोरोक्वीन फास्फेट को आन्त्र से बाहर स्थित अमीबा पर बहुत क्रियाशील पाया गया है। आन्त्र के भीतर उसकी कोई क्रिया नहीं होती। इस कारण उसको मिलिविस या अन्य किसी स्थानिक क्रियाशील योग के साथ मिलाकर दिया जाता है। क्लोरोक्वीन आन्त्र से अवशोषित होकर विशेषतया यकृत् की कोशिकाओं में एकत्र हो जाती है। इस कारण अमीबाजन्य यकृतशोथ में उसको विशेष उपयोगी पाया गया है। सब ही अन्वेषण कर्त्ताओं ने अपने प्रयोगों के उत्तम फल पाये हैं और आजकल क्लोरोक्वीन अमीबा चिकित्सा का एक मुख्य साधन बन गई है। किन्तु आन्त्र की कोशिकाओं में एकत्र न होने के कारण वह आन्त्रान्तर्गत

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रोग में निष्फल पाई गई है। इस कारण उसके साथ मिलिबिस आदि किसी स्थानिक अमीबानाशी के साथ मिलाकर प्रयोग करना आवश्यक है।

मात्रा—प्रथम दो दिन तक एक ग्राम क्लोरोक्वीन नित्य प्रति दी जाती है। उसके पश्चात् ०·५ ग्राम प्रति दिन एक बार, १४ दिन तक प्रयोग करवाई जाती है। आवश्यक होने पर फिर से क्रम को दुहराया जा सकता है।

कामाक्वीन का भी अमीबिक रोग में प्रयोग किया गया है। कामोफौर्म एक अन्य योग है जिसके प्रयोग की सन्तोषजनक रिपोर्ट मिली है। इसकी ०·२५ से ०·५ ग्राम की एक से दो टिकिया दिन में तीन बार ५ दिन तक दी जाती हैं। ३ सप्ताह के पश्चात् फिर से दोहराया जा सकता है।

८. प्रतिजीवियों का प्रयोग—कुछ प्रयोगकर्त्ताओं ने अमीबिक रोग में प्रतिजीवियों का प्रयोग किया और उससे संतोषजनक परिणाम मिले। इसका कारण अन्य रोगोत्पादक जीवाणुओं का, जो अमीबा के साथ आन्त्र में उपस्थित रहते हैं उनका नाश हो सकता था। अतएव बहुत से अन्वेषकों ने इस संबंध में अपनी प्रयोगशालाओं में प्रयोग किये। उनका कथन है कि आन्त्र के जीवाणुओं का अमीबा पर क्या प्रभाव होता है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे अमीबा को अपनी जीवन-क्रियाओं में सहायता देते हैं। प्रयोगशालाओं में किये गये प्रयोगों में अमीबा को जीवित रखने के लिये कुछ जीवाणु या जीवाणुजन्य पदार्थ आवश्यक पाये गये हैं। किन्तु अभी कुछ निश्चय नहीं हो सका है। तो भी प्रयोगों में यह पाया गया है कि प्रतिजीवियों का अमीबा पर हानिकारक प्रभाव होता है और इस संबंध में फ्यूमिगिल्लिन विशेष प्रभावकारी प्रमाणित हुई है। क्लोरटैट्रासाइक्लीन और औक्सी टैट्रासाइक्लीन (क्लोरैम्फ़िनिकोल ऐराइथ्रोमाइसीन) की भी अमीबा पर विशेष क्रिया होती है।

अ. फ्यूमिगिल्लिन (Fumigillin)—यह ऐस्पर्गस फ्यूमीगेट्स नामक फ़ंगस से बनाई जाती है। इसकी जीवाणुओं पर कोई क्रिया नहीं होती।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किन्तु अमीबा पर इसकी विशेष क्रिया पाई गई। सन् १९५२ में एन्डर्सन महोदय ने बन्दरों पर इसका प्रयोग किया। उनको अमीबा से संक्रमित करके रोग उत्पन्न होने पर फ्यूमिगिल्लिन को खिलाया जिससे अत्युत्तम परिणाम हुये। उसके पश्चात् मनुष्यों को भी खिलाया। उनमें भी बहुत लाभ पाया गया।

मात्रा और प्रयोग—इसके १० से २० मिली ग्राम प्रति दिन तीन बार, १२ दिन तक दिये जाते हैं। यह मात्रा प्रायः अमीबानाश के लिये पर्याप्त होती है। यदि क्रम को दोहराना पड़े तो सावधानी की आवश्यकता है। कुछ रोगियों में जी मिचलाना, क्षुधानाश तथा वमन, अतिसार, चर्म-शोथ आदि दशायें उत्पन्न हुई हैं जिनके कारण औषधि को रोकना पड़ा। इस कारण उसके प्रयोगकाल में यकृत् और वृक्क के विकारों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। सब ही प्रतिजीवी औषधियां तीव्र औषधियां हैं और उनके प्रयोग के संबंध में सावधानी अपेक्षित है। यह एक नई वस्तु है जिसका अभी तक विस्तृत अनुभव नहीं हो सका है।

आक्सीटेट्रासाइक्लीन और क्लोरटेट्रासाइक्लीन—ये दोनों वस्तुयें अमीबा के लिये विषैली प्रमाणित हुई हैं। मैरियोन महोदय ने १९५५ में रोगियों को आक्सीट्रेट्रासाइक्लीन ०·५ ग्राम प्रति ८ घंटे पर और क्लोरोक्लीन ०·३ ग्राम दिन में दो बार, ७ दिन तक खिलाये। इससे उनके कथनानुसार ९७ प्रतिशत रोगी अमीबा-मुक्त हो गये। कुछ प्रयोगकर्त्ताओं को औक्सीट्रेट्रा साइक्लीन और फ्यूमिगिल्लिन में कोई अन्तर नहीं मिला। अधिकतर प्रयोग-कर्त्ताओं की सम्मति यही है कि प्रतिजीवियों में फ्यूमिगिल्लिन सर्वोत्तम अमीबानाशी है। दूसरी औक्सीटेट्रासाइक्लीन है।

प्यूरोमाइसीन दूसरी प्रतिजीवी है जो अमीबा पर कार्यकृत पाई गई है। इसका वर्णन अन्य प्रतिजीवियों के साथ किया जा चुका है।

अमीबिक दशा की चिकित्सा—गत पृष्ठों में अमीबिक रोग के लिये जो पुरानी और नई औषधियाँ प्रयुक्त होती हैं उनका विचार किया गया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उससे स्पष्ट है कि प्रत्येक दशा के लिये कोई एक ऐसी निश्चित औषधि नहीं है जिसको अमोघ कहा जा सके। चिकित्सा करते समय रोग के रूप, आक्रान्त अंग (आन्त्र के भीतर या अन्य अंग), रोगी की सहिष्णुता तथा औषधि की विषाक्तता सब ही का विचार करना होगा। आन्त्र के भीतर के रोग प्रवाहिका आदि (उग्र या जीर्ण) तथा आन्त्र के अतिरिक्त यकृत, फुप्फुस, प्लूरा आदि के लिये पृथक्-पृथक् योगों का उपयोग करना आवश्यक है। इस पर सब ही विद्वान् सहमत हैं कि आन्त्र के अतिरिक्त अन्य अंगों के लिये क्लोरोक्वीन बहुत उपयुक्त औषधि है। उग्र दशा प्रवाहिका या आन्त्रशोथ में फ्यूमिगिल्लिन और औक्सी ट्रेट्रासाइक्लीन (टैरामाइसीन) दोनों ही समान प्रकार से उपयोगी पाई गई हैं। कुछ विद्वानों की सम्मति में फ्यूमिगिल्लिन अधिक क्रियाशील है। किन्तु इस पर सब ही विद्वान् सहमत हैं कि उग्र प्रवाहिका में भी अंगों की रक्षा के लिये क्लोरोक्वीन का प्रयोग लाभदायक है जिससे रोग का आन्त्रों से यकृत् आदि अंगों में विस्तार न हो सके। अतएव वे दोनों प्रकार की औषधियों का साथ-साथ प्रयोग उत्तम समझते हैं और वह वैज्ञानिक तथ्यों के सर्वथा अनुकूल है।

पुरानी औषधियों में ईमेटिन का अब भी प्रयोग होता है। किन्तु उसकी विषाक्तता पूरी सावधानी की अपेक्षा करती है। बहुतों ने उसका प्रयोग त्याग दिया है। आन्त्र के भीतर (उग्र प्रवाहिका में) मिलिबिस ने अपनी उपयोगिता प्रमाणित की है। जीर्णदशा के लिये डायोडोक्विन उत्तम मानी जाती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

षष्ठ परिच्छेद

यक्ष्मा या ट्यूबर्क्यूलोसिस की औषधियाँ

(Antitubercular medecines)

राजयक्ष्मा संसार का एक अतिप्राचीन रोग है। आयुर्वेद में इस रोग का पूरा वर्णन पाया जाता है। यूनान और रोमवासी इस रोग से परिचित थे। अरब और ईरानवाले इसको तपेदिक कहते थे। चीन में प्राचीन समय के लोगों को भी इस रोग का ज्ञान था। किन्तु उस समय रोग इतना विस्तृत नहीं था जितना इस समय में है। इसका कारण जनसंख्या की कमी और यातायात के साधनों का अभाव था। किसी भी एक स्थान में इतने व्यक्ति सामूहिक रूप से नहीं रहते थे। कलकत्ते, बम्बई, देहली, कानपुर आदि नगरों की भाँति इतनी जनसंख्या कहीं एकत्रित न थी। सूर्य-प्रकाश और शुद्ध वायु तथा पौष्टिक भरपेट भोजन सब ही को प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। ये तीनों वस्तुएँ आज भी इस रोग की सबसे बड़ी औषधि हैं। साथ ही दूर-दूर के स्थानों का यातायात भी कम था। यात्रा के साधन आजकल के समान सुलभ न थे। इसलिये रोग का विस्तार भी अधिक नहीं होता था।

आजकल यह रोग संसार के सब ही देशों में व्याप्त है। कोई भी देश इससे नहीं बचा है। न्यूयार्क के मेयोक्लिनिल के डाक्टर हिन्शौ (Hinshaw) ने सन् १९४४ में स्ट्रिप्टोमाइसीन की खोज के पश्चात् लिखा था 'कि यद्यपि योरूप और अन्य अनेक देशों की अपेक्षा यह रोग अमरीका में कम है तो भी गत योरूप के महायुद्ध में युद्ध क्षेत्र में जितने योद्धाओं की मृत्यु हुई उन ही वर्षों में हमारे देश में यक्ष्मा से मरने वालों की संख्या उनसे कम न थी।' योरूप और पूर्वी देशों से तो अमरीका में कहीं बुरी दशा है। इससे इन देशों में व्याप्त रोग का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हमारे देश में रोग बढ़ ही रहा है। सरकार की ओर से रोग को रोकने का भरसक प्रयत्न हो रहा है, जनता का भी सहयोग है और उनमें रोग के संबंध में ज्ञान भी फैल रहा है तो भी रोग का प्रसार कम नहीं हुआ है। वास्तव में यह एक सामाजिक और आर्थिक दशा (Socio economic discase) से उत्पन्न होने वाला रोग है। यद्यपि रोग का वास्तविक कारण एक जीवाणु है किन्तु जब तक आर्थिक दशा समुन्नत होती है और उत्तम पौष्टिक भोजन और खुला हुआ हवादार निवास स्थान रहने के लिये तथा अन्य सुविधायें और चिन्ता से मुक्ति व्यक्ति को उपलब्ध होते हैं तब तक रोग नहीं होता। इस ही कारण हमारा देश रोग का क्रीड़ास्थल बना हुआ है। यह अनुमान किया जाता है कि हमारे देश में ६० लाख व्यक्ति इस रोग से ग्रस्त हैं। इतनी संख्या की चिकित्सा का प्रबन्ध सरकार की सामर्थ्य के बाहर है। वे स्वयं भी अपनी चिकित्सा नहीं कर सकते हैं क्योंकि उनमें से ८० प्रतिशत निर्धनता के रोग से ग्रस्त हैं जो इस रोग की जननी है।

इस रोग का कारण एक जीवाणु होता है जिसको मायोबैक्टीरियम टबूबर्क्यूलोसिस (myobacterium Tuberculosis) कहते हैं। सन् १८८२ में कौक ने इस जीवाणु को खोजा था। रोगियों के बलग़म में तथा अंगों में उत्पन्न हुई गुलिकाओं (tubercles) में ये जीवाणु उपस्थित रहते हैं। ये गुलिकायें सूक्ष्म गाँठ के समान होती हैं जो अंग में जहाँ जीवाणु पहुँचते हैं उनके चारों ओर ऊतकों के एकत्र होने से बन जाती हैं और अंग में सूक्ष्म दाने के समान दीखती हैं। ये अंग में फैल कर अंग की क्रिया का ह्रास कर देती हैं।

इस जीवाणु को खोजने में बहुत कठिनाई हुई। उसको रँगना बहुत कठिन था। वह रंग सहज में नहीं लेता और माध्यमों में उगाने पर वह बहुत धीरे-धीरे वृद्धि करता है। कभी-कभी कई सप्ताह तक उसकी उत्पत्ति रुकी रहती है और संख्या में वृद्धि नहीं होती। इस कारण उससे जन्तुओं पर प्रयोग करना कठिन होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जैसा स्ट्रिप्टोमाइसीन के संबंध में कहा जा चुका है फफूँदी (फंगस), जीवाणु तथा ऐक्टिनोमाइसीज़ सब ही मायोवैक्टीरियम ट्यूबर्क्यूलोसिस के विरोधी पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। इनमें से बहुतों को खोजकर पृथक् किया गया और जीवाणु पर प्रयोग करने से वे वस्तुयें घातक प्रमाणित हुईं। किन्तु वे पशु शरीर के लिये भी बहुत हानिकारक पाई गईं। अन्त में डाक्टर वाक्समैन तथा उनके सहयोगियों ने सन् १९४४ में स्ट्रिप्टोमाइसीन बनाई और डाक्टर हैन्शौ ने अपने प्रयोगों द्वारा उसको मनुष्य के लिये उपयोगी प्रमाणित किया। इससे पूर्व कोई ऐसी औषधि नहीं थी जिसकी इस रोग के जीवाणु पर विशिष्ट क्रिया होती हो।

दूसरा रासायनिक पदार्थ पैराऐमीनो सैलीसिलिक एसिड (P. A S) सन् १९४३ में बना और सन् १९४४ में, जिसमें स्ट्रिप्टोमाइसीन का प्रयोग प्रदर्शित हुआ था उसी वर्ष में पैराएमीनोसैलीसिलिक एसिड का भी प्रथम बार मनुष्य द्वारा प्रयोग किया गया।

तीसरा मायोवैक्टीरियम ट्यूबर्क्यूलोसिस पर विशिष्ट क्रिया करने वाला योग आइसोनियेजिड (Isoniazid) सन् १९५२ में वर्न्सटाइन ग्रूनवर्ग आदि कई विद्वानों द्वारा तैयार किया गया।

आजकल की यक्ष्मा की चिकित्सा-पद्धति में तीनों योगों का प्रयोग किया जाता है और प्रायः दो योगों को एक साथ रोगी को दिया जाता है। स्ट्रिप्टो-माइसीन और पैराऐमीनोसैलीसिलिक एसिड, स्ट्रिप्टोमाइसीन और आइसोनियेज़ाइड अथवा पैराएमीनोसैलीसिलिक एसिड तथा आइसोनियेज़ाइड, इन दोनों का साथ-साथ प्रयोग किया जाता है। स्ट्रिप्टोमाइसीन इन्जैक्शन द्वारा दी जाती है। शेष दोनों योग खिलाये जाते हैं

इन योगों द्वारा चिकित्सा से बहुत लाभ हुआ है। अमरीका के जन्म-मृत्यु अंकों से पता चलता है कि वहाँ ५० प्रतिशत मृत्यु संख्या कम हो गई है। अस्पतालों में इस रोग के रोगियों को रखने के लिये जो शय्या निर्धारित थी उनमें इससे भी अधिक कमी कर दी गई है तथा रोगियों को अस्पताल

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में रखने के काल में भी कम से कम ५० प्रतिशत कमी हुई है। अन्य देशों में तथा हमारे देश में भी इन योगों के प्रयोग का ऐसा ही लाभ हुआ है। किन्तु यहाँ तो अस्पतालों में पहिले ही इतनी शैया नहीं थीं कि उनकी कमी को सोचा भी जा सके। रोग मुक्ति की संख्या में बहुत उन्नति हुई है। किन्तु रोगियों की समस्त संख्या में वह नाम मात्र के समान है। इस रोग में कठिनाई यह है कि रोग मुक्ति के पश्चात् भी यदि रोगी की आर्थिक और पारिवारिक स्थिति नहीं उन्नत होती तो वह फिर रोग का ग्रास बन जाता है। दुर्भाग्यवश ९० प्रतिशत रोगियों की परिस्थिति उन्नत होने के बजाय बिगड़ती ही जाती है। सामाजिक और आर्थिक सुधारों के बिना यह अवस्था नहीं सुधर सकती।

स्ट्रिप्टोमाइसीन, डाईहाइड्रोस्ट्रिप्टोमाइसीन—

इन दोनों योगों का अन्य प्रतिजीवियों के साथ वर्णन किया जा चुका है। दोनों योगों की रोग के जीवाणु पर समान क्रिया होती है। उनकी मात्रा भी समान है। विषाक्तता में यह भेद है कि स्ट्रिप्टोमाइसीन का प्रभाव श्रवणी (८ वी) नाडी के प्रघ्राण विभाग (Vestibular-part—समतोलक) पर होता है। डाईहाइड्रोस्ट्रिप्टोमायसीन अन्तःकर्ण के कोक्लीय भाग (Cochlear part) को हानि पहुँचाती है जिससे बहिरापन हो जाता है। इस कारण दीर्घकालिक (१ वर्ष या अधिक) प्रयोग के लिये स्ट्रिप्टोमाइसीन उपयुक्त है। थोड़े समय (३ मास) के लिये डाइहाइड्रो योग ही उत्तम है।

इन दोनों योगों में विशेष दोष यह है कि उनके ४से ६ मास तक प्रयोग से जीवाणु के सहिष्णु रूप उत्पन्न हो जाते हैं जिन पर उनकी क्रिया नहीं होती। स्ट्रिप्टोमाइसीन में यह अधिक होता है। उसकी विषाक्तता भी अधिक होती है। इस कारण कुछ विद्वानों ने आधा भाग स्ट्रिप्टोमाइसीन और आधा भाग डाइहाइड्रोस्ट्रिप्टोमाइसीन मिलाकर सप्ताह में दो या तीन बार दिये और उसके साथ आइसोनियेज़ाइड या पैराऐमीनो सेलीसिलिक एसिड दिया। इस क्रम से ये दोष कम हो जाते हैं।

स्ट्रिप्टोमाइसीन का प्रयोग कितने दिन तक करना चाहिये इस पर अभी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तक सर्व सम्मति से कोई निश्चय नहीं हो सका है। यद्यपि इस पर अनेक अनुसंधान हुए हैं और चिकित्सा विभागों ने सहयोग के साथ इस प्रश्न को हल करने का उद्योग किया है किन्तु कोई विशेष परिणाम नहीं निकला है। किन्तु अधिकतर विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि चिकित्सा पर्याप्त समय तक जारी रखना चाहिये, १२ या १६ मास तक सामान्य दशाओं में और १८ से २४ मास तक तीव्र रोगों में।

मात्रा और प्रयोग—मात्रा सहिष्णुता, शारीरिक अवस्था तथा रोग की तीव्रता पर निर्भर करती है। १५० से ३०० मिलीग्राम आइसोनियेज़ाइड अथवा १ से २ ग्राम पैराएमीनो सेलीसिलिक एसिड प्रतिदिन और सप्ताह में २ या ३ बार १ ग्राम स्ट्रिप्टोमाइसीन अन्तर्पेशीय इन्जैक्शन द्वारा देना, यही चिकित्सा क्रम सर्वमान्य है। यह क्रम कम से कम एक वर्ष और विशेष दशाओं में दो वर्ष तक जारी रखा जाय। कुछ चिकित्सक थोड़े समय ३ मास आदि की चिकित्सा के लिये डाइहाइड्रोस्ट्रिप्टोमाइसीन को प्रयोग करते हैं। जो लोग स्ट्रिप्टोमाइसीन को सहन नहीं कर पाते उनकी चिकित्सा के लिये भी यह योग उपयोगी है। किन्तु दोनों योगों से जीवाणु के सहिष्णु रूप समान प्रकार से उत्पन्न होते हैं। कुछ व्यक्तियों में ४ से ६ मास में उत्पन्न हो जाते हैं। पैराएमीनो सेलीसिलिक एसिड और आइसोनियेज़ाइड का विशेष उपयोग ही यह है कि ये पदार्थ सहिष्णु रूपों की उत्पत्ति रोकते हैं और उनको बहुत समय तक नहीं उत्पन्न होने देते।

स्ट्रिप्टोहाइड्रेज़ाइड—यह योग स्ट्रिप्टोमाइसीन और आइसोनियेज़ाइड का है। यह इन्जैशन द्वारा दिया जाता है। इसकी एक मात्रा में १ ग्राम स्ट्रिप्टोमाइसीन और २४० मिलीग्राम आईसोनियेज़ाइड होता है। इसका प्रयोग उन लोगों को कराया जाता है जो औषधि मुँह से नहीं खाते या खा सकते, जैसे पागलखानों में। नहीं तो इसका प्रभाव वैसा ही होता है जैसा पहिले बताये हुए चिकित्सा क्रम का।

स्ट्रिप्टोमाइसीन यक्ष्मा के सब ही रूपों में उपयोगी है जैसे मस्तिष्कावरण शोथ (Tuberculous meningitis) आदि में।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पैराअमीनोसैलीसिलिक एसिड (P A S)

ऐसे रासायनिक पदार्थों की बहुत दिनों से खोज चल रही थी जो ट्यूबर्क्यूलोसिस जीवाणु की उत्पत्ति तथा वृद्धि को रोक सकें अथवा उनकी क्रियाशक्ति अथवा रोगोत्पत्ति की शक्ति का ह्रास करें। सन् १९४३ में बर्नहाइम ने और सन् १९४४ में स्वीडन के लेहमान नामक विद्वान ने अपने प्रयोगों में देखा कि बैन्ज़ोइक अम्ल (Benzoicacid) और सैलीसिलिक अम्ल (Salicylic acid) को जीवाणु के संवर्धन द्रव्य (Culture broth) में मिला देने से जीवाणुओं की जीवन क्रियायें बढ़ जाती हैं। उनका चयापचय (metabolism) अर्थात् ओषजनीकरण क्रिया अधिक हो जाती है। वे अधिक आक्सीजन लेते हैं, और कार्बन-डाई-आक्सीडन भी अधिक मात्रा में उत्पन्न करते हैं। इसका यही अर्थ है कि उनकी जीवन क्रियायें अधिक वेग से होती हैं। किन्तु जो जीवाणु उस संवर्धन द्रव्य में उत्पन्न होते हैं वे क्रियाशील नहीं होते और कुछ समय के पश्चात् उस द्रव्य में जीवाणुओं की उत्पत्ति बन्द हो जाती है। इन प्रयोगों के फलस्वरूप पैराअमीनो सैलीसिलिक अम्ल (P. A. S.) में यह शक्ति सबसे अधिक पाई गई। प्रबल गौ रोग (Bovine tuberculosis) के जीवाणुओं पर भी ऐसी ही क्रिया पाई गई।

पहिले ये प्रयोग केवल प्रयोगशालाओं ही में गए किये थे। इसके पश्चात् जन्तुओं और मनुष्यों पर भी किये गये। सन् १९४३ में स्वीडन के एक रसायनवेत्ता रोसडाल (Rosdahl) ने पैराअमीनो सैलीसिलिक अम्ल की इतनी मात्रा बनाई कि वह मनुष्यों को प्रयोग करवाई जा सके। लेहमान ने १९४४ में पहली मात्रा मनुष्य पर उसका प्रभाव मालूम करने के लिये एक रोगी को दी। इस वस्तु को बेन्जोइक अम्ल के अणु में कितने ही परिवर्त्तन करके बनाया गया था। जो सबसे अधिक क्रियाशील योग पाया गया वह Para-4-aminsortho-2-hydroxgbenzoicacid P. A. S. था।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पैराअमीनोसैलीसिलिक अम्ल एक श्वेत चूर्ण है जो ५० गुणा जल में घुलता है। उसका स्वाद कुछ कड़ुआ होता है। इसकी ०·२ से ०·३ ग्राम की टिकियां आती हैं। कैप्सूल भी आते हैं। इसके सोडियम तथा पोटाशियम लवण भी बनाये जाते हैं जो जल में पूर्णतया घुलनशील होते हैं। इस योग की क्रिया ट्यूबर्क्यूलोसिस जीवाणुओं की प्रजनन शक्ति को नष्ट करके उनकी वृद्धि को रोकना है। उनकी संख्या नहीं बढ़ने पाती। वे नष्ट नहीं होते। किन्तु इसके प्रयोग से कुछ दिन पश्चात् जीवाणु के सहिष्णु रूप उत्पन्न हो जाते हैं। अनुभव से यह पाया गया है कि दूसरी औषधि को इसके साथ प्रयोग करने से ऐसा नहीं होता अथवा कम होता है और उसके सहयोग से इसकी क्रिया भी उत्तम होती है।

इस योग का आन्त्र से पूर्ण अवशोषण हो जाता है। यह पाया गया है कि मनुष्य के रक्त में इसका स्तर मुँह से खाने के एक घंटे पश्चात् पूर्ण हो जाता है और ८ या १० घंटे में ८० प्रतिशत पैराअमीनो सेलीसिलिक अम्ल मूत्र द्वारा उसी रूप में तथा कुछ परिवर्त्तित रूप में निकल जाता है।

इस योग की विषाक्तता बहुत कम है। महीनों तक खिलाने से भी कोई हानि के लक्षण नहीं प्रगट होते। कुछ व्यक्तियों में वमन, जी मिचलाना, दस्त, तथा त्वचा की खुजली हो जाते हैं। उचित चिकित्सा से वे शान्त हो जाते हैं।

प्रयोग और मात्रा—पैराअमीनोसैलीसिलिक की मात्रा १० से १५ ग्राम प्रति दिन निर्धारित की गई है। इसकी ०·५ ग्राम की टिकिया आती हैं। चाकलेट मिश्रित चूर्ण भी आता है जिसको उसमें स्वाद और गन्ध उन्नत करने के लिये मिला दिया जाता है। २·५ ग्राम की चार या ६ मात्रा दिन भर में दी जा सकती हैं। बहुधा इसको भोजन के साथ या उसके पश्चात् ही खिला दिया जाता है। टिकियों को भली भाँति चबला कर ऊपर से दूध लिया जाय।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस मात्रा के कई मांस के प्रयोग से भी कोई कष्टदायक लक्षणों की रिपोर्ट नहीं की गई है। उसके प्रयोग से रोगी के लक्षणों में सदा उन्नति पाई गई है। उसकी खाँसी कम हो जाती है। ज्वर भी कम हो जाता है। भूख भी लगना आरंभ हो जाता है। रोगी की साधारण दशा उन्नत होती है। नाडी भी उन्नत हो जाती है, पहले के समान तीव्र नहीं चलती। श्वास की गति भी घट जाती है। रोगी का वर्ण बदल जाता है। उसके शरीर में रक्त मालूम होता है। रक्त में हीमोग्लोबिन की मात्रा बढ़ जाती है। रोगी स्वयं अपने को स्वस्थ प्रतीत करता है। इस प्रकार रोगी की दशा में सब प्रकार से उन्नति होती है।

यह योग स्ट्रिप्टोमाइसीन का स्थान नहीं ले सकता। किन्तु उसका अत्युत्तम सहयोगी है, विशेषकर उन रोगियों के लिये जिनमें स्ट्रिप्टोमाइसीन कुछ काल के लिये बन्द करना पड़ा है। फुप्फुस के रोग में यह विशेष लाभदायक प्रमाणित हुआ है।

यह पाया गया है कि रक्त में १० मिलीग्राम प्रति सी. सी. का इसका रक्त स्तर उत्तम चिकित्सोपयोगी है। ४ ग्राम की एक मात्रा में यह स्तर पहुँच जाता है और प्रति ६ घंटे पर २·५ ग्राम देने से रक्त स्तर वैसा ही बना रहता है। यह स्तर जीवाणुओं के ह्रास के लिये अत्युत्तम पाया गया है।

इस योग को अन्तर्शिरीय मार्ग से भी दिया गया है। कुछ प्रयोगकर्त्ताओं ने उसको उपयोगी पाया है। किन्तु यह विधि सर्वप्रिय नहीं हो सकी है।

आइसोनियेजिड (Isoniazid)—आईसोनियेजिड वास्तव में आइसोनिकोटिनिक हाइड्रेज़ाइड है। कई विद्वानों ने १९५२ और ५३ में आइसोनिकोटिनिक अम्ल के अनेक योगों का ट्यूबर्क्यूलोसिस जीवाणु पर प्रभाव का अध्ययन किया। किन्तु यही परिणाम निकला कि उनकी जीवाणु पर क्रिया आइसोनिकोटिनिक हाइड्रेज़ाइड के रूप ही में होती है। इस ही को आइसोनियेज़िड कहा गया।

आइसोनियेजिड एक रंगरहित क्रिस्टलीय ठोस पदार्थ है जो जल में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

घुल जाता है। ट्यूबर्किलोसिस जीवाणु पर इसके प्रभाव के अध्ययन के लिये अर्न्सटाइन तथा अन्य विद्वानों ने अनेक प्रयोग किये। सन् १९५२ में अर्न्स्टाइन ने लिखा था कि जितने भी योगों का अभी तक इस जीवाणु पर प्रयोग किया गया उन सबों में आइसोनियोज़िड अधिक प्रबल है। अन्य विद्वानों की भी ऐसी ही सम्मति थी। किन्तु तब तक चिकित्सा में इसका प्रयोग नहीं किया गया था।

मनुष्यों में औषधि प्रयोग करने से प्रभावशाली प्रमाणित हुई। साधारण मात्रा में प्रयोग से उससे विषाक्तता के लक्षण नहीं उत्पन्न होते। किन्तु अति मात्रा से पशुओं में और मनुष्यों में भी विषाक्तता उत्पन्न हो जाती है। मनुष्यों में निद्रानाश तथा मानसिक क्षोभ के लक्षण प्रकट हो गये। कुछ में यकृत और वृक्क की क्षति के भी लक्षण पाये गये। मूत्र में अलबूमिन, शकर, कास्ट आदि आने लगे। कुछ व्यक्तियों में रक्तदाब कम हो गया। कुछ प्रयोग-कर्त्ताओं ने नाड़ीशोथ (Peripheral neuritis), हाथ-पावों का सुन्न हो जाना, उनमें जलन तथा दुर्बलता की भी रिपोर्ट की है। जिन पशुओं को इस योग की अति-मात्रा दी गई उनको क्षुधानाश, यकृत का शोथ तथा रक्त क्षीणता हो गई। बाँयठे आने लगे।

यह पाया गया कि नाड़ीशोथ के लक्षणों का कारण व्यक्ति के शरीर से विटामिन B_6 का निकल जाना था। यह योग B_6 का शरीर में ह्रास कर देता है। ५० से ४५० मिलीग्राम पाइरिडौक्सिन देने से ये लक्षण जाते रहते हैं।

इस योग से जीवाणु के सहिष्णु रूप शीघ्र ही उत्पन्न हो जाते हैं। कई प्रयोगकर्त्ताओं ने पाया कि कुछ सप्ताह ही में ये रूप उत्पन्न हो गये। किन्तु पैराअमीनोसैलीसिलिक अम्ल या स्ट्रिप्टोमाइसीन के लिये वे सहिष्णु नहीं थे।

मात्रा और प्रयोग—इसकी दैनिक मात्रा ०·१ ग्राम से ०·३ ग्राम है जिसको दो भागों में विभक्त करके दिन में दो बार १२ घंटे के अन्तर से दिया जाता है। वास्तव में मात्रा को शरीर-भार के अनुसार निर्दिष्ट करना चाहिये। प्रति किलोग्राम शरीर-भार के लिये ३ से ५ मिलीग्राम उपयुक्त मात्रा है। इसकी १०० मिलीग्राम की टिकियाँ आती हैं। दो से चार टिकिया प्रति दिन दी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जाती हैं। शरीर-भार के अनुसार इसमें घटा-बढ़ी की जा सकती है। सहिष्णु रूपों की उत्पत्ति की संभावना को दृष्टि में रखते हुये इस योग को दूसरे योगों के साथ देना उचित है। अनुभव से यही प्रयोग विधि उत्तम पाई गई है।

कुछ विद्वानों ने स्ट्रिप्टोमाइसीन, पैराअमीनो सैलीसिलिक एसिड और आइसोनियोज़िड तीनों को मिलाकर प्रयोग की सम्मति दी है। किन्तु यह सम्मति स्वीकृत नहीं हुई है। ग्रेगरी और टेम्पल (१९५५) नामक विद्वानों का कथन है कि इन तीनों योगों का एक साथ प्रयोग मस्तिष्कावरण-शोथ तथा सर्वांगक्षय (miliary tuberculosis) जिसमें सब अंग अथवा एक से अधिक अंग रोग से आक्रान्त हो जाते हैं उन दशाओं में अत्यन्त उपयोगी अथवा अमोघ है। किन्तु साधारण दशा में केवल दो योगों का प्रयोग ही सर्वमान्य है। इससे एक लाभ यह है कि यदि वे योग असफल हुए तो उस समय प्रयोग के लिये कम से कम एक योग तो बच जाता है।

आइसोनियोज़िड के अन्य योग—इस योग के भी अनेक योग बनाये गये और उनका ट्यूबर्क्यूलोसिस के जीवाणुओं पर प्रयोग किया गया। केवल एक योग सफल प्रमाणित हुआ जिसको आइसोनियोप्रियेज़िड या मार्सिलिड (Marsilid) का नाम दिया गया। यद्यपि वह जीवाणु पर उत्तम क्रिया करता है किन्तु वह विषाक्तिक है। विषाक्तता ही के कारण वह प्रयोग में नहीं प्रचलित हुआ है। कुछ विद्वान् उसको बच्चों के अस्थि और संधिक्षय रोगों में विशेषकर उपयोगी मानते हैं। इसकी मात्रा ३ मिलीग्राम प्रति किलोग्राम शरीर भार है।

राजयक्ष्मा में उपयोगी अन्य औषधियाँ

उपर्युक्त तीनों राजयक्ष्मा की विशिष्ट औषधियाँ हैं जो गत पन्द्रह वर्षों से प्रयोग की जा रही हैं। जिन औषधियों का नीचे वर्णन किया जाता है वे भी राजयक्ष्मा में विशेष रूप से उपयोगी हैं। उनका प्रचार इतना अधिक नहीं है। किन्तु जब इन तीनों औषधियों से वांछित फल नहीं होते तो निम्नलिखित औषधियों का उपयोग किया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रोमीन, डायासेन, प्रोमीज़ोल—जब सल्फोनेमाइडों का आविष्कार हुआ और उनको अनेक जीवाणुओं के लिये घातक पाया गया तो राजयक्ष्मा के जीवाणु पर भी उनकी ऐसी क्रिया होने की संभावना की ओर विद्वानों का ध्यान गया। अतएव बहुत से प्रयोग किये गये। यद्यपि इस जीवाणु पर भी वे कुछ क्रिया करते थे किन्तु उनका कोई विशेष सन्तोषजनक प्रभाव नहीं मिला। उनकी अपेक्षा सल्फ़ोन श्रेणी के उपर्युक्त तीन योगों को अधिक क्रियाशील पाया गया। कुछ विद्वानों ने उनको स्ट्रिप्टो स्टेफ़िलो आदि पर भी क्रियमाण पाया। अमरीका में उनको चूहों में कुष्ठ (Leprosy) में उपयोगी पाया गया। अतएव वहाँ सन् १९४१ से कुष्ठ की चिकित्सा में इन योगों का प्रयोग होने लगा। कुष्ठ और राजयक्ष्मा के जीवाणु दोनों बहुत कुछ समान हैं। दोनों दण्डाणु हैं और दोनों एक ही विधि से रंग ग्रहण करते हैं। रंजित होने के पश्चात् एक ही से दीखते हैं। दोनों में अन्य समानतायें भी हैं। अतएव राजयक्ष्मा जीवाणु पर भी इनकी कुछ क्रिया होनी स्वाभाविक थी। किन्तु वह क्रिया सन्तोषजनक नहीं थी। इस कारण उनका प्रयोग छोड़ दिया गया। प्रयोगों में यह भी पाया गया कि इस जीवाणु पर क्रिया करने वाला इन पदार्थों के अणुओं का सल्फा भाग नहीं था। किन्तु एक दूसरा ही भाग था जो थायोसेमीकार्बोज़ोन नामक योगों का एक भाग था। अतएव थायोसेमीकार्बोज़ोनों की जाँच की गई। इसके बहुत से योग बनाये गये और उनसे अनेक प्रयोग हुए।

इन प्रयोगों से एक पदार्थ ऐसा मिला जो इस जीवाणु पर विशेष सक्रिय था। इसको जर्मनी में **कौन्टेबेन** (Conteben) या T. B. 1/698 और अमरीका, इग्लैण्ड आदि में टिबियोन और मायवीज़ोन (Tibione, Myvizone) कहा जाता है।

टिबियोन—यह योग जीवाणुओं की उत्पत्ति रोकने में क्रियाशील है। यदि संवर्धन द्रव्य के दो लाख भाग में इस पदार्थ का एक भाग मिला दिया जाय तो उससे उत्पत्ति रुक जाती है। एक प्रयोग-कर्त्ता ने इसकी क्रिया P A S ही के समान पाई। ये प्रयोगशालाओं में प्राप्त फल थे।

जर्मनी में दसहज़ार से अधिक रोगियों को इस योग का प्रयोग करवाया

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गया। वहाँ अन्य रोगों की अपेक्षा फुप्फुस के रोग में अधिक उपयोगी पाया गया। और उनमें भी थोड़े दिन के रोगियों को अधिक लाभ हुआ। चिरकाल के रोगियों में ओषधि सफल नहीं हुई। मस्तिष्कावरण के रोग तथा सर्वांग रूप (Meningeal, miliary) में उससे लाभ नहीं हुआ।

जर्मनी, अमरीका तथा अन्य देशों का यही अनुभव है कि यह योग मनुष्य में इस रोग के भिन्न-भिन्न रूपों की चिकित्सा के लिये उपयुक्त नहीं है। यह विषैला भी अधिक है। अन्य योग स्ट्रिप्टोमाइसीन, PAS आदि के साथ भी इसको दिया गया। किन्तु उससे भी अन्य मिश्रित योगों की अपेक्षा उत्साह-जनक परिणाम नहीं हुए। इस कारण इसका प्रयोग बन्द कर दिया गया है।

पाइरेज़िनेमाइड (Pyrazinamide)। इसको आल्डीनेमाइड (aldinamide) भी कहते हैं। यह योग आइसोनियोजिइड का निकट संबंधी है। यह एक श्वेत रंग का चूर्ण है जिसमें प्रबल जीवाणुस्तंभक शक्ति है, स्ट्रिप्टोमाइसीन के समान ही है। प्रयोगशालाओं में किये गये प्रयोगों में जीवाणुओं पर इसकी अत्यन्त सन्तोषजनक क्रिया होती है। किन्तु यह विषाक्तिक पदार्थ है। विशेषकर यकृत को अधिक हानि पहुँचाता है। इसके ३५ मिलीग्राम प्रति किलोग्राम शरीर भार से अधिक मात्रा में प्रयोग से यकृत-विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इस कारण कई प्रयोगकर्त्ताओं की सम्मति में यद्यपि राजयक्ष्मा की चिकित्सा के लिये यह सर्वोत्तम औषधि है किन्तु रोगी के यकृत-विकारों से ग्रस्त हो जाने के भय के कारण इसका प्रयोग केवल उन्हीं रोगियों में करना चाहिये जिनको अस्पताल में चिकित्सक की देख-भाल में रखा जा सके। इस पर प्रयोग किये जा रहे हैं और संभव है इसका विषाक्तता-रहित रूप शीघ्र ही निकल आये।

बायोमाइसीन—इसका संक्षिप्त वर्णन प्रतिजीवियों के साथ किया जा चुका है। स्ट्रिप्टोमाइसीन, P A S या आईसोनियोजिइड के साथ मिलाकर प्रयोग करने से प्रयोग-कर्त्ताओं को अत्युत्तम परिणाम मिले हैं। उनकी सम्मति में यह एक प्रबल राजयक्ष्मा जीवाणु स्तंभक है। किन्तु श्रवण संबंधी विकारों को उत्पन्न करने तथा वृक्क को हानि पहुँचाने के कारण इसकी उपयो-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गिता कम है। किन्तु यदि इसका निर्दिष्ट मात्रा से अधिक प्रयोग न किया जाय, अर्थात् ४८ घंटे में २ ग्राम से अधिक न दिया जाय तो उपद्रवों का विशेष भय नहीं रहता।

सीरोमाइसीन—इसका भी पहिले उल्लेख किया जा चुका है। प्रयोगों में इसको राजयक्ष्मा के जीवाणु का प्रबल विरोधी पाया गया है। किन्तु विषाक्तता के कारण इसका उपयोग नहीं किया जा सका है। १ से १·५ ग्राम नित्य प्रति ४ मास के प्रयोग से रोग में लाभ के लक्षण पाये गये हैं। बहुत से रोगियों का श्लेष्मा जीवाणु मुक्त हो गया। किन्तु विषाक्तता के लक्षण प्रकट हो गये जिनमें बधिरता और चर्मशोथ मुख्य हैं।

अभी इसके संबंध में भी खोजों की आवश्यकता है।

राजयक्ष्मा की चिकित्सा के सिद्धान्त

उपर्युक्त विशिष्ट औषधियों के आविष्कार पर भी राजयक्ष्मा की चिकित्सा के अब भी वे ही सिद्धान्त हैं जो पहिले थे। उस समय चिकित्सक को रोगी के आरोग्य लाभ करने के लिये पूर्ण विश्राम, खुली हुई शुद्ध वायु, सूर्य-प्रकाश, उत्तम पौष्टिक भोजन और मुख्यतया शारीरिक शक्ति पर ही निर्भर करना पड़ता था। जो कुछ औषधियाँ रोगी को दी जाती थीं उनका प्रयोजन भी शरीर की रक्षक शक्तियों को बढ़ाना था। पौष्टिक आहार भी इन्हीं शक्तियों को बढ़ाने के लिये दिया जाता था। वास्तव में रोग पर विजय पाने के लिये रोगी की शारीरिक रक्षक शक्तियाँ ही चिकित्सक का एक मात्र आधार थीं। सब प्रकार से उनको समुन्नत करना उसका एक मात्र लक्ष्य होता था।

आज भी रोग की सच्ची विजेतायें शारीरिक शक्तियाँ ही हैं। हाँ इन औषधियों से उनको बहुत सहायता मिलती है। जिस शत्रु से उनको युद्ध करना पड़ता है उसको ये औषधियाँ निर्बल कर देती हैं। उसके अस्त्रों को उससे छीन लेती हैं, उनकी धार को खोटी कर देती हैं और उसने जो कवच पहिन रखा था उसको नष्ट कर डालती हैं। किन्तु उन पर अन्तिम विजय पाना शारीरिक शक्तियों ही का काम है। अतएव चिकित्सक का रोगी की

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शारीरिक शक्तियों को समुन्नत करना प्रथम कर्त्तव्य है। रोगी को पूर्ण विश्राम का आदेश चिकित्सा का पहला आयोजन है। रोगी पूर्णतया शैया-रूढ़ होना चाहिये जिससे शरीर की शक्ति का व्यय अतिन्यून हो और उसका शरीर में संचय हो। पाचक औषधियाँ भी रोगी को इसी लिये दी जाती हैं कि उसका पाचन उन्नत हो, वह अधिक पौष्टिक आहार को पचा सके और अधिक पोषक तत्वों (nutritive constituents) का उसके शरीर में समीकरण या सर्वाङ्गीकरण हो सके। शरीर के नवीन ऊतकों का निर्माण, रसों को बनाना तथा शरीर की रोगों से रक्षा करना, रक्षक शक्ति उत्पन्न करना ये सब प्रोटीन के काम हैं। अतएव रोगी को प्रोटीन की विशेष आवश्यकता होती है। रोग के कारण शरीर के प्रोटीनों का क्षय होता रहता है। इनकी पूर्त्ति के लिये भी उसको प्रोटीनों की अधिक आवश्यकता होती है। अतएव रोगी को ऐसा आहार देना चाहिये जिसमें प्रोटीन की प्रचुर मात्रा हो। मांस, अंडा, मछली और दूध इनमें प्रोटीन अधिक होती है। और ऐसी प्रोटीन होती है जिसका शरीर में पूर्ण अवशोषण और स्वाङ्गीकरण होता है। इन पदार्थों की प्रथम श्रेणी की प्रोटीन कहलाती है। वानस्पतिक आहार के पदार्थों—मटर, सेम, दालें, गेहूँ, चने आदि में द्वितीय श्रेणी की प्रोटीन होती है। उनका स्वाङ्गीकरण इतना पूर्ण नहीं होता। इस कारण प्रथम श्रेणी की प्रोटीन जितनी रोगी को दी जा सके उत्तम है। दूध द्वारा पर्याप्त प्रोटीन देना कठिन है। उसके लिये ४ या ५ सेर दूध नित्य पीना आवश्यक होगा। दूध में ८७ प्रतिशत से भी अधिक जल है। इतने दूध से अतिसार हो जाने का डर है। अतएव दूध के बने हुए पदार्थ रोगी को देने चाहिये। इनमें छैना या उसका बना हुआ रसगुल्ला सर्वोत्तम है। उसमें दूध की समस्त प्रोटीनें और स्नेह रहता है। इनका प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया जाय।

मक्खन भी रोगी के लिये अत्युत्तम और उपयोगी भोज्य पदार्थ है। दो औंस मक्खन नित्य प्रति रोगी को अवश्य दिया जाय। यदि वह भली भाँति पचा ले, उसको पाचन विकार न हो तो जितना भी मक्खन पचा सके रोगी को दिया जाय।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रोगी के लिए विटामीन बी और सी भी बहुत आवश्यक हैं। ये यीस्ट में बहुत होते हैं। चूर्ण या टिकियों के रूप में रोगी को यीस्ट अवश्य दिया जाय। हरे फल, सन्तरे, टमाटर, मुसम्मी, नीबू तथा पालक, सोया, सलाद आदि शाक में भी ये विटामीन पर्याप्त मात्रा में होती हैं। हरे और पीले शाकों में विटामीन और लोह दोनों होते हैं। वे रोगी के लिये उपयोगी हैं।

शुद्ध स्वच्छ वायु और सूर्यप्रकाश भी रोगी की चिकित्सा के आवश्यक अंग हैं। इससे शरीर के अंगों में होनेवाली रासायनिक क्रियायें जो जीवन का आधार हैं उन्नत होती हैं, अधिक सम्पूर्ण होती हैं। आक्सीजन पर ही ये रासायनिक क्रियायें आश्रित हैं। आक्सीजन के विना या आक्सीजन की कमी से वे अधूरी रह जाती हैं। शारीरिक शक्ति इन रासायनिक क्रियाओं का फल होती है। अतएव शुद्ध वायु अथवा आक्सीजन का महत्त्व समझा जा सकता है।

पूर्ण विश्राम, शुद्ध वायु, सूर्यप्रकाश तथा पौष्टिक आहार के पश्चात् औषधियों का नम्बर आता है जिनके गुण और प्रयोग का वर्णन गत पृष्ठों में किया जा चुका है। ये अवश्य ही परमोत्तम और जीवन की रक्षक औषधियाँ प्रमाणित हुई हैं। तो भी उनका स्थान उपर्युक्त आयोजनों के पश्चात् है। यह समझना कि इन औषधियों के प्रयोग पर अन्य आयोजनों की आवश्यकता नहीं है, भारी भूल है। उनकी उत्तम क्रिया के लिये भी स्वास्थ्यदायक आयोजन अनिवार्य है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सप्तम परिच्छेद

अतिरक्त-दाब (High Blood Pressure) में उपयोगी औषधियाँ

यह रोग बहुत फैल रहा है। सारे संसार में फैला हुआ है। अमरीका तथा पाश्चात्य देशों में हमारे देश से भी अधिक है। यह रोग आधुनिक सभ्यता के युग की देन है। इस अर्थवाद के युग में प्रत्येक व्यक्ति अर्थोपार्जन की चिन्ता में दिन-रात डूबा रहता है। जो निर्धन या मध्यम श्रेणी के लोग हैं वे अपने और अपने परिवारवालों के पालन-पोषण के लिये जीविकोपार्जन की चिन्ता में ग्रस्त रहते हैं। जो उच्च श्रेणी के और धनवान् व्यक्ति कहे जाते हैं उनको अधिक धन कमाने की चिन्ता रहती है। अपने व्यवसाय की रक्षा करने तथा उसकी उन्नति करने के उपायों में वे निरन्तर व्यस्त रहते हैं। प्रत्येक व्यवसाय में स्पर्धा इतनी अधिक बढ़ गई है कि कोई उद्योगपति भी चैन से नहीं बैठ सकता। निरन्तर व्यवसाय की चिन्ता उसको खाती रहती है। एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ में छोटे-बड़े सब ही व्यस्त हैं। इस युग का जीवन ही ऐसा है कि वह किसी को सन्तोष से नहीं बैठने देता।

यह भली भाँति प्रमाणित हो चुका है कि मानसिक दशा का शरीर पर बहुत प्रभाव पड़ता है। अनेक मानसिक संघर्ष जिनको व्यक्ति नहीं सुलझा पाता रोगों के रूप में प्रगट होते हैं। अतिरक्त-दाब, हृदय के रोग तथा मधुमेह (डायबिटीज़) तीनों ऐसे ही रोग हैं जिनकी उत्पत्ति के विशेष कारण मानसिक होते हैं। वृक्क का जीर्णशोथ (Brights disease) भी ऐसा ही रोग है और इन रोगों से वह बहुत कुछ संबंधित है। जहाँ विज्ञान की प्रगति से रोगों को पहिचानने तथा उनको रोकने में, संक्रामक रोगों को समूल नष्ट करने में तथा मनुष्य को स्वस्थ बनाने और उसका जीवनकाल (आयुदीर्घता) बढ़ाने में आशातीत सफलता हुई है, वहाँ ये रोग बढ़ते जा रहे हैं। उनसे

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ग्रस्त रोगियों की संख्या उत्तरोत्तर वृद्धि पर है। इसका कारण आजकल का दैनिक जीवन-संघर्ष है जो निरंतर बढ़ता जा रहा है।

रक्त-दाब क्या है—अतिरक्त-दाब का अर्थ है सामान्य रक्त-दाब का बढ़ जाना। प्रश्न यह है कि रक्त-दाब क्या है।

जब रक्त हृदय से आकर धमनी शिरा आदि में प्रवाह करता है तो इन वाहिका नलिकाओं के भीतर उनकी भित्तियों पर रक्त का दबाव होता है। रक्त उनको निरन्तर बाहर की ओर को दबाता रहता है। हृदय से रक्त ठहर-ठहर कर आता है, निरन्तर समान गति से नहीं आता। जब हृदय में प्रकुंचन (Systole) होता है तब हृदय से रक्त निकल कर महाधमनी में जाता है और वहाँ से उसकी शाखाओं में चला जाता है। प्रकुञ्चन के पश्चात् अनुशिथिलन के समय रक्त का आना बन्द हो जाता है। प्रत्येक बार प्रकुंचन के समय धमनियों में रक्त आता है और अनुशिथिलन के समय वही रक्त बहता रहता है। अतएव प्रकुञ्चन के पश्चात् जब रक्त का रेला आता है तो धमनियों की भित्तियों पर दबाव बढ़ जाता है। यह प्रकुञ्चनी-दाब (Systolic Pressure) कहलाता है। जब रेला निकल जाता है तो भित्तियों पर का दाब कम हो जाता है। यह अनुशिथिलन-दाब (Diastolic Pressure) कहा जाता है और हृदय के अनुशिथिलन काल का होना है। इस प्रकार हृदय का प्रकुंचन रक्त-दाब की उत्पत्ति का विशेष कारण होता है।

दूसरा कारण धमनियों की भित्तियों का लचकीलापन (Elastic veooil) होता है। धमनियों की भित्तियों में मांस ऊतक के तन्तु (muscle fibres) अधिक होते हैं। उनमें स्थितिस्थापक या लचकीले तन्तु (Elastic fibres) भी होते हैं जो विस्तृत होने के पश्चात् फिर छोटे हो जाते हैं। इससे जब धमनी में रक्त का रेला आता है तो धमनी चौड़ जाती है और फिर सिकुड़ जाती है जिससे उसके भीतर का रक्त दबता है और आगे को प्रवाह करता है। धमनियों के इस विस्तृत होकर सिकुड़ जाने के गुण से रक्त पर दाब बना रहता है और उसका प्रवाह भी होता रहता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तीसरा एक विशेष कारण जो रक्त-दाब को उत्पन्न करता है प्रान्तिक अवरोध (Peripheral resistance) है जो रक्त को त्वचा तथा अन्य प्रान्तिक भागों में विस्तृत केशिकाओं तथा धमनिकाओं में मिलता है। धमनियों से ज्यों-ज्यों शाखायें निकलती जाती हैं उनका आकार छोटा होता चलता है। अन्त में वे बहुत छोटी हो जाती हैं। ये धमनिकायें (arteriolese) कहलाती हैं। इनकी फिर अत्यन्त सूक्ष्म शाखायें हो जाती हैं जो बालों से भी पतली केवल एक कोशिका मोटी (One cell thick) होती हैं। ये केशिकायें (Capillaries) कहलाती हैं। इनके दूसरे सिरों से शिराओं (Veins) की केशिकायें आरंभ हो जाती हैं जिनके द्वारा रक्त लौटने लगता है। इनसे आगे चल कर बड़ी-बड़ी शिरायें बन जाती हैं जो रक्त को हृदय में लौटा लाती हैं।

सारे शरीर में इन केशिकाओं का जाल फैला हुआ है। विशेषकर त्वचा में, उसके नीचे तथा अंगों में केशिकाओं की इतना अधिक संख्या है कि यदि इनका प्रसार (dilatation) हो जाय, ये चौड़ जाँय तो सारे शरीर का रक्त इनमें समा जाय। दूसरा स्थान जहाँ केशिकायें अत्यधिक हैं आन्त्र का क्षेत्र है। यह भी एक झील की भाँति है जिनमें शरीर का सारा रक्त समा सकता है।

ये धमनिकायें और केशिकायें हमारे नाड़ी-मण्डल के उस भाग के अधीन हैं जिसको **आत्मग नाडी-मण्डल** कहते हैं, जो सब आभ्यन्तरांगों का नियन्त्रण करता है, जिसकी स्वयं ही क्रिया होती रहती है। उसकी क्रिया हमारी इच्छा के अधीन नहीं है। इसी लिये उसका उपर्युक्त (autonomous nervous System) नाम रखा गया है। वह स्वयं अपने आप प्रेरित होता है और आन्त्र, आमाशय, अग्न्याशय, यकृत, रक्त-वाहिनियाँ, हृदय आदि समस्त आभ्यन्तरांगों में नाड़ी-सूत्रों द्वारा संवेग भेजकर उनसे क्रिया करवाता है। इस मंडल के एक प्रकार के तन्तुओं द्वारा जाने वाले संवेगों से धमनिकायें और केशिकायें संकुचित हो जाती हैं और दूसरे प्रकार के तन्तुओं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्वारा गये संवेगों से उनका प्रसार हो जाता है। यह क्रियायें मस्तिष्क में स्थित एक केन्द्र द्वारा नियन्त्रित होती हैं। इसको रक्तवाहिका प्रेरक केन्द्र (Vaso-motor Centre) कहते हैं।

जब प्रान्तिक रक्तवाहिकाओं, धमनियों तथा केशिकाओं का संकोच हो जाता है तो रक्त-दाब बढ़ जाता है। हृदय से आने वाले रक्त के प्रवाह करने के मार्ग संकुचित हो जाते हैं। इससे सहज में रक्त नहीं जा पाता। उधर से हृदय रक्त को निरन्तर भेजता रहता है। अतएव रक्त-दाब की वृद्धि हो जाती है। इसके विरुद्ध केशिकाओं और धमनिकाओं के प्रसार से रक्त-दाब घट जाता है। भय, चोट लगने, अकस्मात आघात पहुँचने पर ऐसा ही होता है।

यह प्रकृति का एक अद्भुत साधन है जिसके द्वारा उसने शरीर में जहाँ आवश्यकता हो अधिक रक्त पहुँचाने तथा रक्त का प्रवाह कम कर देने का प्रबंध किया है। शरीर में विशेषकर चोट लगने या संवेग या स्तब्धता (shock) होने पर एक हिस्टामीन (नामक) वस्तु उत्पन्न होती है जिसके प्रभाव से रक्तवाहिकाओं का प्रसार हो कर रक्त-दाब कम हो जाता है।

शरीर की रक्तवाहिकाओं में उपस्थित रक्त की मात्रा या उसका आयाम भी रक्त-दाब की उत्पत्ति का एक कारण है। प्रायः रक्त की मात्रा में घटा बढ़ी नहीं होती, वह एक समान ही रहती है। किन्तु कुछ दशाओं में उसमें परिवर्त्तन संभव है। रक्तस्राव से रक्त की मात्रा कम हो सकती है। रक्त की सान्द्रता (Viscosity) पर भी रक्त-दाब निर्भर करता है। विसूचिका (Cholera) में रक्त में जल की कमी हो जाने से रक्त गाढ़ा हो जाता है जिससे उसका प्रवाह सहज में नहीं हो पाता। इससे रक्त-दाब कम हो जाता है।

अतएव रक्त-दाब के निम्नलिखित पाँच कारण होते हैं जिनका सविस्तार वर्णन किया गया है :—

१. हृदय की रक्त को शरीर में पम्प करने की क्रिया।

२. प्रान्तिक अवरोध, जो रक्त को प्रान्तिक केशिकाओं तथा धमनिकाओं में मिलता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३. धमनियों की भित्तियों का स्थितिस्थापक गुण (लचकीलापन)।

४. शरीर की धमनियों में उपस्थित रक्त की मात्रा।

५. रक्त की सान्द्रता।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि प्रकुंचनी-रक्तदाव हृदय के प्रकुंचन के वेग तथा प्रत्येक प्रकुंचन में हृदय से निकलने वाले रक्त की मात्रा का द्योतक है। अनुशिथिलन-रक्तदाव प्रान्तिक अवरोध का सूचक है।

सामान्य रक्त-दाब कितना होता है—रक्त-दाव को नापने का विशेष यन्त्र होता है जो रक्त-दाव मापी (sphygmomanometr) कहलाता है। इसमें एक काँच की लम्बी नली होती है जिसके निचले चौड़े भाग में पारा भरा रहता है। नली पर अंक लिखे रहते हैं। इस नली का संबंध एक रबड़ की थैली से होता है जिस पर वस्त्र चढ़ा रहता है। इस थैली को बाहु पर लपेट दिया जाता है। इस थैली और नली दोनों का संबन्ध एक रबड़ की नली द्वारा एक बल्ब से होता है जिसको दबाने से वायु एक ओर काँच की नली में पहुँचती है और दूसरी ओर थैली में। इस प्रकार वायु का दाब थैली और काँच की नली में समान रहता है।

रोगी की बाहु पर थैली को लपेट कर रबड़ के बल्ब को बार-बार दबाकर वायु भरते जाते हैं। थैली फूलती जाती है जिससे रोगी की बाहु की धमनी दबती है और रक्त-संचार कम होता जाता है, यहाँ तक कि बन्द हो जाता है। दूसरी ओर वायु के दाब से काच की नली का पारे का स्तम्भ ऊपर उठता जाता है। रक्त-संचार के बन्द होने पर जहाँ पारा पहुँचता है वहाँ पर लिखा अंक प्रकुंचनी रक्त दाब का द्योतक है।

थैली में वायु भरते समय कुहनी के सामने जहाँ बाहु की बाहवी धमनी दो शाखाओं में विभक्त होती है उस स्थान पर त्वचा पर स्टैथिस्कोप के वक्ष भाग को रख कर सुनते रहते हैं। उससे शब्द सुनाई देते हैं। वायु को भरकर दाब को बढ़ाने से अन्त में शब्द सुनाई देना बन्द हो जाता है। थोड़ी-सी और वायु भर कर दाब को थोड़ा अधिक कर दिया जाता है। तब

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पेच को घुमाकर वायु को धीरे-धीरे निकालते हैं। उसी के अनुसार काँच नली का पारा भी गिरने लगता है। इस समय शब्द को सुनते रहते हैं। ज्यों ही पहली तीव्र ध्वनि 'टिक' या 'क्लिक' की भाँति सुनाई दे उसको नोट कर लेना चाहिये। यही प्रकुंचनी रक्त-दाब है।

इसके पश्चात् धीरे-धीरे वायु को निरन्तर कम करते जाते हैं और शब्द को सुनते रहते हैं। जब तीव्र ध्वनि के स्थान में पहली बार दबी हुई ध्वनि मानो वह दूर से आ रही हो, सुनाई दे तो वह अनुशिथिलन रक्त-दाब की द्योतक है।

विश्राम की अवस्था में रोगी को लिटाकर तथा उसकी मानसिक उद्विग्नता दूर करके रक्त-दाब को मापा जाता है। चित्त की अवस्था तथा शारीरिक श्रम के अनुसार उसमें बहुत भिन्नता पाई जाती है। इस कारण विद्वान अभी तक सामान्य रक्त-दाब के बारे में एक मत नहीं हो सके हैं। तो भी स्वस्थ दशा में १४० से १५० (मि० मी. पारा तक) सामान्य प्रकुंचनी रक्त-दाब की उच्च सीमा मानी जाती है। अर्थात् १५० अति या उच्च रक्तदाब नहीं है। ९० से ९५ मि. मीटर अनुशिथिलन रक्त-दाब-सीमा मानी गई है। इन सीमाओं से अधिक होने पर उच्च दाब माना जाता है। स्त्रियों में ५ से० मीटर दाब कम होता है। किन्तु लगभग ४५ वर्ष की आयु में पहुँच कर दोनों में समान हो जाता है। बीमा कम्पनियों के आंकड़ों से तथा लाखों व्यक्तियों की परीक्षा से यही निष्कर्ष निकाला गया है कि युवावस्था में १२० मि. मीटर से १५० मि. मी. तक प्रकुंचनी और ७५ से ९० या ९५ तक अनुशिथिलन-दाब सामान्य सीमा के भीतर है।

रक्त-दाब पर आयु का प्रभाव—आयु के साथ रक्त-दाब भी बढ़ता है। २० वर्ष की आयु के पश्चात् यह बढ़ने लगता है। पुरुषों में ५० वर्ष तक धीमी समान गति से बढ़ता रहता है। ५० वर्ष की आयु में १३५ या १४० मि. मीटर हो जाता है। इसके पश्चात् फिर तीव्र गति से बढ़ सकता है। स्त्रियों में रक्तदाब की वृद्धि की गति इतनी समान नहीं होती। प्रकुंचनी की अपेक्षा अनुशिथिलन दाब की वृद्धि अधिक समान रूप से होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अतिरक्त-दाब (High blood Pressure, Hypertension)– जैसा ऊपर कह आये हैं १२० से १५० मि. मी. तक सामान्य रक्त-दाब माना जाता है, अर्थात् उससे हानि होने की संभावना नहीं है। किन्तु यदि २५ वर्ष के युवक को १५० मि. मी. रक्तदाब निकले तो उसको यदि अतिरक्त दाब नहीं भी है तो भी वह युवक अतिरक्त-दाब के पथ पर अग्रसर हो रहा है। वह अतिरक्त-दाब के बहुत कुछ समीप है और आगे चल कर वह अतिरक्त-दाब से ग्रस्त हो जायगा। अतएव आयु, लिङ्ग (स्त्री या पुरुष), शरीर का गठन, लम्बाई-चौड़ाई व्यवसाय आदि सबका विचार करके अतिरक्त-दाब का निर्णय करना चाहिये। प्रत्येक अवस्था में १६० से ऊपर का प्रकुंचनी-दाब अतिरक्त-दाब है। १०० या १०५ अनुशिथिलन-दाब भी सामान्य सीमा से ऊपर है।

अतिरक्त-दाब के लक्षण—कोई ऐसे विशेष लक्षण नहीं हैं जिनसे रोगी या चिकित्सक रोग का निश्चय कर सके। चिकित्सक भी परीक्षा करके ही रोग को पहिचान सकता है। जो भी लक्षण प्रगट होते हैं वे अनेक अन्य कारणों से भी उत्पन्न हो सकते हैं।

शिर-दर्द अत्यन्त साधारण लक्षण है। मन्दाग्नि, पाचन विकार, दृष्टिदोष आदि अनेकों कारण से शिर दर्द हो सकता है। किन्तु यदि बारम्बार नित्य प्रति या निरन्तर दर्द होता हो तो उसकी जाँच करनी आवश्यक है। न्यून रक्त-दाब से भी शिर-दर्द हो सकता है। तो भी परीक्षा करके दर्द को दूर करना आवश्यक है। ऐसी दशा बहुत काल तक रहने से अतिरक्त-दाब उत्पन्न हो सकता है।

शिर चकराना या घूमना दूसरा लक्षण है जो अतिरक्त-दाब का द्योतक माना जाता है। ये दो प्रकार की दशायें होती हैं। एक में केवल नेत्रों के सामने अँधेरा-सा मालूम होता है। रोगी को प्रतीत होता है कि वह मूर्च्छित हो जायगा, किन्तु वास्तव में कभी होता नहीं। दूसरी दशा में चारों ओर की सब वस्तुयें अपने चारों ओर घूमती हुई दीखती हैं। इसको भ्रमि और अंग्रेजी में Vertigo कहते हैं। रोगी को प्रतीत होता है मानो वह स्वयं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चक्कर खा रहा है, अकाश में घूम रहा है। ऐसा लक्षण उत्पन्न होते ही रोगी की डाक्टर द्वारा परीक्षा होनी चाहिये।

श्रम या थकान भी ऐसा ही लक्षण है। रोगी को शीघ्र ही शारीरिक तथा मानसिक थकान मालूम होने लगती है। अतिरक्त-दाब से पूर्वावस्था का यह एक लक्षण है। किन्तु उसके अन्य भी बहुत से कारण हो सकते हैं। यदि वास्तव में रक्त-दाब के बढ़ जाने से रोगी को श्रमित होकर विश्राम करना पड़ता है तो यह एक बहुत ही लाभदायक लक्षण है।

हाथों पावों तथा अँगुलियों में चुनचुनाहट मालूम होना, शिर में भारीपन तथा मुँह का तनिक से उद्वेग से लाल हो जाना भी ऐसे ही लक्षण हैं जिनकी छानवीन आवश्यक है।

अतिरक्तदाब के प्रकार—विशेषकर दो प्रकार का अतिरक्त-दाब पाया जाता है। प्रथम प्रकार के अतिरक्तदाब का कोई कारण नहीं मिलता। कोई अन्य ऐसा अंग रोग-ग्रस्त या विकृत नहीं होता जिसके कारण रक्तदाब बढ़ सके। पहले यह समझा जाता था यह रोग जीर्ण वृक्कशोथ (Chronic nephritis) से उत्पन्न होता है जिसको 'ब्राइट का रोग' (Bright's disease) कहते हैं। रिचर्ड ब्राइट नामक विद्वान ने प्रथम वार सन् १९३६ में वृक्कशोथ और हृदयातिपुष्टि (Cardiac Hypertrophy) में निकट संबंध का उल्लेख किया था। तब यही समझा गया था कि वृक्क का विकार अतिरक्तदाब उत्पन्न करता है और अतिरक्त-दाब से हृदय की अतिपुष्टि होती है जो अन्त में हृत्प्रसार (Cardiac dilatation) में परिणत हो जाती है। इस प्रकार उस समय विकृत वृक्क ही को अतिरक्त-दाब के लिये दोषी माना जाता था।

किन्तु अब यह प्रमाणित हो गया है कि अधिकतर अतिरक्त-दाब के रोगियों में वृक्क निर्दोषी होता है। ८० प्रतिशत रोगी इसी प्रकार के होते हैं जिनमें वृक्क तथा अन्य अंग स्वस्थ होते हैं, रोग के चिह्नों से पूर्णतया मुक्त होते हैं। अतएव उनमें रोग का कोई कारण नहीं पाया जाता। इस

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रकार का रोग **प्राथमिक** (Primary) अथवा **अनिवार्य** (Essential) अतिरक्त-दाब कहा जाता है। शेष २० प्रतिशत रोगियों में रोग अन्य अंगों की विकृति से उत्पन्न होता है। उन अंगों के रोग ग्रस्त होने से अतिरक्त-दाब हो जाता है। ब्राइट के रोग से अतिरक्त-दाब हो जाता है। गर्भावस्था की विषाक्तिक दशाओं (Toxaemias of Pregnancy) में भी रक्त-दाब बढ़ जाता है। ६० से अधिक इस प्रकार के रोगों की सूची तैयार की गई है जिनमें रक्त-दाब बढ़ जाता है। रोग की सफल चिकित्सा से रक्त-दाब भी घटकर सामान्य हो जाता है। ऐसे रक्त-दाब को **गौण** (Secondary) अथवा कारणिक कहा जाता है।

चिकित्सा की दृष्टि से प्राथमिक या अनिवार्य अतिरक्तदाब को दूर करना अत्यन्त कठिन होता है। इस कारण इसको **दुर्दम्य** (Malignant) भी कहते हैं।

मस्तिष्क का अतिरक्त-दाब से संबंध—इस विषय के प्रारंभ ही में कहा गया है कि चिन्ता, भय, क्रोध आदि मानसिक उद्वेग इस दशा को उत्पन्न करने के विशेष हेतु हैं। इसी कारण आधुनिक वैज्ञानिक युग जिसमें संक्रामक रोग लुप्तप्राय हो रहे हैं और पोषण संबंधी नवीन खोजों द्वारा मनुष्य के स्वास्थ्य और जीवन-काल की वृद्धि हो रही है वहाँ यह रोग तथा इसी से संबंधित रोगों का प्रसार हो रहा है। उनसे ग्रस्त रोगियों की संख्या और बढ़ रही है। इसका कारण मानसिक उद्वेग है।

मानस मस्तिष्क का गुण है। जो विचार, भाव, या उद्वेग मन में उठते हैं उनकी उत्पत्ति मस्तिष्क में होती है। विचारने की क्रिया मस्तिष्क की कोशिकाओं द्वारा सम्पादित होती है। उन ही में संवेगों की उत्पत्ति होती है जो आत्मग नाड़ी-तन्तुओं द्वारा हृदय, आन्त्र तथा अन्य आभ्यन्तरांगों तथा धमनियों, ग्रन्थियों आदि में पहुँचकर उनकी क्रिया को घटाते या बढ़ाते हैं। सामान्यतया इन दोनों प्रकार के तन्तुओं द्वारा जाने वाले संवेगों का इस भाँति संतुलन होता रहता है कि धमनियें तथा केशिकायें न अधिक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संकुचित होती हैं न उनका अति प्रसार होता है। उनकी सामान्य दशा बनी रहती है। यदि संकोचन संवेग कभी अधिक आने लगते हैं तो प्रसारक संवेगों की उत्पत्ति भी बढ़ जाती है और संकोचक संवेग निष्क्रिय हो जाते हैं। इस प्रकार दोनों की क्रिया का संतुलन होता रहता है और रक्तदाब सामान्य बना रहता है।

जब मानसिक संवेद बढ़ जाते हैं, उलझनें बहुत हो जाती हैं, चित्त में अशांति बनी रहती है तो इन संवेदों का प्रभाव मस्तिष्क के हाइपोथैलेमस (मध्य मस्तिष्क का एक भाग) पर पड़ता है जिससे आत्मग मण्डल के संकोचक तन्तुओं में संवेग जाने लगते हैं जिनसे केशिकाओं और धमनिकाओं का संकोच बढ़ जाता है। यह विचित्रता है कि आत्मग नाड़ी तन्तुओं की क्रिया और शरीर की अन्तःस्रावी ग्रन्थियों में उत्पन्न हुए हारमोनों की समान क्रिया होती है। ये हारमोन रासायनिक पदार्थ उत्पन्न करते हैं और उनकी क्रिया का फल शारीरिक परिवर्त्तन होते हैं। इस कारण यह माना जाता है कि आत्मग मण्डल इन अन्तःस्रावी ग्रन्थियों को उत्तेजित करता है और ये ग्रन्थियाँ उन रासायनिक द्रव्यों को उत्पन्न करती है जिनकी क्रिया का फल धमनियों का संकोच या विस्तार होता है। हाइपोथैलेमस में उत्पन्न हुए संवेगों से पिट्यूटरी या पीयूषिका ग्रन्थि के पश्चिम खंड से पिट्रेसिन (Pitressin) बन कर रक्तदाब को बढ़ा देती है। पीयूषिका के अग्र खंड से ACTH नामक हारमोन बनकर अधिवृक्कों से DOCA तथा ऐसे ही पदार्थों की उत्पत्ति करवा सकता है जिनकी क्रिया से धमनियों का संकोच हो जाता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि अधिवृक्क के अन्तस्थ भाग (medulla) में एक आर्टिरिनोल (arterenol) नामक वस्तु भी उत्पन्न होती है जो धमनियों और केशिकाओं की प्रबल संकोचक है। कुछ अन्वेषकों ने यह भी पाया है कि स्वयं मस्तिष्क धमनियों और केशिकाओं का संकोच करने वाली एक वस्तु को उत्पन्न कर सकता है। संभव है मानसिक उद्वेगों से इन ही विधियों द्वारा अतिरक्त-दाब उत्पन्न होता हो। अथवा अन्य भी विधियाँ हों जिनका अभी तक पता नहीं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लगा है। मस्तिष्क समस्त शारीरिक क्रियाओं का नियन्त्रण करता है। अतएव मानसिक विकल्पों का शरीर पर प्रभाव होना, रक्तदाब का बढ़ना बहुत ही संगत है।

वृक्क और अतिरक्तदाब—वृक्क और अतिरक्तदाब का भी निकट संबंध है। वृक्कार्त्ति से सदा अतिरक्तदाब उत्पन्न होता है और अतिरक्तदाब से वृक्कार्त्ति की बहुत संभावना होती है, यद्यपि अतिरक्तदाब के सब रोगियों में वृक्कों में परिवर्त्तन नहीं पाये जाते।

इस संबंध में बहुत प्रयोग किये गये हैं और इस विषय पर प्रकाशित अन्वेषणकर्त्ताओं के लेखों की संख्या इतनी बढ़ गई है कि उन सबों को पढ़ना किसी अन्वेषणकर्त्ता के लिये भी असंभव ही सा हो गया है। सन् १९३६ में गोल्डब्लाट (Goldblatt) और उनके सहकारियों ने जो प्रयोग किये उनसे इस विषय पर बहुत प्रकाश पड़ा। उन्होंने कुत्तों पर ये प्रयोग किये। उनके उदर को खोल कर उनकी वृक्कानुगा धमनी (Renal arteries), को जिनके द्वारा वृक्क में रक्त जाता है, संकुचित कर दिया। इससे वृक्कों में रक्त कम पहुँचने लगा और वृक्कों की रक्ताल्पता (ischaemia) हो गई। जितने कुत्तों में यह प्रयोग किया गया उन सब में अतिरक्तदाब की दशा उत्पन्न हो गई। अन्य विद्वानों ने भी इन प्रयोगों को दुहराया। उनको भी ऐसे ही परिणाम मिले। इससे यह प्रमाणित हो गया कि वृक्क की रक्ताल्पता और संभव है उसके कारण उत्पन्न हुए अन्य परिवर्त्तन भी, अतिरक्तदाब के कारण होते हैं।

अन्य अन्वेषणों से यह भी पता चला है कि वृक्क में जब रक्ताल्पता हो जाती है तो वृक्क में कुछ ऐसी वस्तु उत्पन्न होती हैं जिनके प्रभाव से धमनिकाओं और केशिकाओं का संकोच हो जाता है। रेनिन (Renin) एक ऐसी ही वस्तु है। इसको ऐंजियोटोनिन (angiotonin) भी कहते हैं। इसकी क्रिया से रक्तदाब बढ़ जाता है। वृक्क में रक्त की कमी से यह उत्पन्न होती है। इसको प्रयोगशालाओं में कृत्रिम प्रकार से भी बनाया गया है। इसके प्रयोग से प्राकृतिक शरीर में उत्पन्न होने वाली ऐंजियोटोनिन या हाईपैटैंसिन (Hypertension) के ही समान क्रिया होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रेनिन या ऐंजियोटोनिन के अतिरिक्त वृक्क की रक्ताल्पता से अन्य ऐसी ही और भी कई रासायनिक वस्तुयें शरीर में उत्पन्न हो जाती हैं। (१) **सिरेटोनीन** (Seratonin) रक्त के बिम्बाणुओं (Platelets) से तथा अन्य कई ऊतकों से उत्पन्न होती हैं। यह एक प्रकार की अमीन है जो अमीनो-अम्लों के अपूर्ण विभजन से उत्पन्न होती है। प्रयोगशालाओं में जिन जन्तुओं को इस वस्तु के इंजेक्शन दिये गये उनका रक्तदाब बढ़ गया। (२) **फिरेन्टेसीन** (Pherentesin)। यह केवल अतिरक्तदाब के रोगियों में पाई जाती है। (३) **नोरैपीनेफ्रिन** (Norepinephrin)। इसके इंजेक्शन से मनुष्यों में रक्तदाब बढ़ जाता है। (४) कुछ अन्य अमीन भी रक्तदाब को बढ़ाती हैं।

अतिरक्तदाब से हानि—अतिरक्तदाब के कुछ लक्षण पहिले बताये जा चुके हैं। यद्यपि उनसे कोई घातक परिणाम नहीं होते तथापि वे भी अशक्त कर देने वाले हैं। व्यक्ति काम करने के अयोग्य हो जाता है।

अतिरक्तदाब के चिरकाल तक बने रहने से शरीर में आयु क्षीण करने वाले परिवर्त्तन हो जाते हैं जिनसे कभी-कभी सांघातिक हानि हो सकती है। इसमें सबसे प्रमुख परिवर्त्तन धमनीकाठिन्य (arteriosclerosis) है। इस शब्द का अर्थ है धमनी का कठिन हो जाना, धमनी में जो लचकीलेपन का गुण है जिसको पहिले बताया जा चुका है उस का लुप्त हो जाना। इसका कारण यह होता है कि धमनी के मध्यस्तर में स्थितिस्थापक तन्तु नष्ट हो जाते हैं और वहाँ कैलशियम एकत्र हो जाता है। इससे धमनियाँ कड़ी पड़ जाती हैं। आयु के साथ-साथ यह क्रिया भी होती रहती है। इस कारण वृद्धावस्था में प्रायः धमनी कुछ कठिन पड़ जाती हैं। इस ही से रक्त-दाब बढ़ जाता है।

रक्त-दाब से यह क्रिया बढ़ती है। इस प्रकार धमनी काठिन्य से रक्त-दाब बढ़ता है और रक्त-दाब से धमनी-काठिन्य में वृद्धि होती है। रक्तदाब में दूसरी प्रकार से भी वृद्धि हो सकती है। धमनी के अन्तःस्तर में वसा एकत्र होने से धमनी का मार्ग संकीर्ण हो जाता है। जहाँ-जहाँ भी वसा का संग्रह हो जाता है वहाँ-वहाँ मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। मार्ग की चौड़ाई भी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

एक समान नहीं रहती। इस दशा का नाम (atherosclerosis) है। अतएव रक्त का प्रवाह स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं हो पाता।

अतएव इन दोनों दशाओं में रक्त का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। उसमें बाधा पड़ती है।

यह धमनी काठिन्य अन्य की अपेक्षा तीन अंगों में अधिक होता है, हृदय में, मस्तिष्क में और वृक्कों में।

१. हृदय पर धमनी काठिन्य का प्रभाव—हृदय की पेशियों को परिमंडलधमनियों (Coronary arteries) द्वारा रक्त पोषण पहुँचाता है। उसके भीतर जो रक्त भरा रहता है उससे हृदय को पोषण नहीं मिलता। पोषण पहुँचाने वाली परिमंडली धमनी हैं। दुर्भाग्य से इन धमनियों का काठिन्य अधिकतर दूसरे प्रकार का होता है जिसको (atherosclerosis) कहा गया है। अंतःस्तर के नीचे जहाँ-तहाँ वसा एकत्र हो जाती है। तथा ये स्थान विषम और खुरदरे हो जाते है। अतएव मार्ग के संकीर्ण होने से रक्त प्रवाह धीमा हो जाता है। और उन स्थानों के खुरदरे होने से रक्त के जम जाने की प्रवृत्ति रहती है जिसमें धीमा प्रवाह और भी सहायक होता है। इस प्रकार घनास्रता (Thrombois) के लिये ऐसी धमनियों वाले हृदय उपयुक्त पात्र बन जाते हैं और ऐसे व्यक्तियों को 'दिल का दौरा' शीघ्र ही होता है। जिसको कौरोनरी थ्रौम्बोसिस कहते हैं।

दूसरा परिवर्त्तन जो हृदयमें हो सकता है वह अतिपुष्टि (hypertrophy) है। परिमंडली धमनियों के मार्ग के संकीर्ण होने से उनके द्वारा हृत्पेशी को पर्याप्त पोषण नहीं पहुँच पाता। इस कमी को पूरा करने के लिये हृदय अधिक वेग से रक्त भेजता है। उसका प्रत्येक प्रकुंचन अधिक प्रबल होता है। अतएव हृदय की पेशी को अधिक काम करना पड़ता है। परिणाम रूप हृदय की पेशियों में वृद्धि होती है। नये पेशी तन्तु बनते हैं और नई रक्त वाहिनियें धमनियें केशिकायें आदि भी बन जाती हैं जो नवीन पेशीतन्तुओं को रक्त पहुँचाती हैं। किन्तु कुछ समय पश्चात् यह नवीन रक्तवाहिनियों का बनना बन्द

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हो जाता है और इस कारण हृदय को कम पोषण पहुँचता है। पोषण की कमी से पेशियाँ दुर्बल होने लगती हैं। ज्यों-ज्यों हृदय प्रबल प्रकुंचन का प्रयत्न करता है त्यों-त्यों पेशियों का प्रसार होता जाता है। अन्त में हृदय प्रसरित (dilatation) हो जाता है। हृदय का आकार तो बढ़ जाता है किन्तु उसकी पेशी-निर्मित भित्तियाँ पतली पड़ जाती हैं। वे अपना कर्म पूरा नहीं कर सकतीं। रक्त को पूर्ववत् शरीर में नहीं भेज पातीं। उनका संकोच दुर्बल होता है। प्रत्येक प्रकुंचन में हृदय का सब रक्त उससे बाहर नहीं निकलता कुछ हृदय में भरा रह जाता है। धीरे-धीरे यह दशा इतनी बढ़ जाती है कि हृदय में दोनों ओर रक्त भरा रहता है। हृदय का प्रसार बढ़ता जाता है और अन्त में अक्षमता (Failure of compensation) के लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

२. मस्तिष्क पर प्रभाव—यदि धमनी काठिन्य मस्तिष्क की किसी धमनी में हुआ है तो उसके फट जाने का डर रहता है। अथवा उसमें घनास्रता हो सकती है। रक्त जमकर उसका मार्ग बन्द कर सकता है जिससे मस्तिष्क का एक क्षेत्र रक्त से वंचित हो जाता है। धमनी के फट जाने पर रक्तस्राव होने से भी यही परिणाम होता है। इससे वह दशा होती है जिसको संस्तंभ (Parnalysis) कहते हैं। इसको फ़ालिज गिरना या लक़वा भी कहा जाता है। मस्तिष्क के जिस क्षेत्र का रक्तस्राव या घनास्रता से रक्तसंचार बन्द हो जाता है उससे संबंधित अंग अकर्मण्य हो जाते हैं। पक्षाघात हो सकता है। जिह्वा का संस्तंभ हो सकता है जिससे वाक्शक्ति नष्ट हो जाती है। किसी एक अंग का संस्तंभ हो सकता है। पक्षाघात में मुख के एक ओर और शरीर के दूसरे अंग का संस्तंभ होता है।

यह दशा धीरे-धीरे ठीक हो सकती है। किन्तु पूर्ववत् होते बहुत कम देखा गया है। यदि रक्तस्राव या घनास्रता मस्तिष्क के किसी ऐसे भाग में हुई है जहाँ मार्मिक केन्द्र स्थित है और वहाँ रक्त पहुँचना बन्द हो जाता है तो कुछ घंटों ही में मृत्यु हो सकती है।

३. वृक्क पर प्रभाव—वृक्कों का काम शरीर के निकृष्ट पदार्थों को जो

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उसके लिये अनुपयोगी हैं या जिनसे शरीर को हानि पहुँच सकती है बाहर निकालना है। शरीर में जो अनेकों रासायनिक क्रियायें प्रति क्षण होती रहती हैं उनसे बहुत प्रकार के निकृष्ट पदार्थ बन जाते हैं। शरीर के स्वास्थ्य के लिये ये हानिकारक होते हैं। इनको रक्त वृक्क के पास ले जाता है और वृक्क की कोशिकायें उनको रक्त से पृथक कर लेती हैं तथा उनको जल के साथ मूत्र के रूप में शरीर से निकाल देती हैं। इस प्रकार वृक्क द्वारा सदा शरीर की शुद्धि होती रहती है।

जब अतिरक्तदाब से वृक्कों की धमनिकाओं और केशिकाओं में काठिन्य हो जाता है तो वहाँ रक्तसंचार में बाधा उत्पन्न हो जाती है और वृक्क-कोशिका अपना काम दक्षता से नहीं कर पाती है। शरीर की शुद्धि का सारा काम ही अस्त-व्यस्त हो जाता है और विषत्याग पूर्ण न होने से शरीर में विषसंचय होने लगता है। यूरीमिया (Uraemia) ऐसी ही भयंकर दशा है। यदि समय से उसकी उपयुक्त चिकित्सा नहीं हो सकी तो वह प्रायः घातक होती है।

अतिरक्तदाब की चिकित्सा में उपयोगी औषधियाँ

गत २० वर्ष में इस रोग की कितनी ही उपयोगी औषधियाँ निकल आई हैं। गत सत्तर या पचहत्तर वर्ष से नाइट्राइट या नाइट्रेट योगों ही का प्रयोग किया जाता था। इनसे धमनिकाओं का संकोच दूर होता है, उनका प्रसार हो जाता है। इस कारण धमनियों में जिन दशाओं में ऐंठन (Spasm) होने लगती है उनके लिये ये योग लाभदायक हैं। किन्तु इनका प्रभाव स्थायी नहीं होता। इस कारण वे आकस्मिक आवश्यकताओं के लिये उपयोगी हैं।

जिन औषधियों का आजकल अधिक प्रयोग होता है उनमें सर्पगन्धा विशेष उपयोगी प्रमाणित हुई है। इसका राउल्फ़िया सर्पेन्टाइना (Rauwlfia serpentina) वैज्ञानिक नाम है। इसके रिसर्पीन नामक अलकलाइड का प्रयोग किया जाता है। ऐप्रिसोलीन, भिथोनियम, हाइडर्जीन, इनवर्सीन आदि ऐसे ही अन्य योग हैं जो उपयोगी प्रमाणित हुये हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सर्पगन्धा, राउल्फ़िया सर्पेन्टाइना (Rauwolfia serpentina)—यह एक अति प्राचीन औषधि है जिसका प्रयोग आयुर्वेदिक चिकित्सकों द्वारा अत्यन्त प्राचीनकाल से होता आया है। इसका वृक्ष केवल छः या ७ फुट ऊँचा होता है। इस कारण उसकी गणना बहुधा झाड़ियों में की जाती है। इसकी पत्तियाँ चिकनी होती हैं। इसमें गुलाबी या श्वेत रंग की कलियाँ लगती हैं। इसकी जड़ें लम्बी पतली और कितने ही स्थानों पर मुड़ी हुई होती हैं। इस ही से इसका नाम सर्पगन्धा पड़ा है। इसका नाम राउल्फ़िया १६वीं शताब्दी के एक वनस्पति विज्ञान के जर्मनी के प्रकाण्ड विद्वान डाक्टर लियोनार्ड राउल्फ (Leonhard Rauwolf) के सम्मान में उनही के नाम पर रखा गया है। उनकी संग्रह की हुई वनस्पतियों में सर्पगन्धा भी एक थी। वह अब भी लाइडन के विश्वविद्यालय में सुरक्षित है।

सर्पगन्धा के वृक्ष हमारे देश में पूर्वी और पश्चिमी घाटों में स्वतः उत्पन्न होते हैं। उत्तर में हिमालय की तराई में भी इसकी झाड़ियाँ होती हैं। २००० फुट के लगभग ऊँचे स्थान उसकी उत्पत्ति के लिये उपयुक्त होते हैं। अब अनेक स्थानों में इसकी खेती होने लगी है। देहरादून में इसके बड़े-बड़े फार्म लगाये गये हैं। बर्मा, लंका, जावा, अंडमन द्वीप, मलाया तथा एशिया माइनर में भी यह पौधा होता है।

सर्पगन्धा की जड़ों को कूट पीसकर उसका चूर्ण बनाकर प्रयोग किया जाता है। हमारे देश में इसका बहुत प्रयोग होता है। इसको ग्रामीण जन तक जानते हैं और अनेक रोगों में इसका उपयोग करते हैं। अपस्मार, अनिद्रा तथा उन्माद में इसका विशेष प्रयोग होता है। शिर पीड़ा तथा दृष्टि नाश, कई प्रकार के ज्वर, कीट तथा सर्पदंश, पेचिश, पतले दस्त तथा हैजे तक में देश के कुछ भागों में इसको दिया जाता है। बिहार में बच्चों को सुलाने के लिये इसका काढ़ा थोड़ी मात्रा में दिया जाता है। बंगाल और मलाबार में उन सब विषों की चिकित्सा में प्रयोग होता है जिसमें शरीर सूज जाताहै। तथा नीला पड़ जाता है। पंजाब में यह चाँदवूटी के नाम से प्रसिद्ध था। अब भी उसको अनिद्रा, चिन्ता तथा उन्माद की दशाओं में दिया जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यद्यपि सर्पगन्धा की जड़ों का चूर्ण भारतवर्ष में इतना प्रयुक्त होता था तो भी उस पर सन् १९३१ से पूर्व कोई वैज्ञानिक अन्वेषण नहीं हुये थे। पश्चिमी विद्वानों ने एक साधारण औषधि समझकर उसकी ओर ध्यान नहीं दिया था। प्रथम बार सन् १९३१ में डाक्टर सलीमुज़्ज़मा सद्दीक़ी और राफ़तहुसैन सद्दीक़ी के अन्वेषण की रिपोर्ट जर्नल आफ़ इंडियन कैमिकल सोसाइटी में प्रकाशित हुई थी। इन दोनों डाक्टरों ने बाजार में बिकने वाली सर्पगन्धा की जड़ों को लेकर उन पर देहली के आयुर्वेदिक और यूनानी तिब्बी कालेज की प्रयोगशाला में सर्पगन्धा के सक्रिय अवयवों को मालूम करने के लिये अन्वेषण किये। रासायनिक विश्लेषण द्वारा वे पाँच अलकलाइड पृथक् करने में सफल हुये। इनमें से तीन श्वेत रंग के क्रिस्टलीय चूर्ण थे और दो पीले रंग के। श्वेत रंग के अलकलाइडों को इन्होंने तिब्बी कालेज के जन्मदाता और संरक्षक हकीम अजमलखां के नाम पर अजमलीन, अजमलिनीन और अजमलिसीन नाम दिया। और शेष दो पीले अलकलाइडों को सर्पेन्टीन और सर्पेन्टिनीन के नाम से पुकारा। इन पांचों अलकलाइडों से मेढकों पर प्रयोग किये गये। किन्तु उनके परिणाम आशातीत न हुये। जैसा सम्पूर्ण जड़ के चूर्ण का प्रभाव होता है वैसा न हुआ। इसी समय डाक्टर गणनाथ सेन और कार्त्तिक चन्द्रबोस ने भी कलकत्ते के स्कूल आफ़ ट्रौपिकल मेडीसिन में अन्वेषण करके अपने अन्वेषण संबंधी लेख प्रकाशित किये। उन्होंने दो अलकलाइडों के पृथक करने का उल्लेख किया और कुछ रेजिन और श्वेतसार भी पाये गये जो क्रियाशील नहीं पाये गये। किन्तु दोनों अलकलाइडों के प्रयोग से अतिरक्तदाब कम होता था। उनका प्रयोग उन्माद और निद्रा नाश के लिये उपयोगी प्रमाणित हुआ। उन्माद के संबंध में उन्होंने लिखा कि 'उन्होंने केवल उस प्रकार के उन्माद में उसको उपयोगी पाया जिनमें भाग दौड़ या मारपीट की प्रवृत्ति होती है, सब प्रकार के उन्मादों में नहीं'। जड़ के चूर्ण के २० से ३० ग्रेन दिन में दो बार देने से एक सप्ताह में रक्त-दाब कम हो जाता है और रोगी को नींद आने लगती है। शिर दर्द और निद्रा-नाश शीघ्र ही जाते रहते हैं। रक्तदाब २०० से एक सप्ताह के भीतर घट कर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१६० या १५० रह जाता है। ३ वर्ष तक कई सौ रोगियों में सर्पगन्धा की जड़ों के चूर्ण के प्रयोग के अनुभव के पश्चात् हमने यह पाया कि रक्तदाब में धीरे-धीरे निश्चित कमी होती है। चिकित्सा के लिये इस औषधि का थोड़ी मात्रा में अधिक समय तक प्रयोग आवश्यक है।'

इसके पश्चात् ही अनेक स्थानों में अन्वेषण कार्य प्रारंभ हुआ। पैरिस, लाइडन तथा बाल्टीमोर में रैमंड और हैमट, वान इटाली, स्टीन हावर तथा जौजेफ़ कीफ़ी ने विदेशों में अन्वेषण किये। हमारे देश में सर रामनाथ चोपरा के नेतृत्व में स्वयं सरकार ने कलकत्ते के स्कूल आफ़ ट्रौपिकल मेडीसिन में अन्वेषण की योजना की और कितने ही विद्वानों के सहयोग से कार्य प्रारंभ हुआ। इनकी पहली रिपोर्ट निकली जिसमें उन्होंने लिखा कि 'सर्पगन्धा में रक्तदाब को कम करने की अद्भुत शक्ति है तथा वह शामक (Sedative) है'। उन्होंने भी उन अलकलाइडों को पृथक् किया जिनको सद्दीकियों ने पहिले निकाला था।

किन्तु किसी भी अलकलाइड का वैसा प्रभाव न था जैसा सम्पूर्ण जड़ के चूर्ण में था। अतएव सन् १९४१ में सर रामनाथ चोपरा ने लिखा कि 'सर्पगन्धा में कोई और भी क्रियाशील अवयव है जिसका अभी पता नहीं लगा है'। इस समय तक देश में सर्पगन्धा का प्रयोग बहुत बढ़ गया था। कम से कम दस लाख रोगी इस औषधि का प्रयोग कर रहे थे। निस्सन्देह ही उससे उनको लाभ हुआ था। सर्पगन्धा की जड़ के चूर्ण की लाखों टिकिया बाज़ार में बिक रही थी। लखनऊ मेडीकल कालेज के प्रोफेसर डाक्टर वीरभान भाटिया ने अपने लेख में लिखा कि 'मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि अतिरक्तदाब की चिकित्सा के लिये जितनी भी औषधियाँ हमारे पास हैं, सर्पगन्धा उन सबसे श्रेष्ठ है।' अतिरक्तदाब के लक्षणों शिर पीड़ा, चक्कर आना, जी मिचलाना, निद्रानाश, दुर्बलता, जी घबराना, धड़कन आदि सब शीघ्र ही शान्त होते हैं। सन् १९४० में बम्बई के किंग एडवर्ड मेमोरियल अस्पताल के प्रधान चिकित्सक डाक्टर रुस्तमजाल वकील ने अपने लेख में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लिखा कि 'मैंने अतिरक्तदाब की चिकित्सा में सर्पगन्धा को सर्वोत्तम पाया'। डाक्टर जाल ने देश भर के ५० प्रमुख चिकित्सकों के पास एक प्रश्नावली भेजी जिसमें अतिरक्तदाब की सर्वोत्तम औषधि के बारे में उनकी राय माँगी। पचास में से ४६ ने सर्पगन्धा के लिये अपना मत भेजा।

किन्तु तो भी सर्पगन्धा का 'अज्ञात अवयव' जो जड़ के चूर्ण का कारण था अभी तक नहीं मालूम हो सका था। जो चूर्ण की गोलियां बनाई जाती थीं उनका प्रभाव एक समान नहीं होता था। किसी बार की गोलियों से शीघ्र लाभ होता था किसी से कम या अधिक समय में होता था। इससे प्रकट था कि कई बार की बनी हुई औषधि की शक्ति में भिन्नता थी। इससे चिकित्सक औषधि के प्रभाव पर विश्वास नहीं कर सकता था।

अतएव सर्पगन्धा के 'अज्ञात क्रियाशील अवयव' की खोज़ पर विशेष ध्यान दिया गया। सन् १९४४ तक कलकत्ते के अन्वेषकों ने अलकलाइडों को पृथक करने के पश्चात् जो रेज़िन बच जाती थी उस ही में इस अवयव को उपस्थित पाया। किन्तु उसको पृथक न किया जा सका। इसका कारण उन उपकरणों की कमी थी जो इस वस्तु के विश्लेषण के लिये आवश्यक थे। उस समय देश में साधनों की अत्यन्त न्यूनता थी। विदेश से उपकरण नहीं आ रहे थे। इस कारण अन्वेषण में प्रगति न हो सकी।

इसके आगे का श्रेय सीवा लैबोरेटरीज़ के अन्वेषकों, डाक्टर श्लिटर, डाक्टर मुलर और डाक्टर बेन को है जिनके अद्भुत अन्वेषणों से सन् १९५२ के सितम्बर मास में अलकलाइडों को पृथक करने के पश्चात् बची हुई रेज़िन में 'अज्ञात क्रियाशील अवयव' पाया गया। इसको रिसर्पीन (reserpine) नाम दिया गया। इसमें वे सब प्रभाव पाये गये जो जड़ के चूर्ण में थे। कुछ ही समय पश्चात् डाक्टर बेन ने दूसरा लेख प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने लिखा कि रिसर्पीन केवल प्रयोगशाला के जन्तुओं में शामक पाई गई, उससे रक्त-दाब में भी कमी हुई'। 'रिसर्पीन का शामक प्रभाव धीरे-धीरे होता है और रक्त-दाब में न्यूनता भी धीमी गति से होती है।' इस कारण औषधि को दीर्घकाल तक प्रयोग करना

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होता है। इसकी मात्रा भी बहुत कम है। १·० मिलीग्राम प्रति किलोग्राम शरीर भार मुँह से खाने के लिये या ०·१ मि. ग्राम के हिसाब से इन्जेक्शन द्वारा दी जाती है।

रिसर्पीन को वुडवर्ड और उसके सहयोगियों ने सन् १९५६ में प्रयोगशाला में कृत्रिम प्रकार से तैयार किया। इसी को सर्पगन्धा का विशिष्ट सक्रिय अवयव पाया गया। इसके १ मि. ग्रा. प्रति कि. ग्रा. को प्रति दिन, ५ दिन तक खिलाने से जन्तुओं में उसका प्रभाव प्रकट हो जाता है। अन्य अलकलाइडों के ३ मि. ग्राम से भी इतना प्रभाव नहीं होता। रिसर्पीन भी एक ऐस्टर-अलकलाइड है। यह कई नामों से बाज़ार में बिकती है। सीबा कम्पनी का सर्पासील है। सैन्ड्रिल, सर्फिन, रिसर्पाइड और रौ-सैउ दूसरी कम्पनियों के हैं।

राउल्फ़िया की कितनी ही जातियाँ पाई गई हैं और उनमें भिन्न-भिन्न अलकलाइड पाये गये हैं।

सर्पगन्धा या राउल्फ़िया की क्रिया—सर्पगन्धा अथवा रिसर्पीन की दो विशेष क्रियायें हैं। (१) रक्त-संचरण तन्त्र पर, जिससे रक्त-दाब कम हो जाता है। (२) दूसरी क्रिया मस्तिष्क तथा नाड़ी मण्डल पर होती है जिससे मानसिक विक्षेप कम होते हैं। रोगी शान्त होता है। इस कारण इसका मानसिक रोगों में उपयोग किया जाता है। इसका वर्णन शामक औषधियों के साथ किया जायगा।

रक्त-संचरण तन्त्र—सर्पगन्धा या रिसर्पीन की क्रिया से हृदय की गति मन्द होती है (brady cardia) अर्थात् धड़कन की प्रतिमिनट संख्या कम हो जाती है। प्रान्तिक धमनिकाओं और केशिकाओं का प्रसार होता है और रक्तदाब कम हो जाता है। किन्तु लगभग तीन दिन तक औषधि के प्रयोग से यह प्रभाव होता है। अतएव इसकी क्रिया मन्दगति से होती है। विद्वानों की सम्मति में यह क्रिया हाइपोथैलेमस के द्वारा होती है जिससे आत्मग नाडी मंडल के अनुकम्पी विभाग (Sympathetic) का प्रभाव कम हो जाता है। एक विद्वान का मत है कि रिसर्पीन की क्रिया से मस्तिष्क में रक्त से सिरोटोनीन उत्पन्न हो जाता है। किन्तु इस मत का समर्थन नहीं हुआ है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रिसर्पीन की क्रिया से आमाशय रस का स्राव बढ़ जाता है। आन्त्र के अन्य भागों की भी अधिक क्रिया होने लगती है और उसकी गति बढ़ जाती है जिससे कुछ व्यक्तियों को सर्पगन्धा के प्रयोग से दस्त होने लगते हैं।

चिकित्सा में उपयोग—सर्पगन्धा तथा रिसर्पीन का विशेष उपयोग उन रोगियों में है जिनको नाड़ीमण्डलजन्य अतिरक्तदाब (Neurgenic) होता है। और वह भी बहुत अधिक नहीं होता। इसकी क्रिया धीमी होती है। इस कारण जब रक्तदाब बहुत अधिक होता है तो उसको अन्य तीव्र क्रिया करने वाली औषधियों के साथ देते हैं। प्रायः ऐप्रिसोलीन या मिवासीन के साथ देते हैं। रिसर्पीन की सर्वोत्तम क्रिया मस्तिष्कप्रभावजन्य रोग में, जब हृदय की गति भी बढ़ी होती है, होती है। वृक्क विकार के साथ तीव्र अतिरक्तदाब के रोगियों को अधिक लाभ नहीं होता। किन्तु तो भी मानसजन्य लक्षण शिर दर्द, अनिद्रा आदि को लाभ होता है। हृदय की गति कम हो जाती है और रोगी का चित्त स्थिर हो जाता है।

जब से सर्पगन्धा तथा रिसर्पीन का आविष्कार हुआ है तब से इस संबंध में सहस्रों लेख निकल चुके हैं। अनेक डाक्टरों द्वारा बहुत से विशिष्ट अस्पतालों की रिपोर्ट प्रकाशित हुई हैं। उन सबों के अनुसार रक्त-दाब के कम होने में ये औषधियाँ बहुत सफल प्रमाणित हुई हैं। दो या तीन सप्ताह के पश्चात् और किसी-किसी व्यक्ति में ४ या ५ दिन के पश्चात् ही लाभ के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। कुछ चिकित्सकों ने अन्तर्शिरीय मार्ग से देने पर चार घंटे में रक्तदाब के कम हो जाने का उल्लेख किया है।

किन्तु तीव्र अतिरक्तदाब में जब रक्तदाब अत्यधिक हो, उससे दुर्घटना का डर हो और तुरन्त रक्तदाब कम करना अभीष्ट हो वहाँ रिसर्पीन के साथ अन्य द्रुत गति से प्रभाव करने वाले योग ऐप्रिसोलीन, इनवर्सीन, हैक्सामिथोनियम आदि मिलाकर देना उचित है। रक्त-दाब कम हो जाने पर रिसर्पीन का दीर्घकाल तक प्रयोग जारी रखा जा सकता है।

विषाक्तता—इस औषधि की विषाक्तता बहुत कम है। कुछ जन्तुओं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

को कई गुना मात्रा दो तीन मास तक देने से भी कोई हानि नहीं पहुँची। कुछ रोगियों में नासिका से सूजन होकर नाक बन्द हो जाना, अतिसार, ऊँघने की सी दशा तथा शिर चकराना ये लक्षण पाये जाते हैं। औषधि का प्रयोग जारी रखने पर जाते रहते हैं। इन लक्षणों की अपेक्षा कुछ रोगियों में गाढ़े विषाद (Depression) की दशा उत्पन्न हो जाती है। यह चिन्ताजनक है। एक रोगी ने ऐसी ही दशा में आत्महत्या कर ली। कई विद्वानों ने रोगियों का उल्लेख किया है जिनमें रिसर्पीन देने से विषाद की दशा उत्पन्न हो जाती थी। यदि ऐसा हो तो औषधि का प्रयोग बन्द कर देना उचित है।

मात्रा—सर्पगन्धा की जड़ का चूर्ण २० से ३० ग्रेन दिन में दो या तीन बार दिया जाता है। इसकी टिकियां बनी हुई आती हैं। रिसर्पीन २·५ मि. ग्राम प्रति दिन दी जा सकती है। किन्तु मानसिक का ध्यान रखना चाहिये। लक्षणों के प्रगट होते ही रिसर्पीन बन्द कर देना उचित है। जब थोड़े ही समय तक तीव्र दशा के लिये रिसर्पीन प्रयोग की जाय, तो उसकी अधिक मात्रा दी जा सकती है। कुछ चिकित्सकों ने ऐसी दशा में २ से ५ मिली ग्राम तक प्रति ६ से १२ घंटे पर अन्तर्पेशीय और अन्तर्शिरीय मार्ग से औषधि देने का उल्लेख किया है।

जिनको अतिरक्तदाब की पूर्वावस्था हो, चिन्ता, भय, विषाद, कभी-कभी अनिद्रा आदि के साथ रक्तदाब की वृद्धि की प्रवृत्ति हो उनको अल्प मात्रा में औषधि बहुत समय तक प्रयोग करवाई जा सकती है। ·०५ से ·१ मि. ग्राम प्रति दिन पर्याप्त है।

एप्रिसोलीन (Apresoline)

एप्रिसोलीन—एक श्वेत या हलके पीले रंग का क्रिस्टलीय चूर्ण है। इसका हाइड्रोक्लोराइड लवण प्रयोग किया जाता है।

क्रिया—इसकी विशेष क्रिया अतिरक्तदाब में होती है। इसकी क्रिया से रक्तदाब कम हो जाता है। यह क्रिया मध्य मस्तिष्क अथवा हाइपोथैलेमस

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्वारा होती है। रक्तवाहिनियों के संकोचक संवेद वहाँ से जाने बन्द हो जाते हैं। इसके कारण ऐड्रिनेलिन तथा नोर-ऐपीनेफ्रिन की क्रिया नहीं होने पाती। फैरेन्टेसिन तथा सिरोटिनीन और एन्जियोटोनिन की क्रिया का भी इस योग द्वारा निराकरण हो जाता है।

इसकी क्रिया से अतिरक्तदाब में हृदय की परिमण्डली धमनियों (Coronary arteries) का विस्तार हो जाता है तथा वृक्क का रस-संचरण भी बढ़ जाता है। मस्तिष्क की धमनिकायें तथा केशिकायें भी विस्तृत हो जाती हैं। इन विशिष्ट क्रियाओं के कारण इसको बहुत उपयोगी पाया गया है।

चिकित्सा में उपयोग—अतिरक्तदाब में इसका प्रयोग लाभदायक सिद्ध हुआ है, किन्तु कुछ रोगियों को लाभ नहीं होता। एक विद्वान ने ७० रोगियों पर इस योग का अपना अनुभव लिखा है। ४० रोगियों का अनुशिथिलन दाब २० मि. मीटर कम हो गया। १५ में केवल १० से १५ मि. मीटर कम हुआ। दस रोगियों पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। पाँच रोगियों को औषधि सहन ही नहीं हुई। कुछ को शिर दर्द हो गया। किन्तु प्रयोग जारी रखने पर जाता रहा। कई रोगियों को जी मिचलाना और वमन होने लगे।

इसी प्रकार एक दूसरे महोदय ने अपने ५० रोगियों में से ३५ में २० मि. मीटर दाब के कम हो जाने का उल्लेख किया है। अनेक अन्वेषणकर्त्ताओं के इसी प्रकार के लेख प्रकाशित हुये हैं। उनका निष्कर्ष यह है कि यह योग अतिरक्तदाब की उत्तम औषधि है। किन्तु उसको प्रारंभिक या मृदु दशाओं में न प्रयोग करना चाहिये। दूसरे बहुत दिनों के साधारणतया उग्र रोगियों में अन्य औषधियों के साथ देने से लाभ होता है। अकेले एप्रिसोलीन से लाभ नहीं होता। तीसरे अत्युग्र दशाओं में हैक्सामिथोनियम के साथ देने से सदा लाभ होता है। रक्तदाब में तुरन्त कमी होती है।

विषाक्तता—इसके प्रयोग से शिर दर्द, जी मिचलाना, वमन, शिर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चकराना, हृदय की गति बढ़ जाना तथा धड़कन ये दशायें उत्पन्न हो सकती हैं।

मात्रा—कुछ प्रयोगकर्त्ताओं ने १०० से १४०० मिली ग्राम प्रति दिन प्रयोग करवाये हैं। अधिकतर विद्वान ५० से १५० मि. ग्राम प्रति दिन के पक्ष में हैं।

हैक्सामिथोनियम (Hexamethonium Chloride)—यह एक श्वेत रंग का क्रिस्टलीय चूर्ण होता है जो जल में घुलनशील है। यह उन योगों में से एक है जो आत्मग नाड़ीमण्डल के अनुकम्पी तथा परानुकम्पी (Sympathetic and Parasympathetic ganglia) गुच्छिकाओं में अवरोध उत्पन्न कर देते हैं (ganglion blocking agents)। उनमें होकर संवेद नाड़ी तन्तु में नहीं आ पाते। इनके आविष्कार के कुछ समय पूर्व ही पाया गया था कि कुछ रासायनिक पदार्थ नाडीतन्तु और पेशीसूत्र के संगम-स्थान (neuromuscular junction) पर अवरोध उत्पन्न करते हैं जिससे संवेद पेशी में नहीं जा पाते और पेशी ढीली पड़ जाती हैं, उनका तनाव जाता रहता है। डैकामिथोनियम ब्रोमाइड एक ऐसा ही पदार्थ पाया गया था। इसी की रासायनिक रचना में हेरफेर से हैक्सामिथोनियम क्लोराइड बनाया गया जिसका प्रभाव गुच्छिकाओं को अवरुद्ध करता है जिससे संवेद नाड़ी-पेशी संगम तक भी नहीं पहुँच पाते।

क्रिया—हैक्सामिथोनियम संकोचक संवेदों को गुच्छिकाओं ही में रोक देता है। इस कारण धमनिकाओं और केशिकाओं का विस्तार हो जाता है जिसका परिणाम रक्तदाब में ह्रास होता है। इसके अन्तर्शिरीयइंजेक्शन से प्रयोगशाला में जन्तुओं का रक्तदाब तुरन्त गिरता है। फुफ्फुस की धमनियों में भी रक्तदाब कम हो जाता है। हृदय के प्रकुंचन का वेग कम हो जाता है।

इसके अन्य प्रभाव पाचक तन्त्र पर होते हैं। लाला ग्रन्थियों में लाला रस का उद्रेचन कम हो जाता है। आमाशय रसके स्राव में भी कमी हो जाती

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। और आन्त्रगति का भी ह्रास होता है। प्रान्तिक अवरोध के कम हो जाने से रक्तदाब में कमी होती है।

चिकित्सा में प्रयोग और मात्रा—हैक्सामिथोनियम का विशेष प्रयोग अतिरक्तदाब में होता है। इसको इन्जेक्शन द्वारा तथा मुख दोनों प्रकार से दिया जा सकता है। जब रक्तदाब में अति वृद्धि हो जाती है, २५० या इससे ऊपर पहुँच जाता है और दुर्घटना की संभावना होती है और रक्तदाब को तत्काल घटाना अभीष्ट होता है तो यह औषधि शिरा द्वारा या अधस्त्वक मार्ग से दी जाती है। यह स्मरण रखना चाहिये कि रक्तदाब की उग्रता या सीमा नहीं निश्चित की जा सकती। वह प्रत्येक रोगी में भिन्न होती है। ऐसे रोगी भी देखे जाते हैं जिनमें २५० मि. मी. पर भी कोई लक्षण नहीं उत्पन्न होते। बहुतों में २० या २५ मि. मी. बढ़ने से ही शिरदर्द, बेचैनी, धड़कन, दुर्बलता आदि मालूम होने लगते हैं। इस कारण चिकित्सक को प्रत्येक रोगी की दशा का पृथक्-पृथक् विचार करना चाहिये। सामान्यतया यदि रोगी बहुत काल से अतिरक्तदाब से ग्रस्त है, प्रायः आक्रमण होते रहते हैं तो वह अधिक रक्तदाब को भी सहन कर सकता है। २५० मि. मी. भी उसको संघातक न होगा। किन्तु एक हाल ही के नये युवावस्था के रोगी में जो अतिरक्तदाब का अभ्यस्त नहीं है, २५० मि. मी. घातक प्रमाणित हो सकता है। ऐसे रोगी में रक्तदाब को तत्काल घटाना आवश्यक है। ऐसे रोगी को यह औषधि शिरा द्वारा देना उचित है। इन्जेक्शन देने से पूर्व रोगी को शैयारूढ़ करके उसके चित्त की उद्विग्नता को दूर करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

प्रथम इन्जेक्शन की मात्रा १·२५ से २·५ मिलीग्राम है। इन्जेक्शन के पश्चात् कम से कम दो तीन घंटे तक रोगी लेटा रहे। उसके पश्चात् आवश्यकतानुसार १२ घंटे के अन्तर से रोगी को ५, १२, २५, ३७ तथा ५० मि. ग्राम के इन्जेक्शन दिये जा सकते हैं। रक्तदाब के घटने के अनुसार मात्रा को निर्धारित करना चाहिये। यदि रक्तदाब बहुत घट जाय तो उसको बढ़ाने के लिये उपयुक्त औषधि देना उचित है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मुँह से खाने के लिये प्रथम मात्रा १२५ मि. ग्राम की दी जाय और दिन में यही मात्रा तीन चार बार दी जाय। रोगी की अवस्था के अनुसार मात्रा को ३००० मिलीग्राम प्रतिदिन तक बढ़ाया जा सकता है। किन्तु लक्षणों पर ध्यान रखना, आवश्यक है। हानि के लक्षण प्रकट होते ही औषधि को बन्द करके उचित उपचार करना चाहिये। रक्तदाब का अतिह्रास (बहुत कम हो जाना) ऐसी दशा है जिसके लिये सदा सावधान रहना उचित है। इसके भयानक परिणाम हो सकते हैं।

विषाक्तता—रक्तदाब के अतिह्रास से मस्तिष्क तथा हृदय की परिमण्डली धमनियों में रक्त-प्रवाह घट जाता है जिससे उनमें घनास्रता (thrombosis) उत्पन्न हो सकती है। यदि धमनियाँ पहिले ही विकारयुक्त हैं तो रक्त के जमने से घनास्र (thrombus) के उत्पन्न होने का और भी अधिक डर है। रक्तसंचार के कम होने के कारण अन्य अंगों को भी क्षति पहुँच सकती है। अतएव धमनियों के रोग से ग्रस्त व्यक्तियों में इस औषधि का प्रयोग वर्जित है। वृक्क के रोगग्रस्त होने पर भी इसका प्रयोग न करना चाहिये।

दृष्टिमान्द्य, आन्त्रगति का रुक जाना तथा मूत्रकृच्छ्र या मूत्रत्याग में कमी ये उपद्रव भी उत्पन्न हो सकते हैं।

कुछ रोगियों में एप्रिसोलीन तथा हैक्सामिथोनियम दोनों की सहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है। उनको इनसे लाभ या हानि कुछ नहीं होता।

ऐप्रिसोलीन और हैक्सामिथोनियम का मिश्रित प्रयोग—इन दोनों औषधियों का बारी-बारी से प्रयोग अधिक लाभदायक पाया गया है। इसका विशेष लाभ यह है कि उससे उपद्रवों की उत्पत्ति बहुत कम हो जाती है और सहिष्णुता भी नहीं उत्पन्न होती। कुछ समय तक एक का प्रयोग किया जाता है। उसके पश्चात् उसका प्रयोग बन्द करके दूसरे का प्रयोग होता है। इस प्रकार कुछ अन्तर देकर अभीष्ट फल-प्राप्ति तक चिकित्सा जारी रखी जाती है।

यह न भूलना चाहिये कि ये दोनों तीव्र औषधियाँ हैं। उनसे हानि की भी संभावना है। इस कारण चिकित्सक का रोगी की हानि से रक्षा प्रथम

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कर्त्तव्य है। प्रयोग करने के पूर्व रोगी की पूर्ण परीक्षा करके मालूम कर लेना चाहिये कि रोगी में कोई वैसी दशा तो उपस्थित नहीं है जिसमें इन औषधियों का प्रयोग वर्जित है। इसका निश्चय करने पर इन योगों का प्रयोग प्रारंभ किया जाय। और प्रयोग काल में निरन्तर हानि के लक्षणों के लिये सतर्क रहा जाय। यदि ऐसे लक्षण दिखाई दें तो तुरन्त उनका उपयोग बन्द करके विष के निराकरण का तत्काल आयोजन करना उचित है।

हैक्सामिथोनियम और एप्रिसोलीन ही के समान अन्य भी अनेक गंडिकावरोधक (ganglion blocking) पदार्थ बनाये गये हैं। एक तो वे सहज में तैयार हो जाते हैं। फिर उपर्युक्त योगों के विषैले प्रभावों को हटाने का अन्वेषकों का सतत प्रयत्न रहता है। ऐन्सोलाइसीन एक ऐसा ही योग है जिसका संक्षेप में यहाँ वर्णन किया जाता है।

ऐन्सोलाइसीन (Ansolysin)

इस वस्तु का रासायनिक नाम पैन्टोलीनियम ट्रार्टरेट है जिससे उसका रासायनिक संघटन मालूम होता है। यह एक श्वेत रंग का, जल में घुलनशील क्रिस्टलीय चूर्ण है।

क्रिया—इसका प्रभाव हैक्सामिथोनियम और एप्रिसोलीन की भाँति गंडिकावरोध है। इसकी क्रिया से अनुकम्पी तथा परानुकम्पी दोनों विभागों की गंडिकाओं में अवरोध उत्पन्न होता है और संकोचक संवेग आने बन्द हो जाते हैं। इसकी यह क्रिया हैक्सामिथोनियम की अपेक्षा चार गुना अधिक प्रबल कही जाती है और अधिक समय तक होती रहती है।

चिकित्सा में प्रयोग—अतिरक्तदाब की चिकित्सा में इसका प्रयोग हैक्सामिथोनियम से अधिक लाभदायक पाया गया है। इसका प्रभाव अधिक समय तक बना रहता है। उसके विषैले लक्षण भी कम होते हैं और आन्त्र से उसका शोषण भी अधिक पूर्ण होता है। कई विद्वानों ने सन् १९५४ में लिखा था कि उनकी सम्मति में ऐन्सोलाइसीन अतिरक्तदाब की अभी तक आविष्कृत औषधियों में सर्वोत्तम है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विषाक्तता—इसके विषैले लक्षण हैक्सामिथोनियम ही के समान हैं। किन्तु वे थोड़े ही रोगियों में पाये गये हैं और हलके भी होते हैं। अतएव उनका प्रतिकार भी सहज है। कुछ रोगियों में नपुंसकता उत्पन्न हो गई। दृष्टिदोष भी पाया गया। किन्तु रक्तदाब के कम हो जाने पर औषधि का प्रयोग बन्द करने या मात्रा घटा देने से ये विकार जाते रहते हैं। रिसर्पीन के साथ देने से अल्प मात्रा प्रयोग करनी पड़ती है। इस कारण दोष भी कम होते हैं।

मात्रा—इसकी १०, ४० और १०० मिलीग्राम की टिकियाँ आती हैं। तथा १० मि० ग्राम के एक सी० सी० के एम्पूल इन्जेक्शन के लिए मिलते हैं। प्रतिदैनिक खाने की मात्रा ६० से ६०० मि० ग्रा० से अधिक न होनी चाहिये।

इनवर्सीन, मेवासीन, मेकामाइलेमीन—यह अन्तिम नाम योग के रासायनिक रूप का द्योतक है। यह एक प्रकार का अमीन है जो श्वेत रंग का क्रिस्टलीय जल में घुलनशील पदार्थ है।

क्रिया—इसका रक्तदाब को घटाने का प्रभाव ऐन्सोलाइसीन की अपेक्षा तिगुना या चौगुना कहा जाता है। प्रयोगशालाओं में अन्य निद्रालु औषधियों के साथ देने से जन्तु का निद्राकाल बढ़ जाता है। इसका भी प्रभाव गंडिकावरोधन द्वारा होता है।

चिकित्सा में प्रयोग—सामान्य और तीव्र सब दशाओं में इस योग का प्रयोग किया गया है। अन्य औषधियों के साथ भी उसका प्रयोग किया गया। १ मिलीग्राम रिसर्पीन और १७ मि० ग्राम इनवर्सीन को मिलाकर देने से एक रोगियों के समूह में ९२ प्रतिशत को लाभ हुआ। ७ सप्ताह तक औषधि का प्रयोग जारी रखा गया। अन्य समूहों में भी ऐसे ही परिणाम निकले। किन्तु तो भी इस योग का पूर्ण अनुभव अभी तक नहीं प्राप्त हो सका है।

ईकोलिड, क्लोर-आइसोन्डैमीन (Ecolid, chlorisondamine)—यह भी एक श्वेत रंग का क्रिस्टलीय चूर्ण है। और उपर्युक्त योगों की भाँति

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गंडिकावरोधक है। इसकी क्रिया हैक्समिथोनियम की अपेक्षा ६ गुना और ऐन्सोलाइसीन की अपेक्षा २ गुना प्रबल है। क्रिया-काल भी अधिक है। बहुत समय तक प्रभाव बना रहता है। इसकी मात्रा कम होने से तथा उपर्युक्त कारणों से इसका प्रयोग अधिक होता है।

चिकित्सा में प्रयोग और मात्रा—सब प्रकार के अतिरक्तदाब को घटाने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। इसकी क्रिया भी गंडिकावरोधक है। पहिले थोड़ी मात्रा देते हैं। रोगी को सहन होने पर मात्रा को शनैः शनैः बढ़ाते हैं। प्रथम एक या दो दिन २५ मिलीग्राम प्रातः और सायं को भोजनोपरान्त दिये जाते हैं। रोगी में अवांछित लक्षणों के न उत्पन्न होने पर ५० से १०० मिलीग्राम तक प्रातः और सायं दिये जा सकते हैं। इससे रक्तदाब कम हो जाता है जो बहुत से रोगियों में लगभग ३० घंटे तक नहीं बढ़ता।

विषाक्तता—अन्य योगों के समान होती है। कुछ रोगियों में दृष्टि दोष तथा कोष्ठ बद्धता उत्पन्न हो जाती है। मुखपाक भी देखा गया है।

विरेट्रम (Veratrum)

यह एक वृक्ष होता है जो उत्तरी अमरीका, मैक्सिको तथा कई यूरोप के देशों में पाया जाता है। इसके सत्व का बहुत समय से प्रयोग होता रहा है। किन्तु इस पर विशेष अन्वेषण १९४२ के पश्चात् हुए हैं। इसमें कई अलकलाइड पाये गये हैं जो इस वस्तु की क्रिया का कारण होते हैं।

क्रिया—इसकी तीन विशिष्ट क्रियायें होती हैं, पेशियों पर, रक्तसञ्चारी तन्त्र पर तथा आत्मग नाडीमण्डल पर।

(१) इसकी क्रिया से रेखांकित या ऐच्छिक पेशियों का संकोच बढ़ जाता है। उनका संकोच करने का गुण या संकोचशीलता प्रबल हो जाती है और उनका शिथिलन (relaxation) कम हो जाता है। प्रथम संकोच के पश्चात् पेशी तनी ही रही जाती है (tetanus)। ढीली होकर पूर्वावस्था में आने में बहुत समय लेती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(२) दूसरी क्रिया हृदय की गति तथा रक्तदाव पर होती है। हृदय के स्पन्दन की गति कम हो जाती है। प्रति मिनट प्रकुंचनों की संख्या घट जाती है। साथ ही धमनिकाओं तथा केशिकाओं का प्रसार हो जाता है। इससे रक्तदाव में कमी होती है। इसका कारण केन्द्रीय नाडीमण्डल (Central nervous System) पर विरेट्रम का प्रभाव है। अर्थात् हृदय की गति को घटाने तथा वाहिनियों का प्रसार मस्तिष्क द्वारा होता है। विरेट्रम की क्रिया से मस्तिष्क के रक्त संचारक केन्द्रों की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। उनसे संकोचक संवेग आने कम हो जाते हैं। मस्तिष्क के केन्द्रों की क्रिया का अवनमन यह विरेट्रम की तीसरी क्रिया है।

विरेट्रम के अलकलाइडों का शरीर से त्याग मूत्र और मल द्वारा होता है।

चिकित्सा में उपयोग—विरेट्रम के अलकलाइड प्रोटोविरेट्रीन-ए और प्रोटोविरेट्रीन-बी पृथक् किये जा चुके हैं और उन ही का चिकित्सा में प्रयोग होता है। १·० से २·५ मिलीग्राम अलकलाइडों को प्रति दिन, कई मात्राओं में विभक्त करके देने से रक्तदाव कम होता है। किन्तु ऐसे रोगियों की संख्या तृतीयांश अर्थात् ३३ प्रतिशत से ऊपर नहीं पाई गई है। रिसर्पीन के साथ देना अधिक लाभदायक पाया गया है जिससे विरेट्रीन की कम मात्रा प्रयोग करनी पड़ती है। इससे उपद्रव भी कम होते हैं।

विषाक्तता—जी मिचलाना, वमन, हृद्मन्दता (bradycardia), और रक्तदाव न्यूनता विशेष दशायें हैं जो विरेट्रीन के प्रभाव से उत्पन्न हो सकती हैं। रक्तदाव की अति न्यूनता तथा हृद्मन्दता को दूर करने के लिये ऐट्रोपीन सल्फ़ेट अथवा नोरेपीनेफ्रिनको प्रयोग करना चाहिये।

हाईडर्जीन (Hydergine)

यह वस्तु अर्गट के अलकलाइडों के हाईड्रोजनीकरण (hydrogenation) से तैयार की जाती है। इस क्रिया से अर्गट के अलकलाइडों में रक्तदाव कम करने की शक्ति आ जाती है। अर्थात् एड्रनलीन के प्रभाव का निराकरण करने में वे समर्थ हो जाते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्रिया—हाइडर्जीन की क्रिया मस्तिष्क के द्वारा होती है। उसके प्रभाव से मस्तिष्क के रक्त-संचारक केन्द्रों का अवनमन होता है जिससे हृदय की स्पन्दन गति कम हो जाती है और रक्तवाहिकाओं का तनाव भी कम होता है जिससे रक्त दाब कम हो जाता है। इससे प्रान्तस्थ रक्तवाहिकाओं के प्रसार होने से अंगों में रक्तसंचार बढ़ जाता है।

चिकित्सा में प्रयोग—अतिरक्तदाब में इसका उपयोग किया जाता है। एक सी-सी की प्रथम मात्रा ही से रोगियों को लाभ प्रतीत होता है। रक्तदाब कम होने लगता है। सप्ताह में तीन इन्जेक्शन पर्याप्त होते हैं जिससे रक्तदाब नहीं बढ़ने पाता। इन्जैक्शन के आधे घंटे पूर्व से रोगी को लिटाकर तथा सान्त्वना से उसकी चिन्ता या भय को दूर करके रखना चाहिये। इन्जैक्शन के साथ प्रायः ०·५ मिलीग्राम की टिकिया भी दिन में तीन या चार बार दी जाती हैं। औषधि की मात्रा रोगी के लक्षणों पर निर्भर करती है। जितनी कम मात्रा से रोगी का रक्तदाब कम हो जाय वही उपयुक्त है। कुछ विद्वान ऐसे रोगी जिनमें वृक्कविकार भी उपस्थित हों उनके लिये इस योग को विशेष उपयोगी मानते हैं। हाइडर्जीन से रक्तदाब में अतिन्यूनता नहीं होती, वह थोड़ा ही घटता है। इस कारण इन्जैक्शनों के साथ टिकियाँ भी खिलाई जाती हैं। दीर्घकालीन प्रयोग के लिये भी टिकियाँ उपयुक्त हैं।

नाइट्राइट तथा नाइट्रेट लवण (Nitrite and Nitrates)

इन पदार्थों का बहुत काल से प्रयोग होता आ रहा है। रक्तदाब को कम करने तथा रक्तवाहिनियों के आक्षेप (spasm) को दूर करने तथा उनका प्रसार करने के लिये नवीन औषधियों के आविष्कार के पूर्व इन ही का उपयोग किया जाता था। अब भी आक्षेप को तत्काल दूर करने के लिये नाइट्राइट योगों का प्रयोग किया जाता है।

अन्वेषणों से पता चला है कि मनुष्य के रक्त के १० लाख भागों में एक भाग नाइट्रेट (व्हालिन, १९३५) और १ करोड़ में १ भाग (१० माइक्रोग्राम प्रति १०० सी-सी) नाइट्राइट लवण होते हैं (क्रान्ज और राथ १९४२)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इन अन्वेषक विद्वानों के लेखानुसार नाइट्रेट अकार्बनिक लवणों की शरीर में कोई विशेष क्रिया नहीं पाई गई है। किन्तु नाइट्राइट लवणों की धमनिकाओं की अरेखांकित पेशियों पर विशेष क्रिया होती है। उनका प्रसार होता है। रक्त में नाइट्राइट की अधिकता से धमनिकायें प्रसारित हो जाती हैं और रक्त-दाब घट जाता है।

सोडियम नाइट्राइट लवण को नव्य चिकित्सा निघण्टु में स्थान दिया गया है। यह श्वेत या हलके पीले रंग का चूर्ण होता है। यह जल को सोख लेता है।

सोडियम नाइट्राइट की क्रिया—सोडियम नाइट्राइट की विशेष क्रिया धमनिकाओं की अरेखांकित पेशियों का प्रसार करना है। शिराओं पर भी ऐसी ही क्रिया होती है। धमनिकाओं पर की क्रिया से रक्तदाब घटता है। सामान्य रक्तदाब वाले व्यक्तियों को ०·१ ग्राम सोडियम नाइट्राइट देने से ५ मिनट के भीतर रक्तदाब कम होने लगा और आधे घण्टे में प्रकुंचनी दाब १५ से २० मि० मीटर कम हो गया। उसके पश्चात् फिर बढ़ने लगा और दो घंटे में सामान्य अवस्था पर पहुँच गया। अनुशिथिलन दाब १० मि० मीटर कम हुआ। किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियों में ३० मि० मीटर कम हो गया। साथ ही हृदय की गति बढ़ गई। प्रतिमिनट नाड़ी दस से पन्द्रह बार अधिक स्पन्दन करने लगी। रक्त-संचार की पूर्ति करने की यह शरीर की प्राकृतिक योजना है।

सामान्यतया रोगियों में नाइट्राइट के प्रयोग से ३० से ३५ मि० मीटर प्रकुंचन दाब और २० से २५ मि० मीटर अनुशिथिलन दाब कम होता है। कुछ रोगियों में प्रकुंचन दाब तो कम हो जाता है। किन्तु अनुशिथिलन दाब कम नहीं होता। प्रकुंचन दाब के कम होने का कारण विशेषकर आन्त्र क्षेत्र की धमनिकाओं का प्रसार पाया गया है। मस्तिष्क की केशिकाओं तथा धमनिकाओं पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। इससे रोगी को मूर्छा के दौरे हो सकते हैं। प्रयोगशालाओं में जन्तुओं पर प्रयोग से यह पाया गया कि उनके शरीर के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भिन्न-भिन्न भागों में इन योगों का प्रभाव समान नहीं होता। किसी अंग में धमनिकाओं का प्रसार अधिक होता है किसी में कम। केशिकाजाल पर उनका प्रभाव नहीं होता।

धमनिकाओं के अतिरिक्त इन लवणों की क्रिया सब ही अनैच्छिक पेशियों पर होती है। आन्त्र-मण्डल की अरेखांकित पेशियों पर विशेषतया अधिक होती है। गर्भाशय और शिराओं की पेशियों पर भी होती है। उनका प्रसार हो जाता है। शिराओं के प्रसार से कभी कभी विशेष आपत्ति उत्पन्न हो सकती है। धमनियों तथा धमनिकाओं से रक्त खिंचकर शिराओं में एकत्र हो सकता है जिससे अवसाद (collapse) की सी दशा उत्पन्न हो जायगी। मस्तिष्कावरण की शिराओं में रक्त एकत्र हो जाने से शिरपीड़ा होने लगती है जो कभी कभी बड़ी तीव्र होती है।

विषाक्तता—इस योग की सामान्य मात्राओं के प्रयोग से कोई विशेष विषैले लक्षण नहीं उत्पन्न होते। बहुत बार शिरपीड़ा हो जाती है। रोगी को मालूम होता है जैसे शिर धमक रहा हो (throbbing)। कुछ रोगियों को शिर चकराना, नेत्रों के सामने अँधेरा छा जाना तथा मूर्छा होने के आक्रमण होते हैं। हाथों-पावों की नीलिमा (cynosis) भी पाई गई हैं। किन्तु उससे कोई विशेष हानि नहीं होती। इसका कारण रक्त में मेटहीमोग्लोबिन (methaemoglobin) बनना होता है जो सहज में ठीक हो जाता है और रक्त पूर्वावस्था में आजाता है। नाइट्राइट की इस क्रिया के कारण साइनाइड विषाक्तता (cyanide poisoning) की चिकित्सा में इसका उपयोग किया जाता है।

दोष—सोडियम नाइट्राइट योग का विशेष दोष यह है कि रोगी उसका सहिष्णु हो जाता है। कुछ दिन तक प्रयोग के पश्चात् औषधि का अभ्यस्त हो जाने के कारण उस पर प्रभाव कम होने लगता है। इस कारण कुछ समय तक रक्तदाब कम रहने के पश्चात् फिर पूर्ववत् हो जाता है। कुछ अतिरक्तदाब के रोगियों पर कोई प्रभाव नहीं होता या अत्यल्प होता है। इस कारण अनेक विद्वान् सोडियम नाइट्राइट को विश्वस्त औषधि नहीं समझते।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सोडियम नाइट्राइट एक अकार्बनिक योग है। नाइट्रेट के कार्बनिक (Organic) योग भी आते हैं। इनका प्रभाव अधिक समय तक बना रहता है। ग्लिसरिन ट्राईनाइट्रेट ($C_3 H_5 (No_3)_3$), इराइथ्रिल टैट्रानाइट्रेट ($C_4 H_6 (No_3)_4$), और मैनीटोल हैक्सानाइट्रेट ($C_6 H_8 (No_3)_6$) ऐसे ही तीन नाइट्रेट योग हैं। इसमें ग्लिसरिन ट्राईनाइट्रेट का अधिक प्रयोग किया जाता है। हृत्शूल, जिसको ऐंजाइना पैक्टोरिस (angina Pectoris) कहते हैं, उसके आक्रमण को दूर करने की यह विशिष्ट औषधि है। इससे अन्य धमनियों की भाँति परमंडली हृद्धमनी (Coronary artery) का भी प्रसार होता है।

इन नाइट्रेट योगों की क्रिया भी नाइट्राइट ही की भाँति होती है। पहले यह समझा जाता था कि ये नाइट्रेट शरीर में पहुँच कर नाइट्राइट बन जाते हैं और तब उनकी क्रिया होती है। किन्तु अन्वेषणकर्त्ताओं के प्रयोगों से यह प्रमाणित हो गया है कि ये नाइट्रेट इसी रूप में धमनिकाओं पर प्रसारक क्रिया करते हैं। इनकी मात्रा भी नाइट्राइट की अपेक्षा कम है।

मात्रा—सोडियम नाइट्राइट–३० और ६० मिलीग्राम की टिकिया। ऐराइथ्रिल ट्राईनाइट्रेट–१५ और ३० मि. ग्राम की टिकियाँ। ग्लिसरिन ट्राईनाइट्रेट ०·५ से १ मिलीग्राम की टिकियां। मैनीटोल हैक्सानाइट्रेट ६० मिलीग्राम। इन मात्राओं से रक्तदाब शीघ्र ही, (कुछ मिनटों में) कम होने लगता है और प्रायः छै घण्टे के पश्चात् फिर पूर्ववत् हो जाता है। भिन्न-भिन्न रोगियों में इस प्रभाव में भिन्नता पाई जाती है। अतएव उसी के अनुसार मात्रा फिर दी जाती है।

अतिरक्तदाब की चिकित्सा

अतिरक्तदाब की उत्पत्ति में मानसिक दशा का प्रभाव बहुत होता है। इसमें अब तनिक भी सन्देह नहीं रहा है कि मानसिक अन्तर्द्वन्द्व रोग की उत्पत्ति के विशेष कारण होते हैं, सिवाय उन रोगियों के जिनमें वृक्क के रोग पहिले से उपस्थित होते हैं। अतएव ऐसे रोगियों के मन का द्वन्द्व दूर करना प्रथम आवश्यक है। उसके बिना उनकी संतोषजनक चिकित्सा नहीं हो सकती।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उनको शान्त करने के लिये चित्त की उद्विग्नता को दूर करने तथा विश्राम देने के लिये शामक औषधियों का भी उपयोग किया जा सकता है जिसके लिये फ़िनोबार्बिटाल (३० से ६० मि. ग्राम तीन बार प्रतिदिन) का प्रयोग उपयुक्त है।

जिन व्यक्तियों को अतिरक्तदाब होने की आशंका हो अथवा जिनको थोड़ा या सामान्य अतिरक्तदाब हो, अधिक न हो उनके लिये सर्पगन्धा या रिसर्पीन उत्तम हैं। जब रक्तदाब अत्यधिक हो, उससे दुर्घटना होने की संभावना हो तो एक से अधिक योगों का मिश्रित प्रयोग किया जा सकता है। रक्तदाब कम करने वाले तथा गंडिकावरोधक दोनों प्रकार के योगों का प्रयोग उपयुक्त है। सर्पगन्धा के साथ ऐप्रेसोलीन या मिथोनियम हाइड्रोक्लोराइड दोनों के प्रयोग से उत्तम फल होता है। रक्तदाब को तुरन्त कम करना तथा उसको बढ़ने न देना दोनों क्रियायें अभीष्ट हैं। अतएव द्रुत क्रिया करने वाले योग के साथ सर्पगन्धा के प्रयोग से लाभ की पूर्ण आशा की जा सकती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अष्टम परिच्छेद

हृदय पर प्रभाव करने वाली औषधियाँ

हृदय शरीर का अत्यन्त महत्त्वशाली अंग है। उसके काम बन्द कर देने को ही मृत्यु कहा जाता है। हृदय पर शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार की अवस्थाओं का बहुत प्रभाव पड़ता है। परिश्रम करने, भागने, दौड़ने आदि क्रियाओं के समय हृदय की गति बढ़ जाती है। अनेक रोगों में, ज्वर आदि में भी हृदय को अधिक काम करना बढ़ पड़ता है। नाड़ी द्रुत गति से चलने लगती है। भय, क्रोध, चिन्ता आदि से हृदय तुरन्त प्रभावित होता है। अतिरक्तदाब और हृदय का गहरा संबंध है जैसा गत परिच्छेद में बताया जा चुका है। हृदय की परिमण्डली धमनियों का काठिन्य उसका एक कारण हो सकता है।

औषधियों का प्रभाव भी हृदय पर कई प्रकार से होता है। मस्तिष्क तथा नाडीमण्डल के द्वारा प्रभाव होता है। कुछ औषधियाँ हृदय के पेशीस्तर को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार हृदय के भिन्न-भिन्न भागों पर अलग-अलग प्रभाव हो सकता है।

हृदय की रचना तथा कार्य—यहाँ हृदय की रचना का संक्षिप्त वर्णन उसकी क्रिया की दृष्टि से किया जायगा क्योंकि औषधियों के प्रभाव का उससे घनिष्ठ संबन्ध है।

हृदय मांसपेशी का बना हुआ एक थैला है जिसमें रक्त भरा रहता है। यह तान्तव ऊतक (fibrons) निर्मित एक झिल्ली के आवरण से ढका हुआ है जो **परिहृद** (pericardium) कहलाती है। हृदय के कोष्ठ भीतर से भी एक कला से आच्छादित है जो **अन्तर्हृद** (endocardium) कहलाती है। इन दोनों के बीच में हृदय का निर्माण करने वाला मोटा पेशीस्तर है जिसको **हृत्पेशी** (myocardium) कहते हैं। मांसपेशी का गुण संकोच करने का है। वह एक बार संकोच करती है, फिर विस्तृत हो जाती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हृत्पेशी भी यही क्रिया करती है। जब हृत्पेशी संकोच करती है तो हृदय का **प्रकुञ्चन** (systole) होता है और हृदय का रक्त उससे निकलनेवाली धमनियों में चला जाता है और सारे शरीर में संचार करने के लिये अग्रसर हो जाता है। संकोच के पश्चात् हृत्पेशी का विस्तार होता है जो **अनुशिथिलन** (diastole) कहलाता है। इस समय में हृदय विस्तृत अवस्था में रहता है और शरीर में संचार करने के पश्चात् जो रक्त लौटाकर आता है वह महाशिराओं द्वारा हृदय के ऊपरी दाहिने और बांयें दोनों कोष्ठों में भरता रहता है जिनको अलिन्द (auricle) कहते हैं। नीचे के दोनों कोष्ठों को निलय (ventricles) कहा जाता है। प्रथम अलिन्द का प्रकुंचन होता है जिससे उनमें आया हुआ रक्त निलयों में चला जाता है। इस प्रकुंचन में ०·१ सेकिन्ड समय लगता है। तत्पश्चात् अलिन्दों का अनुशिथिलन प्रारम्भ हो जाता है। अलिन्दों के प्रकुंचन समाप्त होने पर निलयों का प्रकुंचन प्रारम्भ होता है जो ०·३ सेकिन्ड तक रहता है और तब उनका अनुशिथिलन प्रारम्भ हो जाता है। ०·४ सेकिन्ड तक दोनों निलयों का अनुशिथिलन रहता है। अतएव अलिन्दों और निलयों के प्रकुंचन और अनुशिथिलन दोनों में ०·८ सेकिन्ड लगते हैं अर्थात् १ मिनट में ७२ बार अलिन्द और निलयों का संकोच और विस्तार होता है। यह हृत्कार्य चक्र कहलाता है (cardiac cycle)। और १ मिनट में ७२ बार ही नाडी (pulse) चलती है क्योंकि प्रकुंचन के कारण हृदय से निकल कर धमनियों में आने वाले रक्त के रेले से उनका जो विस्तार और संकोच होता है वही नाडी है।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि हृदय में चार कोष्ठ हैं। ऊपर के दो कोष्ठ अलिन्द और नीचे के दोनों कोष्ठ निलय कहे जाते हैं। दाहिने अलिन्द में ऊर्ध्व और अधोमहाशिराओं (Superior and inferior vena cava) द्वारा शरीर में संचार करने के पश्चात् रक्त लौट कर आता है। यह अशुद्ध रक्त कहलाता है। उससे आक्सीजन ऊतकों में पृथक् हो चुकती है और कार्बन डाई आक्साइड तथा अन्य निकृष्ट पदार्थ उसमें मिल जाते हैं। यह रक्त अलिन्द में आकर, निलय द्वारा फुफ्फुसी धमनी में होता हुआ फुफ्फुसों में चला जाता

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। और वहाँ आक्सीजन से संयुक्त तथा कार्बन-डाई आक्साइड से मुक्त होकर फुप्फुसी शिराओं द्वारा हृदय के बाँये भाग को लौटता है। प्रथम बाँये अलिन्द में आता है। वहाँ से संकोच के समय बाँये निलय में जाता है। और निलय के संकोच करने पर महाधमनी में चला जाता है जहाँ से उसका सारे शरीर में वितरण होता है। और फिर शिराओं द्वारा लौट कर दाहिने अलिन्द में पहुँचता है। यही रक्त का परिसंचरण (circulation of blood) कहलाता है।

हृदय, धमनी, शिरा तथा फुप्फुस शारीरिक क्रियाओं की दृष्टि से एक ही अंग-क्रम या तन्त्र हैं। इन चारों अवयवों का प्रयोजन शरीर के प्रत्येक भाग को आक्सीजन तथा पोषण पहुँचाना है जो वहाँ की क्रियाओं के लिये अनिवार्य है। मस्तिष्क में ५ से १० सेकिन्ड तक आक्सीजन की कमी होने से अचैतन्यता हो जाती है, बेहोशी होने लगती है। यद्यपि रक्त पोषण आदि अन्य कितनी ही वस्तुओं को ऊतकों में पहुँचाता है, किन्तु आक्सीजन उन सब में मुख्य है जिस पर जीवन निर्भर करता है। हृदय और फुप्फुस का यही कर्म है। बायाँ निलय प्रति मिनट ५ लिटर शुद्ध रक्त शरीर में भेजता है जिसके द्वारा उसको ०·३३ लिटर आक्सीजन मिलती है। शरीर में होने वाली अन्य अनेकों क्रियाओं के लिये भी आक्सीजन अत्यन्त आवश्यक है। आक्सीजन के बिना वे क्रियायें नहीं हो पातीं।

हृत्पेशी की संकोचशीलता—शरीर के अन्य भागों में उपस्थित पेशी तन्तु मस्तिष्क तथा नाडीमण्डल से आने वाले संवेगों के कारण संकोच करते हैं। किन्तु हृदय की पेशी में स्वयं ही यह गुण उपस्थित है। वे तालानुसार (rhythmically) संकोच और विस्तार करती रहती हैं। हृत्पेशी के प्रत्येक तन्तु का संकोचशीलता सहज गुण है जिसके लिये वह नाड़ी सूत्रों द्वारा आने वाले संवेगों पर निर्भर नहीं करती। कुछ प्रयोगों में हृत्पेशी को कई बार और भिन्न दिशाओं में इस प्रकार काट दिया गया कि उसमें जानेवाले नाड़ी तन्तु विच्छिन्न हो गये। किन्तु हृत्पेशी फिर भी संकोच विस्तार करती रही। हृत्पेशी का एक टुकड़ा काट लिया गया और उसको

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उपयुक्त संवर्धक द्रव्य में रखा गया। हृदय से पृथक् हो जाने पर भी वह संकोच करता रहा। यह भली भाँति प्रमाणित हो गया है कि संकोच-शीलता हृत्पेशी का सहज गुण है जिसके लिये वह नाड़ीमण्डल पर नहीं निर्भर करती।

हृत्पेशी के संकोच की विशेषता—हृदय का काम रक्त को शरीर में पम्प करना है। भीतर खोखला होने से उसमें रक्त भर जाता है। जब पेशियों के संकोच से वह सिकुड़ता है तो उसमें भरा रक्त एक रेले के रूप में बाहर निकल जाता है। तब फिर नया आया हुआ रक्त हृदय के कोष्ठों में भरने लगता है और दूसरी बार के संकोच में निकलता है।

अतएव हृदय से रक्त का निकलना हृत्पेशी अर्थात् पेशी सूत्रों के संकोच पर निर्भर करता है। यह संकोच शरीर की अन्य पेशियों के संकोच से कई प्रकार से भिन्न होता है। (१) प्रथम विशिष्ट भिन्नता तो यह होती है कि हृत्पेशी सदा सम्पूर्ण संकोच करती है, अधूरा या कम संकोच नहीं कर सकती। अंग्रेजी में इसको ('All or none') 'सम्पूर्ण वा शून्य' नियम (law) कहते हैं। प्रत्येक पेशी तन्तु जितना भी संकोच कर सकता है, करता है, उससे कम नहीं। (२) दूसरे एक बार संकोच करके वह शिथिल हो जाता है। यदि पेशीतन्तु में इस शिथिलावस्था में विद्युत्-संवेग पहुँचायें तो भी पेशी संकोच नहीं करेगी। (३) आक्सीजन की कमी होने से पेशी संकोच करना बन्द कर देती है। अन्य पेशियाँ आक्सीजन-न्यूनता की दशा में भी जिसको आक्सीजन ऋण (Oxygen debt) कहते हैं, काम करती हैं, यद्यपि उतनी दक्षता से नहीं। किन्तु हृत्पेशी काम करना बिल्कुल बन्द कर देती है। संकोच करने के लिये हृत्पेशी को आक्सीजन की प्रचुर मात्रा की आवश्यकता होती है। परिमण्डली धमनियाँ आवश्यक आक्सीजन को हृत्पेशी को पहुँचाती रहती हैं। (४) चौथा स्टार्लिंग का नियम (Starling's law) कहलाता है। संकोच प्रारंभ होने के पूर्व हृत्पेशी तन्तु की जितनी अधिक लम्बाई होगी उतना ही उसका संकोच प्रबल होगा। अर्थात् प्रकुंचन से पूर्व जितना अधिक रक्त

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हृदय में भरा होगा उतना ही हृदय का प्रचुंचन अधिक प्रबल होगा और पेशी को अधिक आक्सीजन की आवश्यकता होगी। दूसरे शब्दों में लम्बे तन्तु अधिक आक्सीजन का उपयोग करते हैं और काम भी अधिक करते हैं।

इन गुणों पर औषधियों का प्रभाव बहुत कुछ निर्भर करता है।

संकोच-लहर की दिशा—दाहिने और बायें ओर के कोष्ठों के बीच एक मांसपेशी निर्मित विभाजक फलक होता है जो दोनों ओर को पूर्णतया पृथक् कर देता है। इससे दाहिनी ओर का रक्त बायी ओर के रक्त से नहीं मिलने पाता। इस विभाजक फलक में एक मांस सूत्रों की गुच्छिका होती है जो अलिन्द में स्थित अलिन्द-निलयी पर्व (Auriculo Ventricular node) से आरंभ होकर विभाजक फलक में पहुँचकर दाहिनी और बांई शाखाओं में विभक्त हो जाती है जो दाहिने और बायें निलय की भित्तियों में चली जाती हैं। निलयों के शिखर के पास पहुँचकर इस गुच्छिका के सूत्र अंतिम शाखाओं में विभक्त होकर पेशीतन्तुओं में वितीर्ण हो जाते हैं। यह हिस (bundle of his) की गुच्छिका कहलाती है।

दाहिने निलय और ऊर्ध्व महाशिरा के संगम के पास एक कोशिकापुंज है जो साइनो-अलिन्दी पर्व (Sino-auricular node) कहलाता है। हृत्संकोच की लहर यहीं से आरंभ होती है और अलिन्द के तन्तुओं में होकर अलिन्द-निलयी पर्व (auriculoventricular node) में पहुँचती है। वहाँ से लहर हिस की गुच्छिका में होती हुई निलय की भित्तियों तथा शिखर तक पहुँच जाती है और वहाँ से निलयों की अंकुरक पेशिकाओं (musculii papillares) में पहुँचती है।

इस लहर का महत्व यह है कि जब वह कहीं भी मार्ग में विच्छिन्न हो जाती है तो उससे हृदयावरोध (Heart block) की दशा उत्पन्न होती है। लहर अलिन्द से निलय में सहज क्रम में न पहुँचने के कारण दोनों के प्रकुंचन में वैषम्य आ जाता है। इस लहर से प्रकुंचन क्रिया में हृदय के भिन्न-भिन्न भागों में विद्युत् लहरें उत्पन्न होती हैं जिनका त्वचा तक प्रवाह होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इन विद्युत् लहरों से जो लेख बनता है वही इलैक्ट्रोकार्डियोग्राम (electro-cardiogram) कहलाता है।

हृदय का रक्त संभरण—हृदय के कोष्ठों के भीतर रक्त भरा रहता है। किन्तु उस रक्त से स्वयं हृदय को कोई लाभ नहीं होता। उससे वह तनिक भी पोषण या आक्सीजन नहीं ग्रहण कर सकता। उस रक्त को तो वह ईमानदार खजांची की भाँति शारीरिक साम्राज्य के उपयोग के लिये राजकीय कोष के समान धारण किये रहता है। उसको अपने उपयोग के लिये महाधमनी की परिमंडली शाखाओं (Coronary branches) द्वारा रक्त मिलता है। ये शाखायें उसके मूल के समीप ही से निकलकर हृत्पेशी के पृष्ठ पर हृदय को घेरे हुए एक मण्डल या वलय के आकार में स्थित होती हैं और उनकी शाखायें नीचे शिखर की ओर जाकर हृत्पेशियों में केशिकाजाल बना देती हैं। इनके द्वारा हृत्पेशी में रक्त पहुँचता है जो वहाँ के सूत्रों को रक्त तथा आक्सीजन पहुँचाता रहता है। इन धमनियों का आकार बड़ा है। इस कारण हृत्पेशी में रक्त भी अधिक पहुँचता है। यह अनुमान किया जाता है कि हृदय के बायें निलय से निकलने वाले रक्त का पाँचवाँ भाग (२० प्रतिशत) हृत्पेशी में चला जाता है।

पहिले कहा जा चुका है कि हृदय आक्सीजन की न्यूनता को नहीं सहन कर सकता। उसको पोषण भी बहुत चाहिये। वह प्रत्येक समय काम किया करता है। परिश्रम के समय उसका काम और भी बढ़ जाता है। उस समय आक्सीजन और पोषण दोनों की अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है। व्यायाम के समय आक्सीजन की आवश्यकता ०·२५ लिटर प्रति मिनट से बढ़ कर २·१ लिटर प्रति मिनट हो सकती है।

ऐसे समय पर परिमण्डली धमनियों का प्रसार हो जाता है और उनमें रक्त अधिक जाने लगता है। जितनी अधिक आक्सीजन की आवश्यकता होती है उतना ही प्रसार अधिक होता है। किन्तु जब धमनी काठिन्य से या अन्य कारणों से इन धमनियों का मार्ग संकुचित हो जाता है तो हृत्पेशी में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पर्याप्त रक्त नहीं पहुँच पाता। और जब अपर्याप्त रक्त मिलने पर भी हृत्पेशियों को काम करना पड़ता है तो वे दुर्बल हो जाती हैं। पहले उनकी अतिपुष्टि होती है, पश्चात् उनका प्रसार होता है जिससे सारा रक्तसंचरण विकृत हो जाता है। इससे एक विकृत चक्र (Vicious circle) बन जाता है। धमनी काठिन्य से हृत्पेशी दुर्बल होती है। उसके दुर्बल होने से पर्याप्त रक्त का संचार नहीं हो पाता। अतएव हृदय को भी पर्याप्त पोषण और आक्सीजन नहीं मिल पाते। इससे उसकी दुर्बलता और बढ़ जाती है। इस प्रकार हृद्दौर्बल्य निरन्तर बढ़ता ही जाता है। अतएव ऐसी दशा में परिमंडलीय धमनियों को प्रसारक औषधियों की आवश्यकता होती है जिनका गत परिच्छेद में वर्णन किया जा चुका है तथा आगे भी किया जायगा।

हृदय सम्बन्धी नाड़ियाँ—हृदय में मस्तिष्कीय दसवीं नाड़ी जिसका नाम वागस है उसके सूत्र आते हैं। दूसरे अनुकम्पी (Sympathetic) मण्डल की ऊर्ध्वगा, मध्यगा और निम्नगा हार्दिकी (Superior, middle and Inferior cardiac nerves) नाड़ियाँ आती हैं। इन दोनों के सूक्ष्म तन्तु हृदय के मूल के समीप फैले हुए हैं और जालिकाओं के रूप में स्थित हैं जिनसे सूक्ष्म सूत्र हृत्पेशी के तन्तुओं में चले जाते हैं।

वागस शामक नाड़ी है। उसका प्रभाव हृदय की गति को घटाने का है। यदि वागस को उत्तेजित किया जाय तो हृदय की गति मन्द होने लगती है। यहाँ तक कि अत्यधिक उत्तेजन से हृदय की क्रिया बन्द हो सकती है। वागस की क्रिया अलिन्दों पर होती है तथा अलिन्दों और निलयों के संगमों पर भी। किन्तु निलयों पर नहीं। अलिन्द की संकोच लहर को वागस कम या बन्द कर देती है। लहर वहाँ या संगम स्थान पर रुक जाती है। अलिन्द प्रसरित दशा में रह जाते हैं। संकोच की लहर वहीं समाप्त हो जाती है; निलय तक नहीं पहुँचती।

अनुकम्पी नाड़ियों का प्रभाव वागस से विरुद्ध होता है। वे हृदय को उत्तेजित करती हैं। उनकी उत्तेजना से हृदय की गति बढ़ जाती है, हृदय

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का संकोच भी प्रबल होता है और अलिन्द से निलय को उत्तेजनायें या संकोच लहरों का प्रवाह भी बढ़ जाता है। निलय पर भी प्रभाव होता है।

शरीर में इन दोनों विरोधी प्रभाओं का सन्तुलन होता रहता है। यह संतुलन का कार्य मस्तिष्क में स्थित केन्द्रों में होता है। इन केन्द्रों में शरीर के भिन्न-भिन्न भागों से संवेग आते रहते हैं। स्वयं हृदय से भी आते हैं। उनही के अनुसार हृदय की गति घटती या बढ़ती है। अथवा दोनों की क्रिया का इस प्रकार सामंजस्य हो जाता है कि हृदय के स्पन्दन की गति सामान्य दशा में रहती है। यदि बाँयें अलिन्द में रक्त की अधिक मात्रा एकत्र हो जाती है तो वहाँ से वागस के केन्द्र को संवेग जाने लगते हैं, केन्द्र का शमन हो जाता है। अतएव वागस की क्रिया कम होने पर अनुकम्पी नाड़ियों की क्रिया बढ़ जाती है और हृदय द्रुत गति से क्रिया करने लगता है जिससे अलिन्द में एकत्र हुआ रक्त शीघ्र निकल जाता है।

अ–हृत्पेशी पर क्रिया करने वाली औषधियाँ १. डिजिटेलिस (Digitalis)—डिजिटेलिस हृदय की एक विशेष औषधि है। यह एक पौधा होता है जो इग्लैंड में तथा कई अन्य देशों में स्वतः जहाँ-तहाँ उत्पन्न हो जाता है। वहाँ इसको पर्पिल फ़ौक्सग्लव या साइड फ्लावर कहते हैं जिसका अर्थ है मार्ग के आस-पास उगनेवाला फूल। इसके फूल अंगुली के आकार के लम्बे-लम्बे होते हैं अतः इसका डिजिटेलिस नाम रख दिया गया है।

इस पौधे की जानकारी तेरहवीं शताब्दी में थी और पन्द्रहवीं शताब्दी में इसका वैज्ञानिक नाम डिजिटैलिस पर्प्यूरा (Digitalis purpura) रखा गया था। किन्तु उस समय तक इसके केवल वमनकारी और श्लेष्मा (बलग़म) निकालनेवाले गुण मालूम थे। इसका हृदय पर प्रभाव उस समय तक नहीं मालूम था। इसका श्रेय विलियम विदरिंग (William withering) नामक चिकित्सक को दिया जाता है जिसने अठारहवीं शताब्दी के अन्त में इसका हृदय की चिकित्सा में प्रयोग किया और उसके प्रभाव का वर्णन किया।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

डिजिटैलिस के खोज की भी अन्य कितनी ही औषधियों के समान बड़ी रोचक कहानी है। श्रौप्शायर नामक इंग्लैण्ड के एक छोटे नगर में रहने वाले एक परिवार में डिजिटैलिस का रहस्य छिपाकर रखा गया था। सन् १७७५ में इस परिवार में एक बुढ़िया थी जिसकी सर्वाङ्ग शोथ की सफल चिकित्सा की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। विदरिंग को बताया गया कि बुढ़िया जो औषधि देती है उसमें कम से कम २० वनस्पति मिली हुई हैं और उससे वमन होता है तथा दस्त भी आते हैं। विदरिंग न केवल एक सफल चिकित्सक ही था किन्तु वनस्पति विज्ञान का भी विद्वान् था। तुरन्त उसका ध्यान फ़ौक्सग्लव पौधे की ओर गया और उसने उसकी जड़ों का चूर्ण रोगियों को प्रयोग करवाया। उससे बहुत संतोषजनक परिणाम हुये। इसके पश्चात् उसने पत्तियों का चूर्ण बनवाकर दिया। पत्तियों को उस समय एकत्र किया गया जब पौधे में फूल आये हुये थे। उसने देखा कि ऐसे समय की पत्तियाँ अधिक गुणकारी होती हैं। तत्पश्चात् पत्तियों का काढ़ा बनाकर उनका प्रयोग करवाया गया। दस वर्ष तक ऐसे प्रयोग करने के पश्चात् उसने १७८५ में डिजिटैलिस के प्रयोग के अपने अनुभवों को प्रकाशित किया। उसने लिखा कि 'इस औषधि के प्रयोग से हम हृदय की गति तथा नाड़ी के वेग को इच्छानुसार घटा-बढ़ा सकते हैं जैसा किसी दूसरी औषधि से नहीं होता। इसकी अति मात्रा के प्रयोग से जी मिचलाना तथा वमन होते हैं। इसका प्रयोग तब तक जारी रखा जाय जब तक नाड़ी, वृक्क, आमाशय या आन्त्र पर उसकी क्रिया न होने लगे। तब उसको बन्द कर दिया जाय।'

इसके पश्चात् अनेक प्रयोग हुये। डिजिटैलिस की हृदय पर क्रिया का वास्तविक रूप अध्ययन किया गया जिनसे मालूम हुआ कि डिजिटैलिस अलिन्द-निलयी-पर्व में अवरोध उत्पन्न कर देती है। अलिन्द की संकोच-लहर निलय में नहीं पहुँच पाती। इस कारण अलिन्दों में अधिक बार संकोच होने पर भी निलय में संकोचों की सामान्य गति रहती है। उनमें कोई विकार नहीं आने पाता न संख्या ही बढ़ती है, वरन् घट जाती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस समय तक डिजिटेलिस के रासायनिक सक्रिय अवयव पृथक् नहीं किये गये थे। सन् १९४० तक पत्तियों का चूर्ण ही प्रयोग किया जाता था। सन् १९४० में लेकर नामक विद्वान् ने डिजिटेलिस के मुख्य सक्रिय अवयव डिजिटौक्सिन (Digitoxin) को पृथक् किया और प्रयोगों के लिये उसकी पर्याप्त मात्रा तैयार की। इसके द्वारा प्रोफेसर गोल्ड और उनके सहकारियों ने इसकी क्रिया का पूर्ण अध्ययन किया जिससे डिजिटौक्सिन की ठीक डिजिटेलिस ही के समान क्रिया पाई गई। डिजिटौक्सिन डिजिटैलिस का एक ग्लाईकोसाइड है जिसमें डिजिटैलिस के सब गुण विद्यमान हैं। डिजिटैलिस की दूसरी जातियों (Digitalis Lanata) के पौधों में भी डिजिटौक्सिन होता है। इसके अतिरिक्त दो और भी ग्लाइकोसाइड योग होते हैं जिनको जिटेनिन और जिटोक्सिन (Gitanin, Gitoxin) कहा गया है। एक सेप्रोनीन भी पाया जाता है जिसको डिजिटोनीन (Digitonin) कहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी अवयव होते हैं जिनको डिजिन, डिजिनीन और जिटोनीन (Digin, Diginin, Getonin) का नाम दिया गया है। इनकी हृदय पर कोई क्रिया नहीं होती।

डिजिटैलिस तथा डिजिटौक्सिन की हृदय पर क्रिया—इन पदार्थों की हृदय पर तीन प्रकार से क्रियाएँ होती हैं।

१. अलिन्द से निलय को जाने वाली संकोच-लहर डिजिटैलिस की क्रिया से अवरुद्ध हो जाती है। यद्यपि यह लहर अलिन्द में उत्पन्न होती है, अलिन्द के संकोच होते रहते हैं, किन्तु वे सब लहरें निलय में नहीं पहुँच पातीं। कुछ ही पहुँचती हैं। अतएव अवरोध अपूर्ण होता है। इससे निलय के संकोचों की संख्या घट जाती है। समस्त हृत्पेशी में संकोच लहरों का जाना घट जाता है। किन्तु अलिन्द-विलयी गुच्छिका द्वारा संवहन विशेषतया अवरुद्ध होता है। संकोचों के बीच का अन्तर या संकोच-पश्चात् काल अधिक लम्बा हो जाता है।

२. डिजिटैलिस की क्रिया से निलयों के संकोच की प्रबलता बढ़ जाती

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। संकोच अधिक पूर्ण होते हैं। निलयों में उपस्थित सम्पूर्ण रक्त हृदय से निकल जाता है। इस कारण निलयों में रक्त भरता भी अधिक है और संकोच के पूर्व हृत्पेशी तन्तुओं की लम्बाई अधिक हो जाती है। अतएव स्टार्लिंग के नियम के अनुसार तन्तुओं का संकोच प्रबल और पूर्ण होता है। यह क्रिया संकोच-लहर के संवहन की न्यूनता का फल नहीं होती। वह स्वयं हृत्पेशी पर डिजिटैलिस के प्रभाव का फल होती है।

३. हृत्स्पन्दन की संख्या कम हो जाती है। जहाँ प्रति मिनट हृदय १०० या १२० बार संकोच करता था वहाँ वह केवल ७५ या ८० बार ही संकोच करता है। यह हृदय की गति को मन्द करने का प्रभाव दो प्रकार से होता है। एक तो डिजिटैलिस की सीधी हृदय पर क्रिया से और दूसरे वागस नाडी की उत्तेजना से। उसके प्रभाव से वागस का केन्द्र उत्तेजित हो जाता है। इन दोनों प्रक्रियाओं का यह परिणाम होता है कि हृदयस्पन्दन की संख्या कम हो जाती है।

डिजिटैलिस के अन्य प्रभाव—डिजिटैलिस के प्रभाव से आन्त्र के क्षेत्र की रक्तवाहिनियों का कुछ संकोच होता है। इससे रक्तदाब में थोड़ी वृद्धि हो सकती है। किन्तु स्वस्थ व्यक्ति का रक्तदाब नहीं बढ़ता। केवल जब हृदय के प्रसार होने पर रक्त दाहिने अलिन्द में भर जाता है तो डिजिटेलिस के प्रभाव से हृदय का प्रकुंचन प्रबल होने के कारण रक्तदाब बढ़ जाता है। किन्तु वह इतना नहीं बढ़ता कि उससे कोई भय हो। इस कारण डिजिटेलिस का प्रयोग बन्द करना उचित नहीं है।

डिजिटेलिस से वृक्कों की धमनियों तथा धमनिकाओं का कुछ प्रसार होता है तथा मूत्र भी अधिक बनता है। पहले डिजिटेलिस को मूत्रल ओषधि ही समझा जाता था। किन्तु यह क्रिया हृदय के प्रकुंचन के उन्नत होने का परिणाम होती है जिसके कारण वृक्क में अधिक रक्त पहुँचता है। और मूत्र निर्माण भी अधिक होता है।

डिजिटैलिस के प्रयोग से कितने ही रोगियों को जी मिचलाना और वमन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होने लगता है। कुछ विद्वानों की सम्मति में यह क्रिया नाडी मण्डल द्वारा होती है। वमन का केन्द्र वागस के केन्द्र के समीप ही स्थित है। अत एव डिजिटैलिस से वागस के केन्द्र की उत्तेजना वमन केन्द्र में भी फैल जाती है जिससे वमन होते हैं। अन्य विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं।

डिजिटैलिस का अवशोषण तथा त्याग—डिजिटैलिस तथा उसके ग्लायकोसाइड डिजिटौक्सिन का छै से आठ घण्टे में आन्त्र की श्लेष्मलकला द्वारा पूर्ण अवशोषण हो जाता है। किन्तु अन्य ग्लायकोसाइडों जिटेलीन तथा जिटौक्सिन आदि का इतना पूर्ण शोषण नहीं होता। उनका शरीर से त्याग मुख्यतया वृक्कों द्वारा मूत्र के रूप में होता है। उसके बहुत से भाग का शरीर में चयापचय होता है, उसके अणु टूटते फूटते हैं और उनके रूप में परिवर्तन होता है। उसका कुछ भाग कई विद्वानों के अनुसार १४ से २० प्रतिशत, प्रथम तीन दिन में मूत्र द्वारा शरीर त्याग करता है। किन्तु कुछ भाग ऊतकों में एकत्र हो जाता है और धीरे-धीरे शरीर से निकला करता है। एक अन्वेषण कर्ता के अनुसार एक मात्रा खिलाने पर १४ वें दिन तक ओषधि का कुछ अंश मूत्र में मिलता है। उसका अर्थ यह है कि वह शरीर में एकत्र होती रहती है और उपर्युक्त मात्रा के संग्रह होने पर उसका हृदय पर प्रभाव पड़ता है।

डिजिटैलिस की विषाक्तता—डिजिटैलिस तथा डिजिटौक्सिन की विषाक्तता के कई प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं। भिन्न-भिन्न रोगियों में भिन्न लक्षणों की प्रधानता पाई जा सकती है।

जी मिचलाना तथा **वमन** सबसे अधिक पाये जाने वाले लक्षण हैं। यदि ये लक्षण कई दिन तक बने रहें तो ओषधि को कम कर देना या कुछ दिन के लिये बन्द कर देना आवश्यक है। डिजिटैलिस या डिजिटौक्सिन का प्रयोग बहुत समय तक करना पड़ता है। रोगी पूर्णतया डिजिटैलिस के प्रभाव में होना चाहिये। इसको 'डिजिटलीकरण' (Digitalisation) कहते हैं। जी मिचलाना, वमन, शिर पीड़ा आदि मृदु विषाक्तता के लक्षण

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हैं। वे रोगी के पूर्णतया डिजिटैलिस से प्रभावित होने के सूचक हैं। अतएव इन लक्षणों के उत्पन्न होने के पश्चात् यदि वे निरन्तर बने रहें, तो औषधि की मात्रा को घटा कर देखना चाहिये कि कितनी कम से कम मात्रा के प्रयोग से रोगी पर डिजिटेलिस का प्रभाव बना रहता है और विषाक्तता के लक्षण नहीं उत्पन्न होते। इस प्रभावोत्पादक न्यूनतम मात्रा का प्रयोग जारी रखना चाहिये।

अन्य लक्षण ये हैं—पाचन विकार, मानसिक अस्थिरता, नेत्रों के सामने प्रकाश की झलक दिखाई देना, पीला-पीला दिखाई देना, उदर शूल, हाथों या मुख में चुनचुनाहट तथा नाडी शूल (Nurealgias), विशेष कर आनन में। नेत्र सम्बन्धी लक्षणों को निश्चित डिजिटैलिस विषाक्तता के लक्षण समझना चाहिये। हृदय में अतिरिक्त प्रकुञ्चन भी विषाक्तता ही का लक्षण है। यदि ये लक्षण उग्र हों तो २ से ३ ग्राम पोटास क्लोराइड प्रति चार से छः घण्टे पर देने से लाभ होता है। किन्तु यूरीमिया (Uraemia) की दशा में वह वर्जनीय है।

चिकित्सा में उपयोग—डिजिटेलिस अथवा डिजिटौक्सिन का मुख्य उपयोग उस प्रकार के हृदयावसाद में है जिसमें दाहिने भाग में रक्त भर जाता है और हृद्दौर्बल्य या प्रसार के कारण हृदय दाहिने भाग में एकत्र हुये रक्त को निकाल नहीं पाता जिससे हृदय का अवसाद होने लगता है, हृदय फेल होने लगता है। इस दशा को Congestive Heart failue कहते हैं। दाहिने कोष्ठों के पूर्णतया रिक्त न होने से रक्त शिराओं में भर जाता है। इससे अंगों की शिराओं में भी रक्त एकत्र होने लगता है। इस कारण प्रथम पाँवों तथा गुल्फ प्रान्त में ऊतकों में द्रव के एकत्र होने से सूजन दिखाई देती है। धीरे-धीरे सूजन बढ़ती जाती है। जंघा, ऊरु, उदर के निचले भाग तथा आनन पर भी सूजन आ जाती है। रोगी को श्वास लेने में कष्ट होता है। वह लेट नहीं पाता, उसको बैठे ही बैठे सोना पड़ता है।

ऐसी दशा के लिये डिजिटैलिस अत्यन्त उपयुक्त ओषधि है। डिजिटैलिस

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का ग्लायकोसाइड डिजिटौक्सिन मुँह से खाने के लिये सर्वोत्तम पाया गया है। यह पूर्णतया रासायनिक शुद्ध अवयव है। इसमें अन्य कोई अनुपयोगी अवयव मिश्रित नहीं है। इसके १-१५ मिलीग्राम के प्रयोग से हृदय प्रभावित हो जाता है। हृदय के स्पन्दन की प्रतिमिनट संख्या कम हो जाती है तथा प्रकुञ्चन अधिक प्रबल हो जाते हैं जिससे हृदय से अधिक रक्त निकलता है और शिरायें जिनमें रक्त भरा हुआ था वे भी रिक्त होती हैं। इस प्रकार सारे शरीर का रक्त संचरण उन्नत होता है। हृदय को विश्राम मिलता है। टांगों पर का शोथ भी कम होता है और रोगी को नींद आने लगती है। दशा के और उन्नत होने पर वह लेट कर सोने के योग्य हो जाता है।

इस प्रभाव के होने में छः से १० घण्टे लग जाते हैं। इस कारण उग्र हृदयावसाद में, जहाँ रोगी के हृदय को तुरन्त विश्रान्ति पहुँचाने की आवश्यकता है स्ट्रोफ़ैन्थिन-जी (Strophanthin-G) अधिक उपयोगी है। इसके ०·६ मिलीग्राम अन्तर्शिरीय मार्ग से प्रविष्ट करने के १० से ३० मिनट के भीतर हृदय को विश्राम मिल जाता है। इसके पश्चात् प्रत्येक आधे घण्टे पर ०·१ मिलीग्राम शिरा द्वारा दिया जा सकता है जब तक १·० मिलीग्राम की सम्पूर्ण मात्रा न पहुँच जाय। इसके पश्चात् रोगी को डिजिटौक्सिन का प्रयोग करवाया जा सकता है। स्ट्रोफ़ेन्थिन का प्रभाव अल्प स्थायी होता है। डिजिटौक्सिन की एक मात्रा का प्रभाव १० से १२ दिन तक रह सकता है। इस कारण स्ट्रोफ़ेन्थिन के विषाक्तता के लक्षण भी कम होते हैं। इस योग को मुँह से नहीं दिया जा सकता। शिरा द्वारा उसका इंजेक्शन ही देना होता है।

कुछ विद्वानों की सम्मति में डिजिटैलिस लेनाटा से बनाई हुई डिजोक्सिन का प्रभाव शीघ्र होता है और विषाक्तता के लक्षण भी कम होते हैं। १ से २ मिलीग्राम से हृदय पर पूर्ण प्रभाव हो जाता है। उसके पश्चात् ०·७५ मिलीग्राम मात्रा के प्रयोग से प्रभाव बना रहता है।

मात्रा—डिजिटौक्सिन की प्रभावकारी (Digitaliring dose) मात्रा ०·६ मिलीग्राम है। उसके पश्चात् ०·२ मिलीग्राम प्रति छः घंटे पर देने से

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रभाव बना रहता है। पूर्ण प्रभाव हो जाने के पश्चात् ०·१ मिलीग्राम भी पर्याप्त हो सकता है।

२. जिटेलीन—डिजिटैलिस का एक ग्लाइकोसाइड है जिसका कई बार उल्लेख किया गया है। इसका भी प्रयोग किया जाता है। द्रुत प्रभाव के लिये शिरा द्वारा इंजेक्शन से देने के लिये भी इसका योग बनाया गया है। इसके २·५ मिलीग्राम, दिन-रात में २ बार, शिरा द्वारा देने से हृदय प्रभावित हो जाता है। उसके पश्चात् ०·५ मिलीग्राम दैनिक प्रयोग करने से प्रभाव बना रहता है।

एसीलेनिड—यह डिजिटौक्सिन से बनाया गया (१९५०) है। इसकी क्रिया डिजिटौक्सिन ही के समान किन्तु उससे धीमी है। कुछ विद्वानों का कथन है कि इसके विषाक्तता के लक्षण डिजिटौक्सिन की अपेक्षा मृदु होते हैं और वे शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं। इसकी प्रभावक मात्रा १·५ से ३·० मिलीग्राम तक है जिसको थोड़ी-थोड़ी मात्राओं में विभाजित करके ४८ घण्टे में दिया जाता है। उसके पश्चात् ०·१ से ०·२ मिलीग्राम दैनिक मात्रा का प्रयोग करवाया जाता है।

हृदय की अन्य बलदायक वनस्पतियाँ

अ. स्ट्रोफैन्थन ग्रेटस नामक पौधे से स्ट्रोफेन्थिन-जी बनाई जाती है जिसका गत पृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है। इसको औविन (Ouabin) भी कहते हैं। इसकी क्रिया शीघ्र होती है। इसकी मात्रा बताई जा चुकी है।

क. अर्जीनिया मैरीटाइमा (Urginea Maritima)—इसको साधारणतया स्किल (Squill) कहते हैं। इसमें 'सिलेरिन' (Scillaren) नामक ग्लाइकोसाइड होता है और 'उर्जनिन' (Urganin) के नाम से बिकता है। इसकी क्रिया डिजिटैलिस ही के समान होती है। जो रोगी डिजिटैलिस को सहन नहीं कर सकते उनको यह ओषधि दी जाती है, यद्यपि ऐसा बहुत कम होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

च. कनवेलेरिया मैजेलिस (Convallaria Majalis)—जिसको साधारणतया कनेर कहते हैं। इसमें 'कनवेलेटौक्सिन' (Convallatoxin) ग्लाइकोसाइड होता है। इसकी भी क्रिया डिजिटैलिस ही की भाँति होती है। उससे कोई अधिक लाभ नहीं है।

त. थैवीटिया नैरीफोलिया (Thevitia Nerifolia) में 'थैविटीन' (thevitin) नामक ग्लाइकोसाइड होता है। इसका प्रभाव भी ठीक डिजिटैलिस ही का सा पाया गया है। किन्तु उससे अधिक कोई गुण नहीं पाया गया है।

२. क्विनीडीन (Quinidine)

क्विनीडीन क्विनीन के समान सिन्कोना वृक्ष की छाल का एक अलकलाइड है। क्विनीन का विशेष उपयोग मैलेरिया में किया जाता है जिसका गत पृष्ठों में वर्णन किया जा चुका है। क्विनीन की क्रिया ऐच्छिक पेशी के ऊतक पर भी होती है। क्विनीन के प्रभाव से उसकी संकोचशीलता कम हो जाती है। क्विनीडीन की क्रियायें भी क्विनीन ही की भाँति होती हैं। मैलेरिया में भी इससे लाभ होता है यद्यपि क्विनीन के समान नहीं। इसकी संकोचह्रास की क्रिया विशेषतया हृत्पेशी पर अधिक होती है।

सबसे पहिले हृदय की अतालता (Arrhythmia) की दशा में वियेना के चिकित्सक वैंकवाख् (Wenekebach) ने सन् १९१४ में इसका प्रयोग किया था। किन्तु उसने क्विनीन रोगियों को प्रयोग करवाई थी जो लाभदायक प्रमाणित हुई। उसके पश्चात् अन्वेषणों से यह पता चला कि हृदय पर प्रभाव का विशेष कारण क्विनीडीन थी। सन् १९१४ में फ्रे (Frey) नामक विद्वान् ने इस दशा की चिकित्सा में क्विनीडीन का उपयोग किया।

क्विनीडीन की क्रिया—क्विनीडीन की मुख्य क्रिया हृत्पेशी के संकोचों का अन्तर्काल बढ़ा देना है। कभी कभी यह अन्तर्काल दुगुना हो जाता है। यह अन्तर्काल वास्तव में वह काल है जिसमें पूर्व संकोच के पश्चात् हृत्पेशी विद्युत् उत्तेजना देने पर भी संकोच नहीं करती। यह उसका अननुसरण-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

काल (refractory period) कहलाता है। इस काल में बहुत वृद्धि हो जाती है।

क्विनीडीन संकोच-लहर को अथवा पेशी के संवहन गुण को भी घटा देती है तथा संकोचों की अतालता को भी दूर करती है। अलिन्द में जब अधिक संकोच होने लगते हैं जिसको Auricullor fibrillation कहते हैं, तो उनको रोकना क्विनीडीन की विशेष क्रिया है। इस दशा में ही इसका विशेष उपयोग किया जाता है। डिजिटेलिस की विशेष क्रिया निलय के हृत्पेशियों के संकोचों को घटाना है। अलिन्द के संकोचों पर उसकी क्रिया नहीं होती। क्विनिडीन की क्रिया अलिन्द की पेशी पर होती है, निलय की पेशियों पर नहीं।

क्विनिडीन अधिक मात्रा में प्रकुञ्चन को घटाती है और प्रकुञ्चन की प्रबलता को भी कम करती है।

अवशोषण और त्याग—डिजिटेलिस या डिजिटौक्सिन की भाँति क्विनीडीन का आन्त्र की श्लेष्मल कला द्वारा पूर्ण शोषण होता है। रक्त में पहुँचने पर उसका बहुत सा भाग ऊतकों में चला जाता है जहाँ उसका विभंजन होता है। यकृत् भी उसका एक बड़ा भाग लेता है। केवल पञ्चमांश से भी कम का मूत्र द्वारा शरीर से त्याग होता है।

चिकित्सा में उपयोग—क्विनीडीन का विशेष उपयोग अलिन्द के तन्तुवन (Fibrillation) और स्पन्दनात्यय (Flutter) में है। प्रथम दशा अर्थात् तन्तुवन में हृत्पेशी के तन्तुओं का पृथक्-पृथक् संकोच होने लगता है। इससे संकोचों में कोई क्रम नहीं रह जाता। उसके भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न समय पर संकोच करते हैं। संकोचों की प्रबलता भी समान नहीं होती। किसी भाग का संकोच प्रबल होता है किसी का दुर्बल। संकोचों में कोई ताल या साम्य नहीं रह जाता। इसी का नाम अतालता (Arrhythmia) है। निलय के संकोचों से भी अलिन्द के संकोचों में कोई साम्य नहीं रहता। प्रायः संकोच लहर निलय में पहुँच ही नहीं पाती। अलिन्द की भाँति निलय में भी यह दशा उत्पन्न हो सकती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दूसरी दशा स्पन्दनात्यय है जिसमें ताल नहीं विगड़ती। अलिन्द के संकोचों की संख्या बढ़ जाती है, प्रति मिनट १५० या १६० तक हो सकते हैं। किन्तु वे समानान्तर और समदिशक होते हैं। उनकी लय एक समान रहती है।

अलिन्द की इन दोनों दशाओं में क्विनीडीन की अत्युत्तम क्रिया होती है। संकोचन लहरों की उत्पत्ति कम हो जाती है, अननुसरणकाल बढ़ जाता है, लहरों का संवहन भी अवरुद्ध हो जाता है और संकोचों की संख्या घट जाती है तथा कुछ समय में अलिन्द और निलय के संकोचों में ताल स्थापित हो जाती है जिससे हृदय के कार्य की दक्षता उन्नत होती है। हृदय संकोच के समय रक्त को सम्पूर्णतया निकाल देने में समर्थ होता है। इससे रोगी को बहुत विश्राम मिलता है।

मात्रा—क्विनीडीन सल्फेट की ०·२ ग्राम की टिकिया प्रथम दिवस दो-दो घण्टे पर दी जाती हैं। यदि रोगी औषधि को सहन कर लेता है, कोई विषाक्तता के लक्षण नहीं उत्पन्न होते, तो दूसरे दिन से ०·४ ग्राम की टिकिया या कैप्सूल तीन या चार घण्टे के अन्तर से ४ या ५ वार दिये जाते हैं। तीन या चार दिन में क्विनीडिन का पूरा प्रभाव हो जाता है और रोगी स्वस्थ प्रतीत करता है। उसके पश्चात् ०·२ से ०·४ ग्राम प्रतिदिन क्विनीडीन के प्रभाव को बनाये रखने के लिये पर्याप्त है।

यदि चार दिन में हृदय की दशा नहीं उन्नत होती तो रोगी को इस औषधि से लाभ होने की सम्भावना नहीं है।

विषाक्तता—क्विनीडीन के विषाक्तता के लक्षण क्विनीन के समान होते हैं जिनका वर्णन मेलेरिया की क्विनीडीन द्वारा चिकित्सा के सम्बन्ध में किया गया है। उनके अतिरिक्त दीर्घकालिक रोगियों में अलिन्द के किसी अनुबन्ध (appendage) में जमे हुए रक्त के थक्के या घनास्र (Thrombus) के वहाँ से स्थानान्तरित होकर रक्त प्रवाह में चले जाने का डर रहता है। कुछ रोगियों में तन्तुवन की दशा का अलिन्द से निलय में प्रसार हो जाता है। इस कारण अनेक चिकित्सक डिजिटेलिस से हृदय को प्रभावान्वित करने के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पश्चात् क्विनीडीन का प्रयोग करते हैं। इससे अलिन्द से निलय का संवहन मार्ग या गुच्छिका पूर्णतया अवरुद्ध हो जाती है और संकोचों के निलय तक पहुँचने की सम्भावना नहीं रहती। अल्पकाल से जो व्यक्ति रोग ग्रस्त हों उन पर क्विनीडिन का उत्तम प्रभाव होता है। चिरकालीन रोगियों की चिकित्सा में अधिक सावधानी आवश्यक है।

३. प्रोकेनेमाइड हाइड्रोक्लोराइड (Procainamide Hydrochloride)

यह एक श्वेत रंग का क्रिस्टलीय चूर्ण है। इसका रासायनिक संघटन बहुत कुछ प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड के समान है जो केवल एक स्थानिक संवेदनाहारी है।

प्रोकेनेमाइड का विशेष उपयोग निलय की अतालता की दशा में होता है जब हृत्स्पन्दन की गति बढ़ जाती है (tachycardia)। इसकी विशेष क्रिया निलय की पेशी पर होती है। इसका प्रयोग मुंह द्वारा तथा इन्जेक्शन दोनों प्रकार से किया जाता है।

अलिन्द की अतालता तथा स्पन्दनात्यय में भी प्रोकेनेमाइड को प्रयोग किया गया है। किन्तु उसके परिणाम सन्तोषजनक नहीं हुये। उसकी विशेष क्रिया निलय की पेशी पर होती है तथा अलिन्द से निलय को जाने वाली संकोच-लहरों का भी अवरोध होता है। इस कारण उससे निलय के स्पन्दनात्यय में विशेष लाभ होता है।

प्रोकेनेमाइड ऐच्छिक पेशियों की पीड़ा को भी कम करता है। किन्तु उसके लिये औषधियों को शिरा द्वारा देना होता है या उसके स्थानिक इन्जेक्शन दिये जाते हैं।

मात्रा और प्रयोग—०·२ से १ ग्राम प्रतिदिन अन्तर्शिरीय इन्जेक्शन द्वारा दिये जा सकते हैं। इस विधि में सावधानी आवश्यक है। इन्जेक्शन धीरे धीरे दिया जाय। एक मिनट में १०० मिलीग्राम से अधिक न दिया जाय। इस प्रकार १ ग्राम देने में १० मिनट लगेंगे।

मुँह से खाने के लिये ०·२५ ग्राम के कैप्सूल प्रत्येक ४ से ६ घण्टे पर दिये जाते हैं। दो कैप्सूल तक दिये जा सकते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क. हृदय की परिमण्डली धमनियों (Coronory art.) पर प्रभाव करने वाली औषधियाँ

इस परिच्छेद के प्रारम्भ में तथा अतिरक्त-दाब के सम्बन्ध में इन धमनियों का वर्णन किया जा चुका है। ये धमनियाँ हृत्पेशी को पोषण और आक्सीजन पहुँचाती हैं। महाधमनी जहाँ हृदय से निकलती है उसी के समीप से ये शाखायें निकल कर हृदय में चली जाती हैं और उसके मूल पर एक घेरे या मण्डल के आकार में स्थित हो कर हृत्पेशी में शाखायें भेजती हैं जिनसे सूक्ष्म शाखायें निकल कर उसके प्रत्येक भाग में रक्त पहुँचाती हैं।

ये धमनियाँ हृदय का जीवन स्रोत हैं। जब भी हृदय को अधिक आक्सीजन और पोषण की आवश्यकता होती है, जैसे व्यायाम या परिश्रम के समय या जब रक्त में आक्सीजन की कमी हो जाती है (hypoxia) तो इन धमनियों का प्रसार हो जाता है और अधिक रक्त आने लगता है। यह पाया गया है कि इनके प्रसार और हृत्संकोच की गति बढ़ने से सामान्य की अपेक्षा हृत्पेशी में तीन गुणा या इससे भी अधिक रक्त पहुँच सकता है।

इन धमनियों के संकोच से भयंकर दशायें उत्पन्न हो सकती हैं। अतिरक्त दाब के सम्बन्ध में बताया जा चुका है कि धमनी काठिन्य से धमनियों तथा धमनिकाओं आदि का मार्ग संकुचित हो जाता है जिसका परिणाम अतिरक्त दाब होता है। जरावस्था में प्रायः धमनी काठिन्य होता है, जिसमें ये धमनियाँ भी आक्रान्त होती हैं। अतएव उनका मार्ग संकुचित होने पर हृत्पेशी में आवश्यकता के समय पर्याप्त रक्त नहीं पहुँच पाता। इसका दूसरा दुष्परिणाम यह होता है कि रक्त के प्रवाह की गति मन्द हो जाती है। इससे रक्त के आतंचन या जम जाने का डर रहता है। यदि परिमण्डली धमनी की किसी शाखा में रक्त जम जाता है तो हृदय के उस भाग में जिसमें वह शाखा रक्त पहुँचाती है, रक्त नहीं पहुँच पाता। इससे वहाँ के तन्तुओं की मृत्यु हो जाती है। यही Infraction कहलाता है। परिमण्डली शाखा में रक्त जम जाने को ही कौरोनकी थ्रौम्बोसिस (Coronory thrombosis)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कहते हैं। शेष हृत्पेशी गलित भाग को निकाल देने का प्रयत्न करता है। उसमें वेग से संकोच होते हैं, जिससे वक्ष में हृदय के प्रान्त में दारुण पीड़ा होती है जो हृदय शूल कहलाता है। इन धमनियों में भी विषम संकोच होते हैं जिनका अभिप्राय अवरोध को दूर करके हृत्पेशी में पर्याप्त रक्त पहुँचाना होता है। इन विषम संकोचों से, जिनको आक्षेपक (Spasm) कहते हैं, दारुण पीड़ा होती है जो हृत्प्रान्त से प्रारम्भ होकर बायें स्कंध तथा बाहु में होती हुई हाथ तक पहुंच सकती है।

इस प्रकार की तीन दशायें हैं जिनमें परिमण्डली धमनियों का प्रसार अभीष्ट होता है। इनको उरःशूल (Angina pectoris), परिमण्डली अपर्याप्तता (Coronary insuffeciency) और परिमण्डल संरोधन (coronary occlusion) कहते हैं। इनकी चिकित्सा के लिये परिमण्डली धमनियों का प्रसार आवश्यक होता है। अतएव ऐसी औषधियों की सदा से खोज होती रही है जिनकी विशेष क्रिया परिमण्डली धमनियों पर हो। यहाँ इन दशाओं का तथा धमनियों की प्रसारक औषधियों का विचार किया गया है।

उरःशूल (Angina pectoris)

इस रोग में वक्ष के ऊपरी भाग में तीव्र पीड़ा होती है और वहाँ से ग्रीवा, जबड़े के प्रान्त, स्कन्ध, बाँईं बाहु और कभी दाहिनी बाहु के अग्र पृष्ठ तथा बीच की अंगुलियों में भी फैल जाती है। कुछ रोगियों में बाहु या अग्रबाहु में पीड़ा नहीं होती। केवल सुन्न हो जाना, भारीपन या चुनचुनाहट प्रतीत होती है। कुछ रोगियों में पीड़ा वक्ष में दोनों ओर, पीछे की ओर पृष्ठवंश में तथा पीठ में फैलती प्रतीत होती है।

पीड़ा अकस्मात् प्रारम्भ होती है। कोई पूर्वाभास नहीं होता। पीड़ा इतनी दारुण होती है कि रोगी को प्रतीत होता है जैसे उसकी मृत्यु हो रही है। उसके चेहरे पर विषाद और गहरी चिन्ता प्रगट होती है। उसके मुँह से शब्द नहीं निकलता। वह नेत्र बन्द करके मुट्ठियों को दाब कर वक्ष पर रख लेता है या हाथों से वक्ष को दाबे रहता है। पीड़ा ऐसी होती है

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जैसे वक्ष दब रहा हो, चारों ओर से उसको दाबा जा रहा हो, जकड़ गया हो। काटने या चुभने के समान पीड़ा नहीं होती। पीड़ा क्षणिक होती है। प्रायः कुछ सैकिण्ड से अधिक नहीं रहती।

प्रायः पीड़ा का आक्रमण परिश्रम के पश्चात् होता है जिसमें हृदय को अधिक काम करना पड़ता है। बहुधा यह नहीं समझा जाता कि कुछ समय तक चलने में हृदय को थोड़े समय तक तीव्र परिश्रम करने की अपेक्षा अधिक काम करना पड़ता है। इस कारण रोगी उसको परिश्रम नहीं समझता।

पीड़ा का वास्तविक कारण हृत्पेशी को उसकी आवश्यकतानुसार आक्सीजन का न मिलना होता है। परिश्रम में हृत्पेशी को अधिक आक्सीजन की आवश्यकता होती है, विशेष कर जो परिश्रम अधिक समय तक निरन्तर होता रहता है। ऐसी दशा में परिमण्डली धमनी प्रसरित होकर अधिक रक्त पहुँचाती हैं। जब धमनी-काठिन्य या धमनी संरोध (Occlusion) से उनका मार्ग संकुचित हो जाने के कारण पर्याप्त रक्त नहीं पहुँच पाता और हृत्पेशी को आक्सीजन की आवश्यक मात्रा नहीं मिलती तब पीड़ा होती है। अत एव आक्सीजन की न्यूनता इस पीड़ा का कारण है। दूसरी विशेषता यह है कि परिश्रम पीड़ा की उत्पत्ति का कारण होता है, चाहे रोगी उसको न समझ पाये। परिश्रम बन्द करने पर विश्राम से पीड़ा एक से पाँच मिनट में जाती रहती है। जब रोग बढ़ जाता है तो तनिक से परिश्रम से पीड़ा का आक्रमण हो जाता है।

पीड़ा ही रोग का एक लक्षण है। पीड़ा बन्द होने पर रोगी को प्रतीत होता है जैसे उसे कोई रोग ही न हो। केवल दुर्बलता रह जाती है। परीक्षा से हृदय में कोई विकार नहीं मालूम होता। ईलैक्ट्रोकार्डियोग्राम लेना आवश्यक होता है। उससे हृदय में जो भी विकार हों उनका पता चल जाता है।

चिकित्सक को रोग पहिचानने के लिये वक्ष में पीड़ा उत्पन्न करने वाले अन्य कारणों को भी न भूलना चाहिये।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चिकित्सा—प्रत्येक रोगी जानता है कि विश्राम चिकित्सा का प्रथम साधन है। पीड़ा प्रारम्भ होते ही रोगी को जो कुछ भी वह कर रहा हो उसको बन्द कर देना चाहिये। दूसरे ऐसी औषधि की आवश्यकता है जो परिमण्डली धमनियों का प्रसार करे जिससे हृत्पेशी में अधिक रक्त पहुँचे जिससे उसको अधिक आक्सीजन मिल सके। औषधि का प्रभाव भी तत्काल होना चाहिये। पीड़ा इतनी तीव्र और दारुण होती है कि उसका तुरन्त शमन आवश्यक है।

इस रोग का प्रथम बार वर्णन हेवर्डिन नामक विद्वान ने सन् १७६८ में किया था। १८६७ में लाउडर ब्रन्टन ने इस रोग की पीड़ा को दूर करने के लिये एमिल नाइट्राइट (Amyl nitrite) का प्रयोग किया और १२७९ में एक दूसरे विद्वान् म्यूरेल ने ग्लिसरिल ट्राइनाइट्रेट द्वारा पीड़ा की सफल चिकित्सा की। यद्यपि तब से और भी औषधियाँ बन चुकी हैं तो भी इन औषधियों का महत्व कम नहीं हुआ है। पैपावरीन, थिमोफाइलिन, इफेड्रीन आदि अन्य परिमण्डली प्रसारक औषधियाँ हैं।

ग्लिसरिल ट्राईनाइट्रेट—उरःशूल की चिकित्सा में इस योग का अन्य औषधियों की अपेक्षा अधिक उपयोग होता है। नाइट्रेट लवणों का अतिरिक्त दाब के संबंध में विचार किया गया है। नाइट्रेट और नाइट्राइट लवण रक्तवाहिनियों के प्रसारक होते हैं। उनसे परिमण्डली वाहिनियों का भी प्रसार होता है। इनकी क्रिया सीधे धमनियों के मध्य स्तर में उपस्थित मांसपेशी तन्तुओं पर होती है और १ से ५ मिनट के भीतर इनका प्रभाव हो जाता है। ग्लिसरिन ट्राईनाइट्रेट की ०·३ या ०·६ मिलीग्राम की टिकियां आती हैं। रोगी को सदा इनको अपने पास रखना चाहिये। रोग के आक्रमण का तनिक भी आभास होते ही एक टिकिया मुँह में जिह्वा के नीचे रख लेनी चाहिये। बहुधा एक मिनट के भीतर ही इसका प्रभाव मालूम होने लगता है। धमनियों के प्रसार से पीड़ा शान्त होने लगती है। कुछ रोगियों में ५ मिनट तक लग जाते हैं। प्रायः टिकिया के घुलने से पूर्व ही पीड़ा शान्त हो जाती है। ऐसी दशा में टिकिया का जो भाग न घुला हो उसको मुँह में

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

से निकाल देना उचित है। कुछ रोगियों को ०·३ मिलीग्राम की टिकियों को खिलाया गया है।

इस औषधि के कोई दुष्परिणाम नहीं होते। कुछ रोगियों में शिर में पीड़ा, शिर चकराना, मूर्छा सी आना आदि लक्षण पाये गये हैं। वे प्रायः रक्तदाब के कम हो जाने का परिणाम होते हैं। औषधि को बन्द करते ही ठीक हो जाते हैं। इस कारण औषधि की पूर्ण मात्रा प्रयोग करने से कोई हानि नहीं है।

इस औषधि की टिकिया 'ट्रिनोट्रिनी' के नाम से बिकती हैं।

रोगी की मानसिक दशा की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। रोगी को आक्रमण में मृत्यु हो जाने का सदा डर बना रहता है। इस कारण उसका मानसिक पुनरुत्थापन आवश्यक है। चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि उसको आश्वासन देकर रोगी में साहस का संचार करे और उसका मानसिक दौर्बल्य दूर करे।

रोगी का चलना-फिरना पूरा बन्द करना या उसको पूर्णतया शैयारूढ़ करना आवश्यक नहीं है। साधारण परिश्रम करने से उसको न रोकना चाहिये। किन्तु परिश्रम निरन्तर न किया जाय। थोड़े परिश्रम के पश्चात् विश्राम करना उचित है। ऐसे ही कालान्तर देकर हलका काम करते रहना हानिकारक नहीं है। उससे लाभ होता है।

धूम्रपान वर्जित होना चाहिये। मद्य के थोड़े प्रयोग से हानि नहीं होती। कुछ रोगियों को शान्ति मिलती है। आतंचनरोधी (Anti-coagulants) औषधियों का प्रयोग भी आवश्यक है।

ऐमिल नाइट्राइट (Amyl Nitrite)—यह एक हलका पीले रंग का तैलीय पदार्थ है जिसकी तीव्र गन्ध असहनीय होती है। यह छोटे-छोटे कांच के ऐम्पूलों में भरा रहता है जिस पर वस्त्र की चार पाँच तह लिपटी रहती हैं।

इसके वाष्प सूँघे जाते हैं जिनके प्रभाव से धमनियों का तत्काल प्रसार

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होता है। रोग के आक्रमण के समय एक ऐम्पूल को रूमाल में लेकर अंगूठे और तर्जनी अंगुलि से दबा कर उसको तोड़ दिया जाता है और रोगी को उससे निकलने वाले बाष्प सुंघाये जाते हैं। ऐम्पूल के टूटते समय एक धड़ाका होता है। जिन्होंने पहले उसको न देखा हो वे लोग डर जाते हैं। उसके साथ ही ऐम्पूल से निकलने वाले बाष्पों द्वारा सारे कमरे में एमिलनाइट्राइट की गन्ध भर जाती है।

रोगी पर इन बाष्पों का चमत्कारी प्रभाव होता है। एक मिनट के भीतर पीड़ा शान्त होने लगती है और शीघ्र ही जाती रहती है। किन्तु उसकी असहनीय गंध और कुछ व्यक्तियों में होने वाले शिर दरद, शिर चकराना, जी मिचलाना आदि दुष्प्रभावों के कारण उसका प्रयोग परिमित है।

औक्टिल नाइट्राइट (Octyl nitrite), **औक्ट्राइट**—यह योग एमिल नाइट्राइट के संघटन के परिवर्तन से फौर्मेन, क्रान्ट और कार द्वारा १९३८ में बनाया गया था। इसकी गन्ध इतनी तीव्र और असहनीय नहीं होती। इसका बाष्प-भार भी इतना अधिक नहीं होता। एमिल नाइट्राइट की अपेक्षा केवल १८ वाँ भाग होता है। इस कारण उसको अन्य किसी बाष्पक में मिला कर सूंघा जा सकता है। उसका धमनी प्रसारक प्रभाव ऐमिल नाइट्राइट की भाँति तात्कालिक होता है। अन्वेषणों से उसको ग्लिसरिल ट्राइनाइट्रेट ही के समान क्रियाशील पाया गया है।

थियोफ़ाइलीन—यह एक श्वेत रंग का क्रिस्टली चूर्ण है जिसका स्वाद कड़ुआ होता है। थियोफ़ाइलीन, थियोब्रोमीन और केफ़ीन तीनों वस्तुयें ज़ैन्थीन (Zanthine) से बनती हैं। इस कारण उनकी क्रिया में भी साम्य है। किन्तु केफीन थियोफ़ाइलीन की अपेक्षा मस्तिष्क का अधिक उद्दीपन करती है। थियोफ़ाइलीन परिमण्डली धमनियों का केफ़ीन की अपेक्षा अधिक प्रसार करती है। इसका मूत्रल प्रभाव भी अधिक प्रबल होता है।

थियोफ़ाइलीन का एक योग ऐमिनोफ़ाइलीन (Aminophylline) है जो थियोफ़ाइलीन और इथाइलीनेडियामीन मिला कर बनाया जाता है। इस योग का अधिक प्रयोग होता है। इसके और भी कई योग बने हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

थियोफ़ाइलीन का परिमण्डली धमनियों पर प्रसारक प्रभाव प्रयोगशालाओं में किये गये प्रयोगों और रोगियों में अनुभव द्वारा प्रमाणित हो चुका है और हृद्रोग की चिकित्सा में उसका तथा उसके योगों का विशेष स्थान बन गया है, विशेषकर ऐमिनोफ़ाइलीन का। इन योगों का अवशोषण आन्त्र की श्लेष्मल कला द्वारा होता है। किन्तु अनेक रोगियों में इन योगों से पाचन विकार उत्पन्न हो जाते हैं। उदरशूल तथा अतिसार भी हो जाते हैं। इस कारण औषधि का प्रयोग सीमित करना पड़ता है। अतिसार के कारण औषधि के अवशोषण का भी निश्चय नहीं हो सकता। इन हानिकर प्रभावों को दूर करने के लिये सन् १९४७ में क्राज़ और उसके सहयोगियों ने थियोफ़ाइलीन और सोडियम ग्लाइसिनेट मिलाकर एक योग तैयार किया जिसको 'थियोग्लाइसिनेट' का नाम दिया गया। इसको २ ग्राम प्रतिदिन देने पर भी पाचन विकार नहीं होते। इस योग की अभी और परीक्षा होनी शेष है। तो भी हृद्रोग में इस योग के प्रयोग की विश्वास के साथ सलाह दी जा सकती है।

मात्रा—ऐमिनोफ़ाइलीन (जिसमें थियोफ़ाइलीन का $\frac{४}{५}$ भाग होता है) की ०·२ ग्राम की टिकियाँ दिन में तीन या ४ बार दी जाती हैं। उग्र दशा में तत्काल प्रभाव के लिये अन्तर्शिरीय या अन्तर्पेशीय इञ्जेक्शन के लिये भी योग बनाये गये हैं।

पापावेरिन हाइड्रोक्लोराइड—यह मार्फीन के समान अफ़ीम के एक अलकलाइड पापावरीन का योग है, यद्यपि रासायनिक संघटन तथा प्रभाव में वह मारफीन से बिल्कुल भिन्न है।

प्रयोगशालाओं में जन्तुओं पर किये गये प्रयोगों में इस योग को परिमण्डली धमनी का प्रबल प्रसारक पाया गया है। कुछ विद्वानों ने इस श्रेणी की औषधियों में इसको प्रथम स्थान दिया है। किन्तु अन्य विद्वानों को चिकित्सा में इतने सफल परिणाम नहीं मिले हैं। इसके हानिकारक प्रभाव कम होते हैं। संतोषजनक लाभ होने की संभावना है। अतएव इस योग के पूर्ण अनुसंधान और चिकित्सानुभव आपेक्षिक हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मात्रा—इसकी वैधानिक मात्रा ०·१ ग्राम दिन में तीन या ४ बार है। किन्तु ०·२ ग्राम चार बार प्रति दिन खिलाने से एक चिकित्सक ने ७५ प्रतिशत रोगियों में लाभ रिपोर्ट किया है। किन्तु यह विवादास्पद है।

एथावरीन (Ethaverine)—यह पापावरीन का इथाइल योग है और क्रिया तथा प्रभाव में पापावरीन ही के समान है। किन्तु उससे अधिक चिरस्थायी है। इसकी विषाक्तता पापावरीन से तृतीयांश है। इसके प्रयोग से परिमण्डली धमनियों का पापावरीन ही के समान प्रसार होता है, उससे अधिक नहीं। पापावरीन के समान इसके प्रयोग से प्रयोगशालाओं के जन्तुओं में उत्तम परिणाम हुये हैं। किन्तु चिकित्सा में इतने संतोषजनक फल नहीं मिले हैं।

पैण्टाइराइथ्रिटोल टैट्रानाइट्रेट (Pentaerythritot tetranitrate)—यह योग चिकित्सा क्षेत्र में हाल ही में आया है। किन्तु इसका प्रयोग बहुत होने लगा है। इसको पैरीट्रेटे (Peritrate) भी कहते हैं। इसका प्रभाव ग्लिसरिल टैट्रानाइट्रेट के लगभग तृतीयांश है। परिमण्डली धमनियों के प्रसार में समय भी कहीं अधिक लगता है और होता भी थोड़ा ही है। किन्तु उरःशूल के आक्रमणों को रोकने में इसको बहुत उपयोगी पाया गया है। इसके दैनिक प्रयोग करने पर हृत्शूल के आक्रमण के निवारण के लिये ग्लिसरिल टेट्रानाइट्रेट की थोड़ी मात्रा प्रयोग करनी पड़ती है। हृत्पेशी में परिवर्त्तन भी कम ही होते हैं। इसलिये आजकल पैरीट्रेट की १० मिलीग्राम की एक से दो टिकियाँ तक दिन में ३ वा ४ बार खिलाई जाती हैं और आक्रमण होने पर पीड़ा को दूर करने के लिये ट्रिनीट्रिनी का प्रयोग किया जाता है।

ट्राईएथानोलेमीन ट्राईनाइट्रेट (मिटामीन, नाइट्रेटामीन)—यह एक श्वेत रंग का क्रिस्टली चूर्ण है और एक उत्तम परिमण्डली प्रसारक है। अनेक अन्वेषकों द्वारा इस पदार्थ पर प्रयोग किये गये हैं। उन सबका कथन है कि इसका प्रभाव ग्लिसरिल ट्राइनाइट्रेट के समान किन्तु उसकी अपेक्षा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दीर्घकालिक है। दो विद्वानों ने इस योग को ८० प्रतिशत रोगियों में कार्यकुशल पाया। इसके प्रति सहिष्णुता भी बहुत कम रोगियों में पाई गई। इसके दुष्परिणाम शिर पीड़ा, चक्कर आना, वमन, उदर शूल तथा दिल धड़कना होते हैं।

मात्रा—२ मिलीग्राम की टिकियाँ दिन में २ या ३ बार दी जाती हैं।

खेल्लिन—ईजिप्ट में होने वाले पौदे 'अम्मी विसनाग' (Ammi visnag) का यह एक अवयव है। इसको विसम्मिन या खेल्लिन कहते हैं। जन्तुओं में इसके प्रयोग से परिमण्डली धमनियों का प्रसार होता है। चिकित्सा में इसका बहुत कम उपयोग होता है।

उरःशूल की चिकित्सा के अन्य साधन

इस दशा की चिकित्सा में नाइट्राइट तथा नाइट्रेट का प्रयोग बताया गया है। इन योगों के प्रति रोगी में सहिष्णुता उत्पन्न हो सकती है यह न भूलना चाहिये। यह सहिष्णुता अतिरक्तदाब की अपेक्षा इस रोग में अधिक भयंकर है। यहाँ इसका लक्षण या चिन्ह रोग का आक्रमण है। उससे पूर्व रोगी या चिकित्सक किसी को भी इसका अनुमान नहीं होता।

रात्रि को होने वाले आक्रमणों के निवारण में ऐमिनोफाइलिन की एक गुदवर्त्ति (Suppository) सफल हो सकती है। इससे रोगी को ५ या ६ घंटे की नींद मिल जाती है। हृदय के अवसाद की संभावना को स्मरण रखना उचित है। यदि कोई भी लक्षण प्रकट हों तो डिजिटेलिस के प्रयोग से हृदय को संभालना चाहिये।

परिमण्डली धमनियों या उनकी शाखाओं में मार्गसंरोध से रक्त का आतंचन हो सकता है। यह अत्यन्त विषम दशा है। इसको रोकने के लिये आतंचनरोधी औषधियों (Anti-coagulants) का उपयोग लाभदायक होता है। सप्ताह में हिपेरिन (Heparin) के दो बार इंजेक्शन से इस घटना को रोका जा सकता है। यद्यपि इन औषधियों की क्रिया सदा समान

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नहीं होती तो भी उनके संगत उपयोग से सफलता की आशा की जा सकती है।

मानसिक उपचार का महत्व भी बताया जा चुका है। साथ ही रोगी को आवश्यकतानुकूल अपने जीवनक्रम में परिवर्त्तन करना भी समझाना चाहिये। उसको अपने कष्टों को सहते हुये जीवन काल को विषाद रहित बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। चित्त के भाव आरोग्य लाभ में बहुत सहायता देते हैं।

अनेक रोगियों में शूल के आक्रमण वर्षों तक बन्द रहते हैं। रोग प्रारंभ के पश्चात् रोगी के ८ से १० वर्ष तक जीवित रहने की संभावना रहती है यद्यपि अनेक व्यक्ति इससे अधिक जीवित रहते हैं। हृदय में घनास्रता (Thrombosis) का बहुत डर रहता है। यदि यह घटना न घटी तो हृत्पेशी की रक्तन्यूनता धीरे-धीरे सुधर जाती है और व्यक्ति दीर्घायु तक जी सकता है।

शल्यक्रिया (Surgical) द्वारा इस रोग को ठीक करने का प्रयत्न किया गया है। ऊर्ध्व वक्ष प्रान्त में आत्मग-नाडी-तन्त्र (Antonomous nervous system) की प्रथम चार गुच्छिकाओं का उच्छेदन (Ganglionectomy) किया जाता है। इन्हीं गुच्छिकाओं द्वारा पीडोत्पादक नाडीतन्तु हृदय में जाते हैं। इन क्रियाओं से आशातीत सफलता नहीं मिल सकी है। साथ ही उनमें बहुत जोखिम भी रहती है। इस कारण चिकित्सक विद्वानों में यह पद्धति मान्य नहीं हुई है।

दूसरे प्रकार के शल्यसुलभ साधनों में हृत्पेशी में बाहिर से रक्त पहुँचाने का प्रयत्न किया गया है। वक्ष के भीतर से अन्तःस्तनी धमनी (Internal mammary art.) को हृत्पेशी में लगाया गया। वपा (Omantum) की रक्त वाहिनियों को हृत्पेशी के साथ जोड़ा गया। कुछ सफलता अवश्य हुई है। किन्तु ये कर्म या साधन अभी तक प्रमाणित नहीं हो सके हैं और इस कारण सर्वमान्य नहीं हुये हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिमण्डली संरोध तथा परिमण्डली अपर्याप्तता—(Coronory occlusion and coronory Insuffeciency) उरःशूल के संबंध में परिमण्डली धमनियों में उत्पन्न हुये संरोध का उल्लेख किया गया है। इस दशा में धमनी के भीतर का मार्ग संकुचित हो जाता है। धमनी काठिन्य (Arteriosclerosis) में धमनी के मध्यस्तर में स्थितिस्थापक तन्तुओं के नाश तथा कैलसियम के एकत्र होने से धमनी का लचकीलेपन का गुण नष्ट हो जाता है। तथा जहाँ-तहाँ कैलसियम के ढेर से बन जाने से उसका मार्ग एक समान नहीं रहता। उनके ऊपर का अन्तस्तर (Intima) भी स्निग्ध नहीं रहता। इन दोनों कारणों से रक्त प्रवाह में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

दूसरे प्रकार का संरोध धमनी के अन्त स्तर में उत्पन्न होता है जिसका कारण जहाँ-तहाँ वसा के कणों का एकत्र हो जाना है। इस दशा से रक्त-प्रवाह में पूर्व दशा की अपेक्षा भी अधिक अवरोध हो जाता है। जितनी वसा अधिक एकत्र होती है उतना ही अवरोध बढ़ता है और हृत्पेशी में कम रक्त पहुँचता है। धमनी की इस दशा को ऐथीरोस्क्लीरोसिस (Atherosclerosis) कहते हैं। इससे हृत्पेशी में रक्ताल्पता (Ischaemia) हो जाती है। इसका परिणाम हृदय की आक्सीजनन्यूनता (Hypoxia) होती है। इस कारण से हृदय में रक्त और आक्सीजन के पूर्ण मात्रा में न पहुँचने को परिमण्डली अपर्याप्तता कहा जाता है।

परिमण्डली अपर्याप्तता का प्रथम परिणाम उरःशूल बताया जा चुका है। दूसरी अधिक भयानक दशा **घनास्रता** और तीसरी दारुण दशा **हृत्पेशी गलन** जिसको मायोकार्डियल इन्फ़ार्क्शन (Myocardial infarction) कहते हैं इनका भी उल्लेख किया गया है।

घनास्रता रक्त का जमना है। परिमण्डली धमनी की किसी शाखा में रक्त जम जाता है। धमनी में संरोध के कारण रक्तप्रवाह की गति घट जाती है। रक्त धीमे-धीमे बहता है। वहाँ का रक्तदाब भी कम हो जाता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शारीरिक रक्तदाब के कम होने पर घनास्रता का और भी डर रहता है। फिर धमनी का मार्ग सरल और स्निग्ध नहीं होता। वह विषम हो जाता है। इन कारणों से रक्त के जमने के लिये उपयुक्त दशायें उत्पन्न हो जाती हैं। रक्त जमकर धमनी का मार्ग बन्द कर देता है और हृत्पेशी में रक्त पहुँचना बन्द हो जाता है। यदि यह दशा धीरे-धीरे उत्पन्न होती है तो धमनियों की नई सूक्ष्म शाखाओं के बनने और आपस में मिलकर **सम्मिलन** (Anastomosis) बना देने से हृत्पेशी में रक्त पहुँचने लगता है। समपार्श्वी रक्तसंचरण (Collateral circulation) स्थापित हो जाता है और इस प्रकार रक्त संभरण की कमी कुछ सीमा तक पूरी हो जाती है। इन नई शाखाओं के बनने और रक्त संचरण के पूरा होने में दो सप्ताह लग जाते हैं। अतएव चिरकालिक रोगियों में इसकी संभावना होती है। किन्तु उग्र दशा (Acute attack) में इसका अवसर नहीं मिलता।

हृत्पेशी की गलन घनास्रता का परिणाम होती है। जिस स्थान की पेशी में रक्त नहीं पहुँचता वहाँ के पेशीतन्तुओं की मृत्यु हो जाती है। उतना भाग चारों ओर के स्वस्थ पेशी से पृथक् हो जाता है। यह क्रिया दारुण पीड़ा जनक होती है। पीड़ा की स्थिति, क्षेत्र, वितरण उरःशूल ही के समान होते हैं। किन्तु तीव्रता और अवधि अधिक होती है। बिना किसी परिश्रम के पीड़ा का आक्रमण होना और आधे घंटे तक होते रहना गलन का सूचक हैं। प्रायः रोगी को पहले से उरःशूल के आक्रमण होते रहे हैं जो शीघ्र ही शान्त हो जाते थे। किन्तु गलन की पीड़ा, दशा की उग्रता के अनुसार घंटों तक बनी रह सकती है। यह अत्यन्त दारुण होती है। भय, चिन्ता, विषाद रोगी के मुख पर प्रकट होते हैं। श्वास लेने में कष्ट होता है। परीक्षा करने पर हृदय के शब्द मन्द सुनाई पड़ते हैं। अवसाद या स्तब्धता के लक्षण कुछ समय तक बने रहते हैं। अगले चार-पाँच दिन तक ज्वर भी रहता है। रक्त-दाब घट जाता है। रक्त की श्वेताणुगणना बढ़ जाती है और दौर्बल्य अत्यधिक होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुछ ऐसे रोगी भी मिलते हैं जिनमें घनास्रता नहीं होती। किन्तु हृत्पेशी गलन हो जाता है। ऐसे मृत व्यक्तियों में शव परीक्षा पर घनास्रता के चिन्ह नहीं मिलते।

लक्षणों में विभिन्नता भी पाई जाती है। कुछ रोगियों में पीड़ा, श्वास कष्ट तथा अन्य लक्षण उग्र न होने पर भी हृत्पेशी की गलन क्रिया विस्तृत होती है। लक्षण मृदु होते हैं। किन्तु हृदय का एक बड़ा भाग विकृत हो जाता है। कुछ रोगियों में पीड़ा गले, हनुप्रान्त या दोनों स्कन्धों के बीच में प्रतीत होती है। कितने ही रोगियों में श्वास कष्ट इतना अधिक और पीड़ा इतनी कम होती है कि उसकी ओर ध्यान ही नहीं जाता। बहुतेरे रोगियों में अतालता पाई जाती है।

ये सब दशायें परिमण्डली हृद्रोग (Coronory Heart disease) कहलाती हैं। ये परिमण्डली धमनियों में परिवर्त्तनों के कारण उत्पन्न होती हैं और हृत्पेशी में पर्याप्त रक्त न पहुँचना ही उनका विशेष हेतु होता है।

इन रोगों से ग्रस्त व्यक्तियों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। सन् १९५६ में इंग्लैंड और वेल्स में १४·३ प्रतिशत मृत्यु इन रोगों से हुई। केवल कैंसर से इनकी अपेक्षा अधिक अर्थात् १७·८ मृत्यु हुईं। श्वास-सम्बन्धी रोगों से कुल ११·५ मृत्यु हुई। हमारे देश में भी इन रोगों से ग्रस्त व्यक्तियों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है।

चिकित्सा

परिमण्डली संरोध के लिये प्रसारक औषधियों का प्रयोग किया जाता है। नाइट्राइट तथा नाइट्रेटों का गत पृष्ठों में वर्णन किया जा चुका है। इनके प्रयोग से धमनियों का तुरन्त प्रसार होता है। किन्तु रक्तदाब के कम होने पर इनसे हानि हो सकती है। उरःशूल में ग्लिसरिल ट्राईनाइट्रेट को बहुत उपयोगी पाया गया है।

हृत्पेशीगलन अत्यन्त दारुण अवस्था है। कुछ रोगियों की प्रथम आक्रमण में ही मृत्यु हो जाती है। उनकी चिकित्सा का अवसर ही नहीं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आता। प्रथम चौबीस घंटे में सबसे अधिक मृत्यु होती हैं, प्रायः तृतीयांश (३०–३३ प्रतिशत) का प्राणान्त होता है। शेष इस रोग से ग्रस्त रोगियों में से आधे प्रथम सप्ताह में शरीर त्याग देते हैं। इसके पश्चात् मृत्यु संख्या घटती जाती है। छः सप्ताह निकल जाने पर व्यक्ति के आरोग्य लाभ करने की आशा बढ़ जाती है। ज्यों-ज्यों समय निकलता है त्यों-त्यों रोगी के जीवन की संभावना अधिक होती है। प्रथम सप्ताह में २५ से ३० प्रतिशत रोगी प्राण त्याग करते हैं।

चिकित्सा की प्रथम आवश्यकता पीड़ा को दूर करना तथा रक्त के आतंचन को रोकना है जिससे परिमण्डली वाहिनियों में घनास्रता न होने पावे। पीड़ा को तत्काल दूर करने में मार्फिया के समान दूसरी औषधि प्रभावकारी नहीं है। १५ से ३० मिलीग्राम ($\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ ग्रेन) मार्फिया का अधस्त्वक् इन्जेक्शन देना उचित है। तीव्र स्तब्धता (Shock) की दशा में औषधि का उत्तम अवशोषण नहीं होता। यदि ऐसा हो तो ८ से १० मिलीग्राम ($\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{6}$ ग्रेन) मार्फीन शिरा द्वारा दी जाय। साथ ही १०० मिली ग्राम हिपेरिन (Heparin) भी शिरा मार्ग से प्रविष्ट की जाय जिससे घनास्र (Thrombus) न बनने पावे। तीसरी आवश्यकता हृत्पेशी को अधिक आक्सीजन पहुँचाने की है। इसलिये रोगी को आक्सीजन नाक और मुँह द्वारा सुँघाने का प्रबन्ध किया जाता है। सरल उपाय आक्सीजन के सिलिंडर को रोगी के पास रख कर उसकी रबड़ की नली को उसके मुँह पर रखे हुवे मास्क से जोड़ देना है। सिलिंडर का पेच खोलने पर मास्क द्वारा रोगी को आक्सीजन मिलने लगती है। इसका तुरन्त प्रभाव होता है। रोगी की बेचैनी और व्यथा कम हो जाती है। उसको आराम मिलता है। पैथिडीन का भी मार्फीन के समान उपयोग किया जाता है। वह इन्जेक्शन द्वारा भी दी जाती है।

इस तात्कालिक चिकित्सा के पश्चात् उन संकटों की ओर ध्यान देना आवश्यक है जो समीपकाल ही में रोगी के लिये संघातक प्रमाणित हो सकते

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हैं। ऐसे तीन संकट हैं, (१) स्तब्धता, (२) हृत्पेशी में नये गलन क्षेत्रों का बनना और (३) अतालता तथा स्पन्दनात्यय।

स्तब्धता—(Shock) हृत्पेशी में जितना बड़ा गलन क्षेत्र बनता है उतनी ही स्तब्धता गाढ़ी होती है। पूर्ण विश्राम, गरम जल की बोतलों या बिजली की गरम थैलियें या बिजली के लम्पों के कठघरे (Cradle) लगाकर रोगी के शारीरिक ताप को उन्नत करना, शामक औषधियों द्वारा रोगी की उद्विग्नता का शमन करना तथा आक्सीजन सुंघाना स्तब्धता को दूर करने के उपाय हैं। किन्तु तो भी रक्तदाब अतिन्यून रहता है। रक्तदाब को उन्नत करने के लिये नोर-एड्रिनेलिन को (एडिनेलिन नहीं) लवण विलयन (Saline) में मिलाकर प्रयोग किया जा सकता है। तीव्र स्तब्धता आपत्ति-जनक लक्षण है। जिन रोगियों में यह दशा अधिक समय तक बनी रहती है उनकी अधिकतर मृत्यु हो जाती है।

गलनक्षेत्रों की उत्पत्ति रोकना—इसका सबसे उत्तम उपाय आतंचन-रोधी औषधियों का प्रयोग है। तत्काल क्रिया करने वाला उपयुक्त योग हिपारिन है। इसके साथ प्रथम दो या तीन दिन तक डैक्यूमेरोल (Decumarol) का भी प्रयोग किया जाय। इसकी क्रिया मन्द होती है और उसका तीसरे दिन तक पूरा प्रभाव होता है। तब हिपेरिन का प्रयोग बन्द कर देना उचित है। ये औषधियाँ आपत्ति से रहित नहीं हैं। उनसे भयंकर रक्तस्राव हो सकता है। इस कारण इनके प्रयोगकाल में रक्त की उसके प्रोथ्रोम्बिन अवयव के लिये परीक्षा करवाते रहना उचित है।

इस विषय का तथा आतंचनरोधी औषधियों का अगले परिच्छेद में पूर्ण विचार किया गया है।

कुछ विद्वान् इन औषधियों के पक्ष में नहीं हैं। वे इनको व्यर्थ समझते हैं। किन्तु अधिकतर विशेषज्ञ रोग की पुनरावृत्ति को रोकने में उनको लाभदायक मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि इन औषधियों को प्रयोग

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

करने वाले रोगियों में न प्रयोग करने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा नये गलन क्षेत्रों की उत्पत्ति विशेषतया कम होती है और उनमें मृत्यु भी कम होती है।

इनके प्रयोग से रक्त में प्रोथ्रोम्बिन की मात्रा कम हो जाती है और उसका आतंचनकाल (Coagulation time) बढ़ जाता है। विशेषज्ञों की सम्मति के अनुसार यह काल सामान्य स्वस्थ के आतंचनकाल से २½ से तीन गुण अधिक रखना चाहिये। औषधियों की मात्रा घटाने-बढ़ाने से यह संभव होता है।

आतंचनरोधी औषधियों से लाभ दीर्घकालिक रोगियों को नहीं होता जिनको कई आक्रमण हो चुके हैं या होते रहते हैं। उनमें गलितक्षेत्रों के पृथक् होने से भयंकर रक्तस्राव का डर रहता है।

अतालता तथा स्पन्दनात्यय—क्विनीडीन अलिन्द की आलता को दूर करने के कारण निलय की अतालता को भी मिटाती है जिससे स्पन्दनों में भी कमी होती है। ०·२ से ०·३ मि. ग्राम (३ से ५ ग्रेन) दिन में तीन या चार बार देने से अतिरिक्त-प्रकुञ्चन तथा अन्य प्रकार की अतालता भी जाती रहती हैं।

दीर्घकालिक संकट रक्ताधिक्य युक्त हृदयावसाद, निलय का अवसाद (Congestive heart failure, ventricular failure), हृदय विदार (Rupture of heart) तथा घनास्रों का स्थानान्तरण (Emboli) हैं जो कुछ समय के पश्चात् उत्पन्न हो सकते हैं। प्रथम प्रकार के हृदयावसाद के लिये डिजिटैलिस अत्युत्तम है। इसका पूर्वपृष्ठों में विचार किया जा चुका है। निलय के अवसाद के लिये एमीनोफ़ाइलीन और मार्फीन का प्रयोग लाभदायक होता है। हृदयविदार को रोकना संभव नहीं है। किन्तु पूर्ण विश्राम और उत्तम उपचार से उसको कई सप्ताह तक विलम्बित किया जा सकता है। संभव है हृदय का क्षतांक (Scar tissue) ऊतक इतने समय में दृढ़ हो जाय। घनास्र के भागों का टूट-टूटकर फुफ्फुस या अन्य अंगों में स्थानान्तरण रोकने के लिये आतंचनरोधी औषधियाँ सफल हो सकती हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आहार और परिमण्डली हृद्रोग

गत आठ दस वर्षों में इन रोगों से ग्रस्त रोगियों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है। न केवल वृद्ध व्यक्तियों में किन्तु युवावस्था के व्यक्ति भी रोग-ग्रस्त हो रहे हैं और उनमें वृद्धों की अपेक्षा अधिक घातक परिणाम पाये जाते हैं। अन्वेषण कर्त्ताओं ने शवपरीक्षा से यह पाया है कि इन रोगों में धमनियों में कोलेस्टरोल (Cholosterol) नामक पदार्थ जहाँ-तहाँ एकत्र हो जाता है और उससे धमनियों के मार्ग संकुचित हो जाते हैं तथा उनमें विषमता आ जाती है जिससे रक्त के आतंचन की प्रवृत्ति हो जाती है।

कौलेस्टरोल एक वसा के समान पदार्थ है। शरीर में यह वसा, रक्त, मस्तिष्क, नाड़ियों के मेदस पिधान तथा यकृत् में पाया जाता है। दूध, अंडे, घी, तेल तथा सब प्रकार की पशु शरीर से उत्पन्न हुई वसामय वस्तुओं में होता है। पित्ताशय की अश्मरियों में इसका बहुत भाग रहता है। परिमंडली रोगों के रोगियों के रक्त में इसकी अधिक मात्रा पाई जाती है। धमनी में काठिन्यस्थलों (Atheroma) में यह एकत्र पाया जाता है जहाँ इसके चमकते हुये सूच्याकार कण उपस्थित मिलते हैं। प्रयोग शालाओं में किये गये प्रयोगों में जन्तुओं को पाशविक वसा अधिक खिलाने से उनके रक्त में कौलेस्टरोल की मात्रा बढ़ जाती है।

अनेक विद्वानों का मत है कि यह कौलेस्टरोल ही रोग की जड़ है और रक्त में कौलेस्टरोल की मात्रा को घटाने से इस रोग से बचा जा सकता है। इस मत से सब विद्वान् सहमत नहीं हैं। उनकी सम्मति में अन्य कितने ही कारणों का रोगोत्पत्ति से विशेष सम्बन्ध है जिनमें धूम्रपान और आनुवंशिकता तथा व्यक्ति के चारों ओर की परिस्थिति (Environment) का विशेष महत्व है। किन्तु वे भी इस बात पर सहमत हैं कि रक्त में कौलेस्टरोल की अतिमात्रा जीवन के लिये हानिकारक है और जिनको इस रोग की प्रवृत्ति हो, संरोध या उरःशूल के आक्रमण होते रहे हों, या जिनके परिवार में माता-पिता को ऐसे रोग हुये हों, उनको विशेषकर आहार में स्नेह

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का भाग कम कर देना चाहिये। प्रत्येक आहार पदार्थ में स्वयं कुछ न कुछ स्नेह होता ही है। इस कारण ऊपर से स्नेह के प्रयोग को जितना भी घटाया जा सके उत्तम है। इसका अभिप्राय रक्त में कौलेस्टरोल की अति मात्रा को घटाना है। सामान्य मात्रा तो स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। किन्तु उसकी मात्रा सामान्य स्तर से बढ़नी न चाहिये। अतएव सामान्य स्तर को मालूम करना आवश्यक है जो रक्त की रासायनिक जाँचों से मालूम किया जा सकता है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि रक्तदाब की भाँति कोलेस्टरोल के अति या उच्च स्तर और न्यून स्तर में बहुत अन्तर है। १२० और १६० मि. मीटर पारादाब के बीच रक्तदाब का सामान्य स्तर माना जाता है। इसी प्रकार कौलेस्टरोल के अति और न्यून दोनों स्तरों में बहुत अन्तर है और प्रत्येक व्यक्ति में उसकी आयु, लिंग, शरीर संघटन, व्यवसाय आदि का विचार करके उसका सामान्य स्तर तै करना होता है।

आहार में स्नेह की मात्रा को कम करना जीवन और स्वास्थ्य के लिये उपयोगी है। ये रोग दुबले-पतले व्यक्तियों की अपेक्षा स्थूल शरीर के व्यक्तियों में अधिक पाये जाते हैं। मलाई और क्रीम का प्रयोग बन्द कर देना उचित है। मक्खन और घी भी यदि छोड़े जा सकें तो उत्तम है, नहीं तो उनकी मात्रा को जितना घटाया जा सके घटा दिया जाय। असंतृप्त स्नेह (unsaturated fats) संतृप्त (Saturated) की अपेक्षा उत्तम हैं। अंडों में कौलेस्टरोल बहुत होता है। इस कारण उनको बन्द कर देना ही उचित है। जिन व्यक्तियों में इन रोगों की सम्भावना का अनुमान भी हो उनको मखनिया दूध का प्रयोग करना चाहिये। इस दूध से स्नेह को क्रीम या मक्खन के रूप में पृथक् कर दिया जाता है। मांस भी वसा रहित हो। वसा मांस में श्वेत कणों के रूप में उपस्थित होती है। कुछ पशुओं के मांस में इसकी मात्रा अत्यधिक होती है। ऐसे मांस का प्रयोग वर्जित है। वसारहित मांस, जिसको लाल मांस भी कहते हैं उसके प्रयोग में कोई हानि नहीं है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस विषय सम्बन्धी बहुत अन्वेषण हो रहे हैं। अनेक विद्वान् कौलेस्टरोल और धमनी काठिन्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध की खोज करने में लगे हुये हैं। वह सम्बन्ध अभी तक स्पष्ट नहीं है। तो भी यह सामान्यतया कहा जा सकता है कि कौलेस्टरोल की अधिकता स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है।

धूम्रपान धमनियों के आक्षेपकों की उत्पत्ति में सहायक होता है जिससे रक्त की आतंचन क्रिया में वृद्धि होती है। इस कारण धूम्रपान वर्जनीय है। निकोटीन हृदय का अत्यन्त प्रबल विष है।

च. रक्त आतंचनरोधी औषधियाँ—(Anticoagula-nts)

गतपृष्ठों में परिमण्डली संरोध तथा अपर्याप्तता से उत्पन्न होने वाले भयंकर रोगों में रक्तातंचन के रोकने की विशेष आवश्यकता बताई गई है। रक्तातंचन एक विशेष क्रिया है जो कई विशिष्ट अवयवों के मिलने से होती है। शरीर की रक्षा के लिये भी इसका बहुत महत्व है। किन्तु जब वह अनुचित समय पर या अनुपयुक्त स्थानों में होती है तो उससे शरीर को भयंकर हानि हो सकती है। रक्तातंचनरोधी औषधियों की क्रिया को समझने के लिये इस क्रिया की विधि का ज्ञान आवश्यक है।

रक्तातंचन क्रिया (Clotting of blood)—यदि एक पतली लम्बी काँच की नलिका में रक्त भर कर थोड़े समय तक रहने दिया जाय तो रक्त जमकर उसका एक थक्का बन जाता है जिसका आकार कांच की नलिका के समान होता है और एक हलके पीले रंग का द्रव पृथक् हो जाता है। भरे हुये रक्त में यदि नवीन कोंपलों या बाँस की बारीक तीलियाँ डालकर हिलाई जावें तो उन पर लाल रंग के तार से बन जाते हैं।

काँच की नलिका में या थक्का तथा तीलियों पर लगे हुये सूत्र 'फ़ाइब्रिन' (Fibrin) नामक वस्तु से बनते हैं। रक्त का जमना फाइब्रिन वस्तु के कारण होता है। फ़ाइब्रिन न बनने पर रक्त नहीं जमता।

रक्त में फ़ाइब्रिन इस रूप में नहीं रहती। उसका एक पूर्वरूप रहता है जिसको फ़ाइब्रिनोजन (Fibrinogen) कहते हैं। रक्त में एक प्रक्रिण्व

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(Enzyme) भी रक्तस्राव होने के समय बन जाता है जिसको थ्रौम्बिन कहते हैं। जब थ्रौम्बिन फ़ाइब्रिनोजन के साथ मिलती है तब फ़ाइब्रिनोजन से फ़ाइब्रिन बनती है।

स्वयं थ्रोम्बिन बनने की एक गूढ़ प्रक्रिया है। इसके बनने में कई क्रिया और प्रतिक्रिया होती हैं। रक्त में थ्रौम्बिन का एक पूर्वरूप रहता है जिसको थ्रोम्बोजन या प्रोथ्रोम्बिन (prothrombion) कहते हैं। इसी प्रकार दूसरा अवयव थ्रौम्बोप्लास्टिन होता है। इसका भी एक पूर्वरूप थ्रोम्बोप्लास्टिनोजन (Thromboplastinogen) रहता है जिसको थ्रोम्बो-प्लास्टिनोजन-जटिल कहा जाता है। यह वस्तु अक्रिय होती है, कोईक्रिया नहीं करती। जब रक्तस्राव में निकले हुये बिम्बाणुओं (Blood platelets) में उपस्थित एक सक्रिय अवयव थ्रोम्बोप्लास्टिनोजन के साथ मिलता है तो थ्रोम्बोप्लास्टिन बनती है और वह कैलसियम लवणों की उपस्थिति में प्रोथ्रोम्बोम्बिन के साथ मिलकर थ्रौम्बिन बनाती है। जब यह थ्रोम्बिन फाइब्रिनजन से संयोग करती है तो फ़ाइब्रिन की उत्पत्ति होती है और रक्त का जमकर थक्का बनता है। इस गूढ़ प्रक्रिया को इस प्रकार लिखा जा सकता है।

बिम्बाणु अवयव + थ्रोम्बोप्लास्टिनोजन-जटिल
↓
थ्रोम्बोप्लास्टिन + कैलसियम + प्रोथ्रोम्बिन
↓
थ्रोम्बिन + फ़ाइब्रिनोजन
↓
फ़ाइब्रिन

अतएव रक्त जमने में कटे हुये ऊतक, जिनसे रक्त निकलता है, कैलसियम, बिम्बाणु तथा रक्त की प्लाविका सब भाग लेते हैं। प्रोथ्रोम्बोजन प्लाविका में उपस्थित रहती है। उसकी मात्रा को मालूम करने के लिये परीक्षा विधियों का आविष्कार किया जा चुका है और शस्त्र कर्म करने के पूर्व यह जाँच कर ली जाती है। यों तो प्रत्येक रोगी के रक्त का आतंचन समय (Clottihg

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

time) शस्त्र कर्म से पूर्व मालूम किया जाता है। किन्तु विशेषकर जिनमें पैतृक रक्तस्राव (Haemophilia) की दशा होती है या जिनको रक्तस्राव अधिक होता है उनके रक्त में थ्रोम्बोप्लास्टिनोजन की कमी होती है। इस दशा को दूर करने के लिये प्लाज्मा या रुधिर का आधान (Transfusion of blood) करना पड़ता है।

रक्त बिम्बाणुओं का काम रक्तातंचन के लिये आवश्यक अवयव को प्रदान करने के अतिरिक्त एक सिरोटोनिन नामक पदार्थ बनाना भी है जो रक्त-वाहिनियों का संकोचक है। इसकी क्रिया से रक्त का थक्का संकुचित भी होता है।

निम्नलिखित औषधियाँ रक्तातंचन को रोकती हैं—

१. हिपारिन सोडियम (Heparin sodinim)

यह एक श्वेत या हलके पीले रंग का चूर्ण होता है जो जल में घुलनशील है। उसको यकृत् या फुफ्फुस के ऊतक से बनाया जाता है। मास्ट कोशिकाओं (Mast cells) में जिनमें हिस्टेमीन होती है उनमें यह वस्तु भी पाई जाती है। ये कोशिकायें बड़े आकार की होती हैं और संयोजी ऊतक में विशेषतया अधिक होती हैं। इस कारण ये प्रत्येक अंग में उपस्थित हैं।

क्रिया—स्वयं हिपारिन आतंचनरोधी नहीं है। वह प्रोथ्रोम्बिन या फ़ाइब्रिन के बनने को नहीं रोकती। किन्तु वह प्लाज़्मा में उपस्थित ऐल्फ़ा ग्लोब्यूलिन के संयोग से एक पदार्थ बना देती है जो प्रबल प्रोथ्रोम्बिनरोधी है। उससे प्रोथ्रोम्बिन का बनना रुक जाता है और रक्त का आतंचन विलम्बित हो जाता है। प्रोफेसर मैलेनबी (Mellanby) की सम्मति में आघात लगने पर स्थानिक मास्ट कोशिकायें प्रोथ्रोम्बिन की उत्पत्ति के कारण हिपारिन उत्पन्न करने लगती हैं जिससे वाहिनियों के भीतर रक्त न जमने पावे। अनेक विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि हिपारिन शारीरिक रक्त में नहीं पाई जाती।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चिकित्सा में उपयोग—हिपारिन का (१) विशेष उपयोग रक्त का आतंचन विलम्बित करने के लिये किया जाता है। हिपारिन की मात्रा बढ़ा देने से रक्त का आतंचन सम्पूर्णतया रोका जा सकता है। जितनी अधिक मात्रा दी जायगी उतनी ही देर से आतंचन होगा। इस प्रकार रक्त की परीक्षा के परिणाम के अनुसार हिपारिन की मात्रा का नियन्त्रण किया जा सकता है और अभीष्ट समय तक रक्त का जमना रोका जा सकता है। (२) इस कारण शल्य कर्मों के पश्चात् घनास्र (Thrombus) को रोकने के लिये हिपारिन का उपयोग किया जाता है। (३) परिमण्डली हृद्रोगों में घनास्र की उत्पत्ति को रोकने के लिये हिपारिन के उपयोग का गतपृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है। यद्यपि यह हृत्पेशी गलन की कोई औषधि नहीं है तो भी विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि आतंचनरोधी योगों के उचित प्रयोग से अनेक दुखान्त परिणामों से रोगियों की रक्षा होती है। इस कारण परिमण्डली घनास्रता की चिकित्सा में इन योगों का विशेष स्थान बन गया है। (४) शिराशोथ (Phlebitis) में घनास्र के बनने की बहुत संभावना रहती है। एक प्रकार के शोथ में (Thrombo-phlebitis) घनास्र बनना ही विशेष घटना है जिससे सूक्ष्म भाग पृथक् होकर (Embolism) फुप्फुस, मस्तिष्क या अन्य अंगों में पहुँचकर भयंकर परिणाम का कारण होते हैं। हिपारिन के प्रयोग से ऐसी दशाओं से रक्षा की संभावना बहुत बढ़ जाती है।

कुछ विद्वानों की सम्मति के अनुसार हिपारिन परिमण्डली धमनियों का नाइट्रेट या नाइट्राइट योगों की भाँति प्रसार करती है। किन्तु अन्य विद्वान् इसका समर्थन नहीं करते। प्रोफेसर ऐंगिलवर्ग ने सन् १९५४ में रिपोर्ट की कि उन्होंने हिपारिन की बड़ी-बड़ी मात्राओं के अधस्त्वक् इंजेक्शन दिये जिससे रक्त की सान्द्रता (गाढ़ापन) कम हो गई और उसका प्रवाह उन्नत हो गया। अधिक रक्त जाने लगा। यह प्रभाव शिराशोथ में बहुत लाभदायक है।

दोष—हिपारिन तथा अन्य आतंचनरोधी औषधियों का विशेष दोष यही है कि उनके प्रयोग से रक्तस्राव की संभावना बढ़ जाती है। यदि रक्तस्राव

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होने लगे, नासिका, मूत्राशय, गुदा द्वारा, त्वचा के नीचे, मसूड़ों से या शल्य क्रिया के क्षत से रक्त निकलने लगे तो इन औषधियों का प्रयोग तुरन्त बन्द करके रक्ताधान या प्लाज्मा को शिरा द्वारा प्रविष्ट किया जाय। प्रोटेमीन सल्फेट (सामीन सल्फेट) के १ प्रतिशत के विलयन के एक से १० सी. सी. अन्तर्शिरीय मार्ग से देने से हिपारीन की क्रिया तत्काल बन्द हो जाती है और रक्त का आतंचनकाल शीघ्र ही पूर्ववत् सामान्य हो जाता है।

मात्रा और प्रयोग—हिपारिन चूर्ण या उसके घोल को मुँह से देने से कोई प्रभाव नहीं होता। औषधि निष्क्रिय हो जाती है। इस कारण उसको अन्तर्शिरीय मार्ग से दिया जाता है। १० मिलीग्राम प्रति सी. सी. आसुत जल में इसका घोल बनाया जाता है। इसकी मात्रा की गणना मात्रकों (unit) में की जाती है। १ मिलीग्राम में १०० मात्रक होते हैं। प्रयोगों से पाया गया है कि ५० मिलीग्राम को रक्त में प्रविष्ट करने से आतंचनकाल ५ मिनट से बढ़कर ३० मिनट हो जाता है और दो घंटे तक वैसा ही बना रहता है। इसके पश्चात् प्रभाव घटने लगता है और ३ घंटे पश्चात् आधा रह जाता है। रोगियों में अनुभव से पता चला है कि प्रथम दो दिवस तक रोगी को १० से १५ मिलीग्राम हिपारिन प्रत्येक घंटे पर देना आवश्यक होता है और उसके पश्चात् ५ से १० मि. ग्राम प्रति घंटा देना पड़ता है। इस कारण इसको निरन्तर विधि (बूँद-बूँद करके) से शिराद्वारा दिया जाता है जिसका प्रबन्ध केवल अस्पतालों में संभव है। इस आपत्ति को मिटाने के लिये हिपारिन का ऐसा योग बनाया गया है जिसके १ या २ इन्जेक्शन २४ घंटे में पर्याप्त होते हैं। २०० मिलीग्राम प्रति सी. सी. जल में घोल बनाकर उसमें जिलेटिन मिला दी जाती है। इससे अवशोषण धीमी गति से होता है। पहला इन्जेक्शन दो सी. सी. (४०० मिलीग्राम) का दिया जाता है। उसके पश्चात् प्रत्येक १२ या २४ घंटे पर १ सी. सी. (२०० मि. ग्राम) प्रविष्ट की जाती है। हिपारीन के प्रयोग के समय रक्तातंचनकाल मालूम करते रहना आवश्यक है। निरन्तर विधि से देने पर दिन में दो तीन बार रक्त परीक्षा आवश्यक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। प्रति दिन एक या दो बार देने की दशा में चौबीस घंटे में कम से कम एक बार परीक्षा आपेक्षित है।

हिपारिन का रासायनिक संघटन मालूम करने के पश्चात् उसी के योग बनाने का प्रयत्न किया गया। किन्तु जो योग बने हैं उनकी मात्रा तिगुनी या चौगुनी है। ट्रिबुरोन (Treburon) एक ऐसा ही योग है। तिगुनी मात्रा होने के अतिरिक्त उसके प्रयोग से कुछ व्यक्तियों के शिर के बाल उड़ गये। कुछ को पाचन विकार हो गये। इस कारण उसका प्रयोग नहीं किया जाता।

२. डिकूमैरोल (Dicumarol)

इसका वैज्ञानिक नाम है बिसहाइड्रौक्सीकूमारिन (Bishydroxycoumarin)। इसको मवेशियों के खाने की स्वीट क्लोवर नामक घास से बनाया गया था। आजकल इसको प्रयोगशालाओं में संश्लेषण विधियों से बनाते हैं। इसकी खोज की कहानी भी बड़ी रोचक है।

अमरीका में विस्कौंसिन प्रदेश में सन् १९३८–३९ में गौओं में एक अज्ञात रोग की महामारी-सी फैल गई। अनेकों की मृत्यु हुई। एक दिन एक कृषक एक गौ का शव और दो बालटियों में भरा हुआ रक्त लेकर विस्कोन्सिन विश्वविद्यालय की विज्ञानशाला में पहुँचा और वहाँ अधिकारियों से उसने कहा कि उसकी गौओं की एक ऐसे रोग से मृत्यु हो रही है जिसमें रक्तस्राव होता है। जिस गौ के शव को वह लाया था उसके शरीर से दोनों बालटियों में भरा हुआ रक्त निकला था। वह रक्त और शव को इस लियेलाया था कि परीक्षा करके उसको बताया जाय कि किस रोग से उसकी गौओं की मृत्यु हुई थी और उस रोग की कौन औषधि है जिससे वह अपने शेष झुण्ड की रक्षा कर सके। उस कृषक को गौ के शव और रक्त के साथ प्रोफेसर कार्ल पी. लिंक की औषधिक्रियाविज्ञान की प्रयोगशाला में भेज दिया गया।

अनेक खोजों के पश्चात् सन् १९४१ में प्रोफेसर लिंक और उनके

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सहयोगियों ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की जिसमें उन्होंने बताया कि गौ ने जो चारा खाया था उसके सड़ जाने से उसमें एक विशेष रासायनिक पदार्थ बन गया था जिसको उन्होंने 'डिकूमैरोल' कहा। यह कुमारिन (Coumarin) समूह का एक पदार्थ था और इसका विशेष प्रभाव रक्त की आतंचन शक्ति घटाना था जिससे गौओं की मृत्यु हुई थी।

इससे पूर्व भी शोफील्ड ने १९२२ में कनाडा में और रौडरिक ने अमरीका में यह पता लगा लिया था कि उस सड़े हुये चारे के खाने से पशुओं में रक्तस्राव की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। रौडरिक ने १९३१ में यह भी लिखा था कि रक्तस्राव का कारण रक्त में प्रोथ्रोम्बिन की कमी होता था। अतएव क्लोवर घास में सड़ने से कोई ऐसा पदार्थ उत्पन्न हो जाता है जो प्रोथ्रोम्बिन को घटा देता है। लिंक ने १९४१ में इस पदार्थ को पृथक् करके उसका अध्ययन किया तथा उसको रासायनिक विधियों से बनाया।

डिकूमैरोल श्वेत रंग का क्रिस्टली चूर्ण होता है। सोडियम या पोटासियम के साथ मिलने पर इसका जल में घुलनशील योग बन जाता है।

क्रिया—डिकूमैरोल की विशेष क्रिया रक्त में प्रोथ्रोम्बिन निर्माण के समय को विलम्बित करना है। यह पदार्थ विटामिन-के का विरोधी है। वह विटामीन-के के अणु के एक भाग को निकाल देता है या उसका उपयोग नहीं होने देता। डिकूमैरोल यकृत् में एकत्र होता रहता है। इसकी क्रिया ३ या ४ दिन के पश्चात् होती है जब उसकी पर्याप्त मात्रा यकृत् में एकत्र हो चुकती है। हिपारिन की क्रिया सीधी रक्त पर होती है। किन्तु डिकूमैरोल की क्रिया यकृत् के द्वारा होती है।

चिकित्सा में उपयोग—रक्त में घनास्र बनने की जब भी आशंका होती है तो हिपारिन के साथ या स्वतः डिकूमैरोल का प्रयोग करवाया जाता है। शल्यकर्मों के पश्चात् जब घनास्र बनकर उसके फुफ्फुस या अन्य अंगों में पहुँचने का डर होता है तो डिकूमैरोल का प्रयोग लाभदायक पाया गया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रान्तिक धमनियों की घनास्रता में भी इससे लाभ होता है। परिमण्डल धमनियों की घनास्रता में इसके उपयोग का पहिले भी उल्लेख किया गया है। परिमण्डली संरोध में नवीन घनास्रों की उत्पत्ति को रोकने में इसको उपयोगी पाया गया है। घनास्रयुक्त शिराशोथ (Thrombo. phlebitis) में इसका प्रयोग अभीष्ट है। यह बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है। 'हृत्पेशी गलन' में इसका उपयोग विशेष लाभदायक पाया गया है।

विषाक्तता—रक्त के आतंचन समय के विलम्बित हो जाने से रक्तस्राव होने का डर रहता है। इस कारण औषधि के प्रयोगकाल में सदा रक्तातंचन तथा प्रोथ्रोम्बीन की जाँच होती रहनी चाहिये। यदि प्रोथ्रोम्बीन की सक्रियता २५ प्रतिशत से कम हो जाय तो डिकूमैरोल का प्रयोग बन्द कर दिया जाय।

डिकूमैरोल से यकृत् को हानि पहुँच सकती है। प्रयोगशाला के जन्तुओं में डिकूमैरोल की अतिमात्राओं को खिलाने से यकृत् में गलनक्षेत्र (Necrosis) बन गये। जो व्यक्ति यकृत् के विकारों से ग्रस्त हों उनको डिकूमैरोल का प्रयोग वर्जित है। वृक्क के रोगों अथवा उनकी क्रिया दक्षता के ह्रास की अवस्था में भी डिकूमैरोल का प्रयोग न करना चाहिये।

डिकूमैरोल से विषाक्त रोगियों की रिपोर्ट की गई हैं। ऐसी दशाओं में विषैले प्रभाव को दूर करने के लिये विटामिन–के का योग, जिसको 'मेफीटोन' (Mephyton) कहते हैं, उपयोगी पाया गया है। इसके ५० मिलीग्राम के एक सी. सी. जल में घोल को इन्जेक्शन द्वारा देने से ३ से ६ घंटे में प्रोथ्रोम्बिन की रक्त में उपस्थित मात्रा सामान्य स्तर पर पहुँच जाती है।

मात्रा—प्रथम दिवस प्रोथ्रोम्बिन जाँच के पश्चात् २०० से ३०० मिलीग्राम डिकूमैरोल खिलाया जाता है। उसके पश्चात् १०० से २०० मि. ग्राम प्रति दिन पर्याप्त है। रक्त की प्रत्येक दिन जाँच आवश्यक है। प्रोथ्रोम्बिन कभी भी २५ प्रतिशत से कम न होनी चाहिये। इससे कम होते ही औषधि को बन्द करके गतपृष्ठों में बताये हुये चिकित्सा के आयोजन करने चाहिये।

निम्नलिखित अन्य आतंचन रोधी योग हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३. ट्रोमिक्सान (Tromexan; tromexan ethyl acetate)—इसका वैज्ञानिक नाम 'ट्रोमिक्सान इथाइल एसीटेट' है। इसको भी प्रोफेसर लिंक और उसके सहयोगियों ने सन् १९४२ में बनाया था।

इसकी आतंचनरोधी क्रिया में लगभग ३६ घंटे लगते हैं। कुछ रोगियों में २८ और ३० घंटे में ही प्रोथ्रोम्बिन की मात्रा घट गई। इसका आन्त्र की उपकला द्वारा डिकूमैरोल की अपेक्षा शीघ्र और पूर्ण अवशोषण होता है और उसका शरीर से त्याग भी शीघ्र होता है। इसकी मात्रा का २५ प्रतिशत भाग प्रत्येक घंटे में कम हो जाता है, अर्थात् उसका शरीर से त्याग हो जाता है (कुछ भाग का नाश भी होता है)। डिकूमैरोल का २५ प्रतिशत २४ घंटे में घटता है। इस कारण ट्रोमिक्सान के हानिकारक प्रभाव अत्यल्प होते हैं। कुछ अन्वेषकों ने यह देखा कि प्रोथ्रोम्बिन के स्तर का ह्रास प्रारंभ होने से पूर्व ट्रोमिक्सान का शरीर के ऊतकों से त्याग हो चुका था।

इसकी प्रथम मात्रा १·५ ग्राम प्रथम दिवस, दूसरी मात्रा ०·९ ग्राम दूसरे दिवस और उसके पश्चात् ०·३ से ०·९ ग्राम तक प्रतिदिन प्रोथ्रोम्बिन परीक्षा के अनुसार दी जाती है।

४. कुमोपाइरान (Coumopyran, साइक्लोकुमरोल)—यह भी कुमारिन समूह ही का योग है और इसका निर्माण भी प्रोफेसर लिंक द्वारा हुआ था। इसकी क्रिया डिकूमैरोल ही के समान किन्तु उसकी अपेक्षा तिहाई या आधे समय में होती है। उसका प्रभाव भी अधिक चिरस्थायी होता है। इस योग के हानिकारक प्रभाव अत्यल्प होते हैं।

अनेक अन्वेषकों ने जन्तुओं पर प्रयोग किये और चिकित्सकों ने रोगियों को यह योग खिलाया। सबों की रिपोर्ट संतोषजनक है।

मात्रा—प्रथम दिवस १५० मिलीग्राम, दूसरे दिन ७५ मिली ग्राम और तीसरे दिवस से ५० से ७५ मिली ग्राम प्रतिदिन दिया जाता है। रक्तपरीक्षा मात्रा की निर्णायक है।

५ कुमाडिन सोडियम, वर्फारिन सोडियम—(Coumadin Sodium, Warafarin Sobium)—इसका निर्माण भी लिंक द्वारा किया

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गया था। इस वस्तु का चूहों के नाश के लिये बहुत प्रयोग होता है। इससे चूहों में रक्त स्राव की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

इसकी क्रिया डिकूमैरोल के ही समान होती है। किन्तु उससे ४० गुणा प्रबल होती है। इसके एक अन्तर्शिरीय इन्जेक्शन के १२ से १८ घंटे के भीतर प्रोथ्रोम्बिन स्तर कम हो जाता है और ५ या ६ दिन तक नहीं बढ़ता। ५० मिलीग्राम मुँह से खिलाने पर ३ दिन तक कम रहता है। यह श्वेत क्रिस्टलीय चूर्ण जल में पूर्णतया घुलनशील है। अतएव अन्तर्शिरीय इन्जेक्शन के लिये इसकी उपयोगिता के कारण यह बहुत प्रयोग में आने लगा है।

मात्रा—वार्फरीन सोडियम की प्रथम मात्रा ५० से ७५ मिलीग्राम प्रथम दिवस दी जाती है। उसके पश्चात् ५० मिलीग्राम प्रत्येक चौथे दिन दी जाती है। ७५ मिलीग्राम के एक अन्तर्शिरीय इन्जेक्शन का ५ दिन तक प्रभाव रहता है।

६ **मार्कुमार** (Marcumar)—इस योग को बने हुए बहुत समय नहीं हुआ है। इसके प्रभाव का अध्ययन प्रोफेसर बुर्गेन (Bourgain) ने सन् १९५४ में किया था। उनके प्रयोग विशेषकर खरगोशों पर किये गये थे। उसके पश्चात् उन्होंने तथा अन्य चिकित्सकों ने रोगियों को यह औषधि प्रयोग करवाई। उनके कथनानुसार इस योग की प्रोथ्रोम्बिन हासक क्रिया एक मात्रा खिलाने पर पांच दिन तक बनी रही। इन अन्वेषण कर्त्ताओं ने इस योग की मात्रा इस प्रकार निर्धारित की है :—प्रथम दिन २१ मिलीग्राम, दूसरे दिन ९ मि० ग्राम, और तीसरे दिन से ३ मिलीग्राम की १ टिकिया प्रतिदिन।

यह भी एक कुमारिन योग है और क्रिया, प्रयोग, प्रभाव तथा उपद्रव में उन्हीं के समान है।

७ **हेडूलिन** (Hedulin)—इसका वैज्ञानिक नाम फिनाइल इंडियांडियोन (Phenylindiandione) है। यह भी एक नई वस्तु है जिसकी क्रिया अन्य आतंचनरोधी योगों के समान प्रोथ्रोम्बिन की क्रिया को विलम्बित करना है। इसकी प्रथम दिवस २०० से ३०० मिलीग्राम की एक मात्रा दी जाती है। तत्पश्चात् ५० से १०० मिलीग्राम नित्य प्रति दिये जाते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उपर्युक्त योगों की अपेक्षा इसमें कोई विशेष गुण नहीं मालूम होता।

८ डिपाक्सिन (Dipaxin)—इसका रासायनिक संघटन भी हेड्रलिन के समान है। इसकी क्रिया भी रक्त के प्रोथ्रोम्बिन को घटाने की है। इसकी प्रथम मात्रा १८ मिलीग्राम और उसके पश्चात् दूसरे दिन ९ मिली ग्राम तथा तीसरे दिन से ३ से ६ मिलीग्राम प्रतिदिन है।

इसका प्रयोग संतोषजनक पाया गया है। इससे कोई विशेष हानि कारक प्रभाव नहीं हुये हैं।

जितनी भी आतंचनरोधी औषधियां ऊपर बताई गई हैं उनके प्रयोग से होने वाले उपद्रव या हानि कारक लक्षणों को रोकने के लिये रक्त परीक्षा से प्रोथ्रोम्बिन के रक्त स्तर को मालूम करते रहना आवश्यक है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नवम परिच्छेद

हारमोनों का चिकित्सा में उपयोग

(Hormone therapy)

हारमोनों का चिकित्सा में प्रयोग बहुत समय से होता आया है। प्राचीन-काल में भी यह ज्ञान था कि अंडग्रन्थि का मैथुन के साथ संबन्ध है। मैथुन शक्ति बढ़ाने के लिये अंडग्रन्थि को खिलाया जाता था। किन्तु उस समय तक हारमोन पदार्थों के इतने विस्तृत महत्त्व का ज्ञान नहीं था।

हारमोन ग्रीक भाषा का शब्द है। उसका अर्थ है 'मैं उद्दीपन या उत्तेजन करता हूँ'। हारमोनों का काम केवल उत्तेजन ही नहीं है, वे कहीं-कहीं शमन भी करते हैं, क्रिया को घटाते भी हैं। ये अपने रासायनिक अवयवों के प्रभाव द्वारा शरीर की अनेक क्रियाओं का नियन्त्रण करते हैं। इनको शरीर का 'रासायनिक मस्तिष्क' (Chemical brain) कहा जाता है। शरीर की कई ग्रन्थियों में हारमोनों का निर्माण होता है। इन ग्रन्थियों में कोई वाहनी नली नहीं होती जिसके द्वारा उनके भीतर बना हुआ पदार्थ बाहर आ सके। ये निःस्रोत ग्रन्थियाँ (Ductless glands) कहलाती हैं। इनके भीतर बना हुआ स्राव हारमोन कहलाता है। यह स्राव ग्रन्थि से बाहर नहीं निकलता। वहीं से सीधा रक्त में चला जाता है। अर्थात् इस स्राव का किसी नलिका या वाहनी द्वारा संवहन नहीं होता। वह सीधा रक्त में पहुँचकर उसके द्वारा शरीर के भिन्न भागों में पहुँचता है और अपना प्रभाव करता है। अतएव इसका संवहन या शरीर में संचार रक्त द्वारा होता है।

हारमोन शारीरिक क्रियाओं के नियामक हैं। शरीर में होनेवाली अनेक रासायनिक शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं पर इनका प्रभाव होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों की क्रिया में साम्य स्थापित करना तथा उनकी क्रियाओं का इस प्रकार उद्दीपन करना कि सब ही अंगों को लाभ पहुँचे यह हारमोनों का काम है। अतएव समय और आवश्यकतानुसार उनके प्रभाव से किसी अंग की क्रिया उत्तेजित होती है और किसी की कम होती है, एक क्रिया घटती है दूसरी बढ़ती है। अर्थात् क्रियायें इस प्रकार होती हैं कि उनसे सारे शरीर को लाभ पहुँचता है। इनके प्रभाव से व्यक्ति के भाव तथा विचारों तक में परिवर्त्तन हो जाता है।

इस पर सभी विद्वान् सहमत हैं कि हारमोन रासायनिक पदार्थ हैं। अन्वेषकों ने इनको ग्रन्थियों से प्राप्त करके इनके रासायनिक संघटन का अध्ययन किया है तथा प्रयोगशालाओं में अनेकों प्रयोग किये हैं। अब इनको रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा प्रयोगशालाओं में तैयार कर लिया गया है। जो भी हारमोन योग बाजार में बिकते हैं प्रायः वे कृत्रिम प्रकार से बनाये जाते हैं।

हारमोनों की विशेषता यह है कि उनकी अत्यल्प मात्रा शारीरिक क्रियाओं को प्रभावित करती है। स्त्री में जो स्त्रीत्व के गुण हैं, उसकी विचारधारा या भाव हैं वे उस हारमोन का प्रभाव हैं जो उसकी डिम्बगन्धि में बनता है, जिसकी मात्रा इतनी अत्यल्प होती है कि ८ मास में एक चने के दाने के समान भार का हारमोन भी नहीं उत्पन्न होता। पुरुष में पुरुषत्व के गुणों को उत्पन्न करनेवाला, उसमें पुरुष के भावों को उदय करनेवाला अंडग्रन्थि में बननेवाला हारमोन होता है जो सीधा ग्रन्थि से रक्त में चला जाता है।

हारमोन, विटामिन तथा प्रक्विण्व ये तीनों एक ही संस्थान या क्रम के भाग मालूम होते हैं। इन तीनों का शारीरिक क्रियाओं तथा स्वास्थ्य पर रासायनिक प्रभाव पड़ता है। शरीर में इनके द्वारा जो-जो रासायनिक प्रतिक्रियायें सम्पन्न होती हैं उनही के प्रभाव से शरीर के अंग अपने-अपने कर्मों का उचित सम्पादन करने में समर्थ होते हैं। यद्यपि इनसे कोई काम करने की शक्ति नहीं उत्पन्न होती तो भी उस शक्ति को उत्पन्न करवाना इन्हीं का काम है। ये मनुष्य के व्यक्तित्व तथा उसके जीवन के कारण हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यद्यपि कुछ निस्रोत ग्रन्थियों तथा हारमोनों का पहिले थोड़ा ज्ञान था तथापि इनका विशेष ज्ञान और चिकित्सा में उपयोग बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक अनुसन्धानों का फल है।

हारमोनों के रासायनिक संघटन का आधार—हारमोनों के रासायनिक संघटन में एक विचित्र बात मालूम हुई। एक या दो हरमोनों के अतिरिक्त उनके संघटन का एक ही आधार है, जिसको रासायनिक भाषा में 'स्टिराइड केन्द्रक' (steroid nucleus) कहते हैं। इसके अणु में परमाणुओं की स्थिति का एक क्रम है जो इसका द्योतक है कि कार्बन, आक्सीजन,

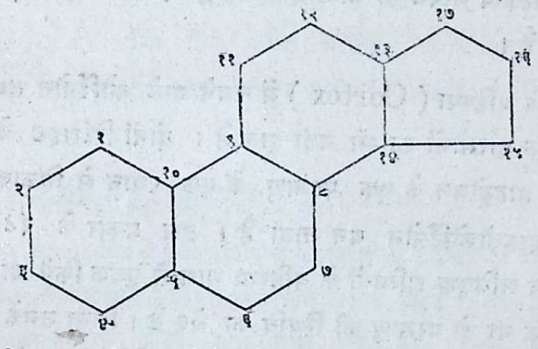

चित्र २०—स्टिराइड केन्द्रक में कारबन के परमाणुवों की स्थिति

हाइड्रोजन आदि के अणु किस प्रकार एक दूसरे से संबंधित हैं और किस-किस स्थिति में स्थित हैं। चित्र में एक ऐसा केन्द्रक दिखाया गया है। इसमें जो छः कोनों के कोष्ठ दिखाये गये हैं वे 'कार्बन-वलय' (carbon rings) कहलाते हैं। प्रत्येक कोने पर एक कार्बन परमाणु बैठा हुआ है। इस प्रकार प्रत्येक वलय में छः कार्बन के परमाणु होते हैं। स्टिराइड केन्द्रक एक दुतल्ले मकान के समान है जिसमें ऊपर के एक कोठे में केवल ५ कोने हैं। शेष कोष्ठों में छः छः कोने हैं। कोठे आपस में मिले हुये हैं, उनकी एक दीवार जुड़ी हुई है। इस कारण उनके कोनों पर केवल १७ कार्बन परमाणु लग सकते हैं। विचित्रता यह है कि इन परमाणुओं को घटा-बढ़ा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

देने से अथवा उनकी स्थिति बदलने से या कार्बन के स्थान पर हाइड्रोजन या आक्सीजन के परमाणु लगा देने से भिन्न-भिन्न हारमोन बन जाते हैं। जैसा अगले चित्रों से स्पष्ट है स्त्री-हारमोन (ईस्ट्राडियोल) में एक स्थान से हाइड्रोजन के परमाणु को निकाल लेने और दूसरे स्थान में एक कार्बन का और ३ हाइड्रोजन के परमाणु को जोड़ देने से पुरुष-हारमोन (टैस्टोस्टरोन) बन जाता है। स्टिराइड केन्द्रक में इतने से परिवर्त्तन होने से दो प्रकार की प्रबल और नितान्त पृथक् वस्तुयें बन जाती हैं जो सारे भावी जीवन-क्रम को बदल देती हैं। एक व्यक्ति को पुरुष बना देती हैं और दूसरे में स्त्री व्यक्तित्व उत्पन्न हो जाता है। किन्तु दोनों की रासायनिक रचना में अत्यल्प भेद है।

अधिवृक्क के बहिस्था (Cortex) में बनने वाले कोर्टिसोन तथा हाइड्रो कोर्टिसोन नामक हारमोनों का भी यही हाल है। दोनों स्टिराइड केन्द्रक पर बने हैं। किन्तु हाइड्रोजन के एक परमाणु के एक स्थान से निकाल देने से कौर्टिसोन से हाइड्रोकोर्टिसोन बन जाता है। इस प्रकार के २८ स्टिराइड निर्मित हारमोन अधिवृक्क ग्रन्थियों के बहिस्था भाग से पृथक् किये जा चुके हैं। उनमें केवल एक या दो परमाणु की स्थिति का भेद है। किन्तु उनके प्रभाव में बहुत अन्तर है। इनमें से बहुत से तो बीच के पदार्थ हैं जो आगे चल कर अन्तिम रूप में आयेंगे।

यदि हम अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के भीतर की प्रयोगशालाओं को देख सकते तो हम देखते कि वहाँ की विशाल प्रयोगशाला में अनेक रासायनिक क्रियायें हो रही हैं जिनमें वहाँ उत्पन्न होने वाले रासायनिक पदार्थों के अणुओं की रचना बदली जा रही है। एक से कोई अणु निकाला जा रहा है तो दूसरे में दूसरा अणु लगाया जा रहा है। कहीं एक स्थिति से अणु को उठाकर दूसरी स्थिति में जोड़ा जा रहा है। और इस प्रकार कई प्रकार के रासायनिक पदार्थ बन रहे हैं। किन्तु उन सब का आधार है स्टिराइड केन्द्रक।

अधिवृक्क के इन स्टिराइड हारमोनों के प्रभाव में भी वही विचित्रता

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। अनेक विभिन्न प्रकार के लक्षण वाले रोगों में उनका लाभदायक प्रभाव होता है जिनके कारणों में कोई भी सम्बन्ध नहीं है। नेत्राभिष्यन्द, जानुसंधि शोथ, विसर्प (erysepelas) तथा अन्य संक्रामक शोथयुक्त दशायें, कास (asthma), वातज्वर (rhenmatic fever), रक्तरोग, वृक्क के रोग, चर्म के उग्ररोग आदि में इनको बहुत लाभदायक पाया गया है। इन सब रोगों में कोई एक सामान्य कारण नहीं है। उनके कारण पृथक्-पृथक् हैं। तो भी एक ही औषधि से सबों में लाभ होना विद्वानों को उलझन में डालने वाला है।

हमारे शरीर में कई अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ हैं जो अन्तःस्राव या हारमोन उत्पन्न करती हैं। अंड ग्रन्थि, डिम्भ ग्रन्थि, अधिवृक्क, अग्न्याशय (पैंक्रियास), अवटु ग्रन्थि (Thyroid) तथा पीयूष ग्रन्थि (Pitnitary) बहुत महत्त्व के हारमोन बनाती हैं।

लिंगोत्पादक हारमोन (Sex Hormones)

स्त्रियों में डिम्भग्रन्थि से स्त्री हारमोन उत्पन्न होता है जिसको ईस्ट्राडियोल (Estradiol) कहते हैं। स्त्रीत्व के लक्षण उत्पन्न करने वाला यही हारमोन है। स्तनों का उभार, डाढ़ी, मूँछ तथा वक्ष पर बालों का न उगना, बोली का बारीक होना, अंगों की गोलाई, मैथुन की इच्छा ये सब गुण इसी हारमोन के कारण उत्पन्न होते हैं। डिम्भ ग्रन्थि में एक दूसरा हारमोन भी बनता है जिसको प्रोजेस्टरोन (Progesteron) कहा जाता है। इसका अर्थ है 'गर्भ के लिये तैयारी'। इस हारमोन का काम गर्भ की रक्षा तथा उसकी वृद्धि करना है। इन स्त्री हारमोनों को ईस्ट्रोजन (Estrogens) का नाम दिया गया है।

पुरुष की अंडग्रन्थि में पुंस्त्व के गुण उत्पन्न करने वाला जो हारमोन बनता है उसको टेस्टोस्टरोन (Testosterone) कहते हैं। बोली का भारी होना, छाती पर तथा अन्य स्थानों में बालों का उगना, शरीर की (स्त्रियों की अपेक्षा) अधिकवृद्धि, मैथुनेच्छा आदि लक्षण टैस्टोस्टरोन के कारण उत्पन्न

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होते हैं। चिकित्सा के लिये ऐसे कई योग बनाये गये हैं। वे ऐन्ड्रोजन (Androgens) कहलाते हैं।

किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि स्त्री और पुरुष शरीरों में केवल इस्ट्रोजन या ऐन्ड्रोजन ही बनते हैं। दोनों के रासायनिक रूपों में बहुत कम अन्तर है। प्रत्येक शरीर में दोनों की उत्पत्ति होती है, एक की कम और दूसरे की अधिक। यह भी संभव है कि एक हारमोन पूर्वरूप की भांति उत्पन्न होता हो और दूसरे में परिवर्तित हो जाता हो।

१ स्त्री-हारमोन, ईस्ट्रोजन्स (Estrogens).

स्त्री-हारमोन की समस्त श्रेणी को इस्ट्रोजिन्स कहा जाता है। यद्यपि ये केवल दो हारमोन हैं ईस्ट्राडियोल और प्रोजेस्टरोन, किन्तु इनके योगों को तैयार

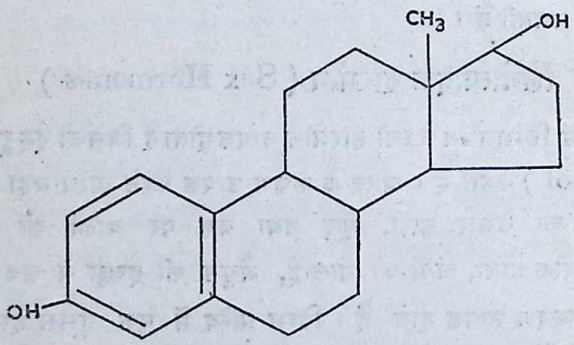

चित्र २१—ईस्ट्राडियौल के अणु की रचना

करने वाली कम्पनियों ने इनको पृथक्-पृथक् नाम दिये हैं। इस कारण वे अनेक नामों से बाजार में बिकते हैं। ईस्ट्रोजिन्स में केवल वे हारमोन योग गिने जाते हैं जो ईस्ट्राडियोल के समान प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

ईस्ट्रोजन योग जो बाजार में बिकते हैं उनमें कुछ प्राकृतिक योग होते हैं और कुछ प्रयोग शालाओं में रासायनिक विधियों से बनाये जाते हैं। इस कारण वे कृत्रिम या संश्लिष्ट (Synthetic) कहलाते हैं। प्राकृतिक योग

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रायः गर्भवती घोड़ियों या गर्भवती स्त्रियों के मूत्र से बनाये जाते हैं। गर्भावस्था में ये हारमोन प्रचुर मात्रा में मूत्र द्वारा शरीर का त्याग करते रहते हैं।

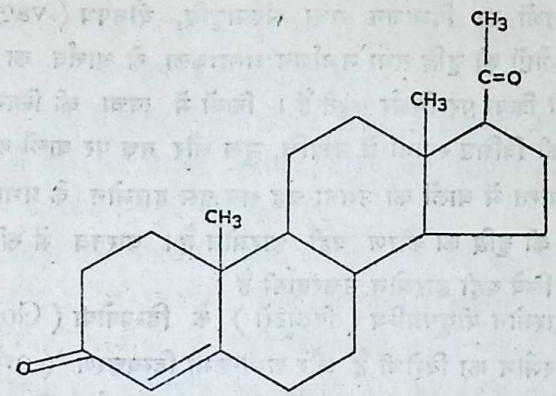

चित्र २२—प्रोजैस्टरोन के अणु की संरचना

संश्लिष्ट प्रकार के योगों को रासायनिक पदार्थों का रासायनिक विधियों द्वारा संश्लेषण करके प्रयोगशालाओं में बनाया जाता है। संश्लिष्ट योग प्रायः सस्ते होते हैं।

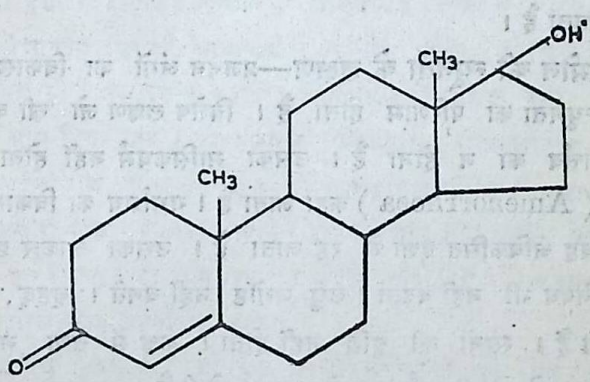

चित्र २३—टैस्टोस्टरोन के अणु की संरचना

क्रिया—स्त्री में स्त्रीत्व के गुण उत्पन्न करने वाला यही हारमोन है। स्त्री

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रजनन अंगों का विकास इसी हारमोन पर निर्भर करता है। गर्भाशय के पेशीस्तर की वृद्धि, उसकी दृढ़ता, गर्भाशय की अन्तःकला (endometrium) की कोशिकाओं का विभाजन तथा संख्यावृद्धि, यौनपथ (vagina) का विकास, भगोष्ठों की वृद्धि तथा गर्भाशय अन्तःकला से आर्त्तव का स्राव इस हारमोन की क्रिया पर निर्भर करते हैं। स्त्रियों में त्वचा की स्निग्धता, त्वचा पर बालों की विशिष्ट स्थानों में उत्पत्ति, मुख और वक्ष पर बालों का न उगना तथा भग प्रान्त में बालों का उगना यह सब इस हारमोन के प्रभाव से होता है। स्तनों की वृद्धि का कारण यही हारमोन है। वास्तव में स्त्री शरीर की आकृति के लिये यही हारमोन उत्तरदायी है।

यह हारमोन पीयूषग्रन्थि (पिट्यूटरी) के डिम्बपोषी (Gonadotrophic) हारमोन का विरोधी है और कभी-कभी डिम्बक्षरण (ovulation) नहीं होने देता। ऐसी दशा में डिम्भ ग्रन्थि अपना कर्म नहीं कर पाती और गर्भ स्थापित नहीं होता।

इस हारमोन की क्रिया से डिम्ववाहिनी (Fallopion tube) में संकोच और विस्तार होते रहते हैं और डिम्बक्षरण के समय इस वाहिनी का झालरदार सिरा डिम्बग्रन्थि पर चिपट जाता है जिसके कारण डिम्ब डिम्ववाहिनी में चला जाता है।

हारमोन की न्यूनता के लक्षण—प्रजनन अंगों का विकास न होना हारमोन न्यूनता का परिणाम होता है। विशेष लक्षण जो स्त्री को दिखाई देता है आर्त्तव का न होना है। उसको मासिकधर्म नहीं होता जिसको अनार्त्तव (Amenorrhoea) कहा जाता है। गर्भाशय का विकास भी नहीं होता। वह अविकसित दशा में रह जाता है। उसका आकार छोटा होता है। योनिपथ भी नहीं बढ़ता। लघु भगोष्ठ नहीं बनते। वृहद् भगोष्ठ भी छोटे होते हैं। स्तनों की वृद्धि नहीं होती। कक्ष में तथा भगप्रान्त में बाल नहीं उगते। स्त्री गर्भधारण में असमर्थ होती है।

चिकित्सा में प्रयोग—उपर्युक्त दशा में स्टिलबीस्ट्रौल के ३०० मिलीग्राम (सौ-सौ मिली ग्राम की तीन टिकियां) को त्वचा के नीचे गहराई पर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रविष्ट कर दिया जाता है जिसका धीरे-धीरे अवशोषण होता रहता है। साथ में प्रति मास तीन सप्ताह तक ३ मिलीग्राम स्टिलबीस्ट्रोल के प्रति दिन इन्जेक्शन दिये जाते हैं। एक सप्ताह तक उनको बन्द रखने के पश्चात् दूसरे मास में फिर वही क्रम जारी रखा जाता है।

बहुत रोगियों में इससे निश्चित लाभ होता है। स्तनों की वृद्धि, तथा भग प्रान्त में बालों का उगना, गर्भाशय, योनि तथा भगोष्ठों की वृद्धि आदि यौनविकास के लक्षण दिखाई देने लगते हैं।

अन्य दशायें—नष्टार्त्तव में प्रायः ४५ से ५० वर्ष की आयु में आर्तव बन्द हो जाता है जो नष्टार्तव (menopause) कहलाता है। इसका कारण ईस्ट्रोजिन हारमोनों के बनने का बन्द होना अथवा पीयूषिका के डिम्बप्रेरक स्रावों की अत्युत्पत्ति हो सकती है। आर्त्तव न होने पर स्त्री को अनेक प्रकार के शारीरिक क्लेश होने लगते हैं। शरीर में पीड़ा, शिर दर्द, चेहरे में रक्त भरना सा प्रतीत होना, नेत्रों के सामने तारे टूटते दिखाई देना, स्थूलता आदि कष्ट होते हैं। भगोष्ठों में खुजली आना तथा योनिशोथ भी पाये जाते हैं।

ऐसी दशा में ईस्ट्रोजन चिकित्सा लाभदायक होती है। उपयुक्त मात्रा अनुभव से मालूम करना आवश्यक है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकतायें भिन्न होती हैं। किन्तु मात्रा १ मिलीग्राम से अधिक नहीं होती, चाहे कोई भी योग दिया जाय। प्रायः ०·२२ मिलीग्राम स्टिलबीस्ट्रोल या उसके समकक्ष अन्य योग पर्याप्त होते हैं। छः सप्ताह तक प्रयोग के पश्चात् दस दिन के लिये प्रयोग बन्द कर देना चाहिये। उसके पश्चात् फिर प्रयोग किया जाय। जब तक पूर्ण लाभ न हो जाय तब तक प्रयोग जारी रहे। तत्पश्चात् धीरे-धीरे उसको घटाकर बन्द कर दिया जाय।

अनार्त्तव (Amenorrhoea)—स्टिलबीस्ट्रोल को भिन्न मात्राओं में तथा प्रोजेस्टरोन के साथ अथवा अन्य योगों के साथ अनार्त्तव की दशा में बहुत प्रयोग किया गया है और अब भी किया जाता है। किन्तु परिणाम अनिश्चित होते हैं। सन्तोषजनक फल थोड़े ही रोगियों में होते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कष्टार्तव (Dysmenorrhoca)—इस दशा में आर्त्तव के काल में बहुत पीड़ा होती है। आर्तव के पश्चात् प्रथम पाँच दिन में प्रारम्भ करके १४ दिन तक २ मिलीग्राम प्रतिदिन देने से अगले आर्तव में पीड़ा नहीं होती। सात दिन के अन्तर से इस क्रम को फिर दोहराया जा सकता है।

मैट्रोपैथिया हैमरेजिका (Metropathia haemorrhagica)—नष्टार्तव के पश्चात् यह दशा उत्पन्न होती है। इसमें गर्भाशय से रक्तस्राव होता रहता है। कभी-कभी रक्तस्राव की मात्रा अधिक हो जाती है जिससे रोगी का जीवन संकटमय हो जाता है। थोड़ा-थोड़ा रक्तस्राव भी निरन्तर होते रहने से रोगी में रक्ताल्पता हो जाती है। उसका वर्ण श्वेत या पीला सा दिखाई देता है। तनिक से परिश्रम से थक जाता है, साँस फूलने लगती है। रक्ताल्पता के लक्षण शनैः शनैः बढ़ते जाते हैं।

ऐसे रोगियों को ईस्ट्रोजन की बड़ी-बड़ी मात्रा देनी आवश्यक होती हैं। ५ मिलीग्राम स्टिलबीस्ट्रोल या ०·२ मिलीग्राम एथाइनिल ईस्ट्राडियोल दिन में प्रत्येक दो-दो घण्टे पर दिया जाता है। सोने के समय औषधि बन्द रहती है। इस प्रकार उपचार से ६० प्रतिशत रोगियों में ३६ घण्टे में रक्तस्राव बन्द हो जाता है या विशेषतया कम हो जाता है। इसके पश्चात् औषधि का प्रयोग धीरे-धीरे घटाया जाता है। एक सप्ताह तक ५ मिलीग्राम नित्यप्रति और दूसरे सप्ताह में २·५ मिलीग्राम प्रति दिन देकर तब उसको बन्द करना उचित है।

इतनी मात्रा से हानिकारक लक्षण उत्पन्न होने की बहुत सम्भावना रहती है। इस कारण कई चिकित्सक 'प्रिमेरीन' (Conjngated equino oestrogen) के २ मिलीग्राम का एक अन्तर्शिरीय इन्जेक्शन देने के पश्चात् आवश्यकतानुसार ४ से १२ घण्टे के अन्तर से तीन या चार बार फिर इन्जेक्शन देते हैं। इसके प्रयोग से दुष्परिणाम कम होते हैं।

कैंसर—ईस्ट्रोजन योगों का विशेष उपयोग स्तन (Breast) और पुरस्थ ग्रन्थि (Prostate gland) के कैंसर में पाया गया है। इन दोनों दशाओं में निश्चित लाभ होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्तन—सर्वसम्मति यह है कि इन योगों से उस दशा में विशेष लाभ होता है जब अर्बुद इतना विस्तृत हो गया हो कि वह शल्य क्रिया की सीमा से बाहर हो चुका हो, उसके उच्छेदन से रोगी के जीवन को संकट उपस्थित होने की आशंका हो। उपयुक्त प्रभाव के लिये रोगी को इन योगों की प्रचुर मात्रायें देनी पड़ती हैं। ५० मिलीग्राम प्रतिदिन तक प्रयोग कराया जाता है। १५ मिलीग्राम से कम न होना चाहिये। इस हेतु मात्रा के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं है। प्रत्येक रोगी पर उसके प्रभाव और विषैले लक्षणों के अनुसार चिकित्सक को मात्रा का निश्चय करना पड़ता है।

पुरस्थ ग्रन्थि—ईस्ट्रोजनों की क्रिया से कैंसरयुक्त पुरस्थ का संकोच होता है। कुछ विद्वान् इसको ऐसी दशा में लाभदायक मानते हैं जब ग्रन्थि उच्छेदनीय न रही हो। अन्य विद्वान् प्रारम्भिक दशा में भी इसको प्रयोग कराने के पक्ष में हैं। इस दशा में भी स्टिलबीस्ट्रौल या अन्य योगों को १५ मिलीग्राम से कम मात्रा में न देना चाहिये।

पुरुषों में—१५ मिलीग्राम स्टिलबीस्ट्रोल के प्रतिदिन प्रयोग से कुछ ही दिनों में पुरुष की मैथुन की इच्छा नष्ट हो जाती है और एक या दो मास के प्रयोग से वह नपुंसक हो जाता है। अतएव जिन व्यक्तियों में मैथुन प्रवृत्ति अत्यधिक होकर रोग का रूप धारण कर लेती है उनकी चिकित्सा में ये योग लाभदायक होते हैं।

मुहासों (Acne) में ये योग लाभकर पाये गये हैं। जहाँ मुहासों की उत्पत्ति से चेहरे पर चिह्न पड़कर कुरूप हो जाने का डर हो ऐसे व्यक्तियों, विशेषकर लड़कियों में स्टिलबीस्टरौल का प्रयोग किया जाता है। ३ मिलीग्राम स्टिलबीस्टरौल प्रतिदिन तीन सप्ताह तक दिया जाता है।

ईस्ट्रोजन योग—बाजार में निम्नलिखित योग बिकते हैं—

प्राकृतिक योग

१. ईस्ट्राडियोल, ईस्ट्रियोल, ईस्ट्रोन—खाने के लिये।

२. ईस्ट्राडियोल डाईप्रोपियोनेट—अन्तर्पेशी इन्जेक्शन के लिये।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३. ईस्ट्राडियोल साइक्लोप्रोपियोनेट—अन्तर्पेशी इन्जेक्शन के लिये।

४. ईस्ट्राडियोल मोनोवेन्जोएट—अन्तर्पेशीय इन्जेक्शन के लिये।

५. ईस्ट्राडियोल वैलेरियेनेट—अन्तर्पेशी इन्जेक्शन के लिये।

६. प्रिमेरिन (Conjngated equino estrogen)—खाने के लिये तथा अन्तर्पेशी इन्जेक्शन के लिये।

संश्लिष्ट योग

७. स्टिलबीस्ट्रौल—खाने तथा अन्तर्पेशीय इन्जेक्शन के लिये।

८. डाइनीस्ट्रोल—खाने तथा लगाने (मरहम) के लिये।

९. इथाइल ईस्ट्राडियोल—खाने और इन्जेक्शन के लिये।

प्रयोग विधि—इनमें स्टिलबीस्ट्रोल का अधिक प्रयोग होता है। मुँह से खाने पर इसका तथा अन्य योगों का पूर्ण प्रभाव होता है। स्टिलबीस्ट्रोल की अपेक्षा मोनोवैन्जोएट डाई प्रोपियोनेट तथा साइक्लोप्रोपियोनेट योगों का (जो ऐस्टर हैं) प्रभाव अधिक चिरस्थायी होता है। इस अन्तिम योग तथा वैलेरियेनेट योग की एक मात्रा का प्रभाव तीन सप्ताह तक बना रहता है।

ईस्ट्राडियोल के अत्यन्त सूक्ष्म कण भी बनाये जाते हैं जिनके अन्तर्पेशी इन्जेक्शन के पश्चात् उनका धीरे-धीरे अवशोषण होता है। और इस प्रकार उनका प्रभाव तीन या चार सप्ताह तक बना रहता है। ईस्ट्राडियौल की ५० और १०० मिलीग्राम की गोली भी बनती हैं जिनको त्वचा के गहरे भाग में या पेशी के भीतर रख दिया जाता है। कुछ गोलियों का प्रभाव नौ मास तक रहता बताया जाता है।

विषाक्तता—ईस्ट्रोजिनों के प्रयोग से दो प्रकार के दुष्परिणाम पाये गये हैं। शिरपीड़ा, जी मिचलाना, चक्कर आना, वमन तथा दौर्बल्य आदि ऐसे प्रभाव हैं जो शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं। कुछ रोगियों में तो औषधि की मात्रा भी नहीं घटानी पड़ती। कुछ दिन तक प्रयोग के पश्चात् वे स्वयं ही जाते रहते हैं। स्टिलबीस्ट्रौल की अधिक मात्रा के प्रयोग से ये कष्ट-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दायक लक्षण तथा उपद्रव उत्पन्न होते हैं। १ मिलीग्राम स्टिलबीस्ट्रौल प्रति दिन प्रयोग करने से वे नहीं होते। किन्तु जब गर्भाशय से रक्तस्राव या कैंसर आदि में उसकी बड़ी मात्रायें प्रयोग करनी पड़ती हैं तो उनसे उपद्रव और कष्ट उत्पन्न हो सकते हैं। यह पाया गया है स्टिलबीट्रौल की अपेक्षा प्राकृतिक ईस्ट्रोजिन, ईस्ट्रोन या प्रिमेरिन तथा डाईनीस्टरोल से ऐसे लक्षण नहीं उत्पन्न होते।

उग्र उपद्रवों में योनि से स्राव, गर्भाशय से रक्तस्राव, स्तनों का सूज जाना और उनमें पीड़ा तथा अंगों पर सूजन आ जाना विशेष हैं। ये उपद्रव अधिक मात्राओं के दीर्घकाल तक प्रयोग से उत्पन्न होते हैं। प्रयोग बन्द कर देने से जाते रहते हैं।

कुछ विद्वानों का विचार है अधिक समय तक ईस्ट्रोजिनों को प्रयोग करने से कैंसर उत्पन्न हो सकता है। अन्य विद्वान् भी इसकी संभावना स्वीकार करते हैं। किन्तु प्रयोगशालाओं में जन्तुओं को कई वर्ष तक ईस्ट्रोजन प्रयोग करवाने पर कुछ में ऐसे चिन्ह पाये गये।

२. प्रोजैस्टरोन (Progesterone)

यह डिम्ब ग्रन्थि का दूसरा हारमोन है जो प्रत्येक मास में एक बार स्त्रियों को आर्त्तव होता है। प्रायः आर्त्तव २८ दिन के अन्तर से होता है। यह आर्त्तव चक्र (Menstrual Cycle) कहलाता है। इस काल में डिम्ब ग्रन्थि में कई प्रकार के परिवर्त्तन होते हैं। कुछ आर्त्तव के पूर्व होते हैं, कुछ आर्त्तव काल में होते हैं और कुछ परिवर्त्तन आर्त्तव के पश्चात्-काल में होते हैं। कुछ स्त्रियों में आर्त्तव चक्र ३० दिन का होता है।

आर्त्तव चक्र के मध्य काल में, आर्त्तव प्रारम्भ होने के लगभग १४ दिन पश्चात् डिम्ब ग्रन्थि से एक डिम्ब निकलता है। इसको डिम्बक्षरण (Ovulation) कहते हैं। कन्या जब युवती हो जाती है तब उसकी डिम्बग्रन्थि में डिम्ब परिपक्व (Maturation) होते हैं और नष्टार्त्तव के समय तक होते रहते हैं। प्रत्येक मास में एक डिम्ब परिपक्व होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(Menopause) सूक्ष्म बिन्दु के समान डिम्ब एक पुटिका में बन्द रहता है जो जल के बुदबुदे की भाँति बढ़ता रहता है और भीतर से सरकता हुआ डिम्ब-ग्रन्थि के पृष्ठ पर आकर आर्त्तव से लगभग १४ वें दिन पर फट जाता है जिसमें से पक्व डिम्ब निकलता है। इस पुटिका को ग्रेफ़ियन फ़ौलिकिल (Graffian follille) कहते हैं। इसमें डिम्ब बन्द रहता है। पहले यह पुटिका डिम्ब-ग्रन्थि के मध्य भाग में रहती है। ज्यों-ज्यों यह परिपक्व होती है इसका आकार बढ़ता जाता है और वह ग्रन्थि के पृष्ठ की ओर बढ़ती जाती है। पक्व होने पर वह आर्त्तव चक्र के मध्य में ग्रन्थि के पृष्ठ पर पहुँच कर फट जाती है और उसके भीतर से पक्व डिम्ब निकल कर डिम्ववाहिनी के अन्त पर लगी हुई झालर द्वारा वाहिनी के भीतर खिंच सा जाता है। वह डिम्ब वाहिनी के भीतर गर्भाशय की ओर को चल देता है। गर्भाशय की ओर से शुक्राणु डिम्ववाहिनी में आता है और झल्लरी प्रान्त की ओर को यात्रा करता है। इस यात्रा में डिम्ववाहिनी में कहीं पर वह डिम्ब से मिल जाता है। दोनों का संयोग होता है जिसको संसेचन (Fertilisation) कहते हैं और गर्भस्थापना हो जाती है।

जब डिम्ब-पुटिका या ग्रेफियन फौलिकिल फटता है तो उसके भीतर स्थित डिम्ब तथा द्रव दोनों निकल जाते हैं। इससे भीतर भार के अकस्मात् कम हो जाने से चारों ओर की सूक्ष्म रक्त केशिकाओं से रक्त निकल कर रिक्त स्थान में भर जाता है। उसके जमने से रक्त का थक्का बनता है जो कुछ समय में संकुचित हो जाता है। उसका रंग पीला हो जाता है और अन्त को वह डिम्बग्रन्थि ही का एक भाग बन जाता है। यह पीत पिण्ड (Corpus luteum) कहलाता है। यदि गर्भस्थापना हो जाती है तो पीत पिण्ड के आकार में वृद्धि होती है और वह गर्भकाल के अन्त तक बना रहता है। गर्भ न रहने पर उसका आकार छोटा हो जाता है और आर्तव काल के अन्त तक उसका पूर्ण शोषण हो जाता है। अगले आर्त्तव में फिर ऐसा ही होता है। यह पीत पिण्ड ही प्रोजैस्टरोन नामक हारमोन बनाता है जिसकी विशेष क्रिया गर्भ का पोषण करती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पीत पिंड को गत शताब्दी के अन्त तक एक निरर्थक वस्तु समझा जाता था जो रक्तस्राव से जमे हुए रक्त के अतिरिक्त कुछ नहीं था। सन् १९०३ में लुडविग फ्रेंकिल ने अन्वेषणों के पश्चात् यह घोषित किया कि पीत पिंड एक उपयोगी अंग है जो गर्भ की रक्षा करता है। सन् १९२९ में कार्नव और ऐलेन नामक विद्वान् पीत पिंड के हारमोन को पृथक् करने में सफल हुए तथा अन्य कितने ही अन्वेषकों के उद्योग से यह हारमोन सन् १९३४ में क्रिस्टली चूर्ण के रूप में प्राप्त हुआ। इसको सर्वसम्मति से प्रोजैस्टरोन कहा गया और उसका रासायनिक संघटन तथा परीक्षा की विधि भी निकाली गई।

प्रौजैस्टरोन की क्रिया—इस हारमोन की विशिष्ट क्रिया गर्भाशय को संसेचित डिम्ब अथवा गर्भधारण करने के लिये तैयार करना और गर्भकाल में उसको गर्भपोषण की शक्ति देना है। इसके प्रभाव से आर्त्तव द्वारा गर्भाशय का अन्तः स्तर (endometrium) नया हो जाता है। संसेचित डिम्ब के गर्भाशय में आरोपित हो जाने पर इसके प्रभाव से अपरा (Placenta) की उत्पत्ति में सहायता मिलती है। गर्भाशय के पेशीस्तर में भी वृद्धि होती है और पेशीसूत्रों की संकोचशीलता भी बढ़ती है। साधारणतया गर्भाशय के प्रत्येक भाग को बलवान् बनाता है।

प्रोजैस्टरोन की क्रिया से स्तनों में दुग्धोत्पादक कोष्ठों की वृद्धि होती है। यह शरीर से सोडियम के त्याग को घटा देता है। इस कारण शरीर से जल का स्राव भी घट जाता है जिससे पाँवों और टांगों में सूजन आने की प्रवृत्ति होती है।

चिकित्सा में उपयोग—यह कहना अत्युक्ति न होगा कि इस हारमोन को चिकित्सा में उपयोगी नहीं पाया गया है। यद्यपि इसका गर्भरक्षक प्रभाव सर्वमान्य है तथापि गर्भस्राव रोकने में उसका प्रयोग सफल नहीं प्रमाणित हुआ है। कुछ चिकित्सकों का तो मत है कि प्रोजैस्टरोन गर्भस्राव को रोकता नहीं वरन् बढ़ाता है। उससे गर्भस्राव शीघ्र हो जाता है। कुछ स्त्रियों को बार बार गर्भस्राव हो जाता है। उनमें भी इसके प्रयोग से कोई सन्तोषजनक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिणाम नहीं हुये हैं। जिन रोगियों को लाभ हुआ कहा गया है उनमें भी इसमें सन्देह है कि लाभ इस योग से हुआ अथवा मानसोपचार तथा प्राकृतिक कारणों से गर्भस्राव होना बन्द हुआ।

आर्त्तव सम्बन्धी विकृतियों में भी उसका प्रयोग निश्चयपूर्वक सफल नहीं प्रमाणित हुआ है। मैट्रोपैथिया हैमरेजिका में जिसका उल्लेख किया जा चुका है इससे अवश्य लाभ होता है। १२ से २० मिलीग्राम नित्य प्रति इंजेक्शन द्वारा देने से पाँच दिन में रक्तस्राव कम हो जाता है। किन्तु आजकल इथाइनिल ईस्ट्रेडियोल के साथ प्रोजैस्टरोन दिया जाता है। इस रोग का कारण रक्त में ईस्ट्रोजिनों की न्यूनता मानी जाती है। इस कारण उस न्यूनता की पूर्ति के लिये ०·०५ मिली ग्राम इथाइनिलएस्ट्रोडियोल दिन में तीन या चार बार या रोग की उग्रता के अनुसार अधिक बार, २४ दिन तक दिया जाता है। अन्तिम दस दिनों में अर्थात् १५वें दिन से ऐथीस्टरोन (Ethisterone–प्रोजैस्टरोन के समकक्ष) १० से २० मिली ग्राम दिन में तीन बार दिया जाता है। प्रायः ७ दिन के पश्चात् फिर रक्तस्राव प्रारम्भ हो जाता है। तब उपर्युक्त के समान चिकित्सा क्रम फिर प्रारम्भ कर दिया जाता है और २४ दिन तक जारी रखा जाता है। किन्तु इथाइनिलीस्ट्रीडियोल की मात्रा केवल ०·०५ मिली ग्राम प्रतिदिन से नहीं बढ़ाई जाती। आवश्यक होने पर ऐसा तीसरा क्रम भी दे सकते हैं।

पीयूषग्रन्थि का डिम्बग्रन्थि की क्रिया पर प्रभाव—इसका वर्णन आगे चलकर पीयूष ग्रन्थि के साथ किया जायगा। यहाँ इतना उल्लेख करना पर्याप्त है कि पीयूषका में डिम्बग्रन्थि की क्रियाओं को प्रभावित करने वाले तीन हारमोन बनते हैं जो ग्रैफियन पुटिका के परिपक्वीकरण, पीतपिंड की उत्पत्ति और स्तनों में दुग्धोत्पत्ति का कारण होते हैं। इनको (१) पुटिकोद्दीपक (F. S. H–follicle stmiualating Hormone) (२) पीतोत्पादक (L. H.–leutinising Horomone) तथा (३) दुग्धोत्पादक (Prolactin) हारमोन कहते हैं। प्रथम हारमोन ग्रैफिमन पुटिका परिपक्व

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

करता है जिससे डिम्ब शुक्राणु से संयोग करने के योग्य होता है। यही ईस्ट्रोजिनों को उत्पन्न करता है। दूसरा हारमोन पीत पिंड के निर्माण और उसकी सक्रियता के लिए उत्तरदायी है। तीसरे से स्तनों में दुग्ध की उत्पत्ति बढ़ती है।

पुरुष हारमोन–एन्ड्रोजन (Androgens)

पुरुष हारमोनों को ऐन्ड्रोजन (Androgens) के सामूहिक नाम से पुकारा जाता है। इन योगों की संख्या बहुत है। ईस्ट्रोजिन की भाँति ये भी प्राकृतिक और संश्लिष्ट दो प्रकार के होते हैं। रासायनिक विधियों से प्राकृत हारमोनों के समान रासायनिक पदार्थ अनेक कम्पनियों द्वारा बनाये गये हैं जिन्होंने अपने पदार्थों को पृथक्-पृथक् नाम दिये हैं। बाज़ार में इनकी बहुत संख्या पाई जाती है।

शरीर में पुरुष हारमोन अंड ग्रन्थि में बनता है। उसकी रासायनिक रचना भी स्टिराइड केन्द्रक पर आश्रित है। यह बताया जा चुका है कि स्टिराइड केन्द्रक पर आधारित ईस्ट्रोजनों और ऐन्ड्रोजनों की रासायनिक रचना में बहुत थोड़ा भेद है। एक परमाणु के घटाने-बढ़ाने से एक हारमोन दूसरे में परिवर्त्तित हो जाता है।

पुरुष हारमोन जो अंडग्रन्थि में उत्पन्न होता है और व्यक्ति में पुरुषत्व के लक्षण उत्पन्न करता है **टैस्टौस्टेरोन** (Testosterone) कहलाता है। इसही के समान रासायनिक रचनावाले कुछ पदार्थ मूत्र में निकलते रहते हैं। यद्यपि इनकी रचना टैस्टौस्टेरोन के समान होती है किन्तु पुरुषत्व की उत्पत्ति में उनका कोई प्रभाव नहीं होता। ये पदार्थ (Neutral 17–Ketosteroids) अधिवृक्क के प्रान्तस्था की सक्रियता के फल होते हैं।

क्रिया—टैस्टौस्टरोन या पुरुष हारमोन पुरुष के सब गुणों के लिए उत्तरदायी है। पुरुषत्व उत्पन्न करने वाला यही हारमोन है। मैथुन शक्ति तथा मैथुनेच्छा इसी के कारण उत्पन्न होती है। इसकी कमी से दोनों का ह्रास होता है यद्यपि नपुंसकता अन्य कारणों से भी हो सकती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इस हारमोन की न्यूनता से दाढ़ी मूंछ नहीं उगती। वक्ष पर भी बाल नहीं उगते। स्त्रियों की सी बारीक बोली हो जाती है। शरीर की उठान रुक जाती है। शिश्न की वृद्धि नहीं होती। शरीर में जहाँ तहाँ वसा एकत्र हो जाती है, विशेषकर नितम्ब और स्तन प्रान्त में। उदर भी सामने को निकल आता है। स्त्रियों की ओर कोई आकर्षण नहीं होता।

न केवल शारीरिक किन्तु मानसिक परिवर्त्तन भी हो जाते हैं। व्यक्ति में साहस नहीं होता। चित्त उत्साह हीन होता है। स्त्रियों के सामने उसको संकोच होता है, लज्जा अनुभव होती है। व्यक्तित्व ही बदल जाता है।

योग—टैस्टेरोन के कई योग बाजार में मिलते हैं। टैस्टेरान (साधारण) टैस्टेरोन प्रोपियेनेट, मिथाइल टैस्टेरोन, टैस्टेरोन ओइनेन्थियेट तथा अन्य कुछ योगों की १०, २५, ५० और १०० मिलीग्राम की खाने की टिकिया, इन्जेक्शन के एम्पूल तथा कुछ मरहम भी बनाये जाते हैं। २५० मिलीग्राम की प्रावरणी (Fascia) के नीचे रखने की टिकियाँ बनाई जाती हैं। २ या ३ मास के लिए एक टिकिया पर्याप्त होती है।

चिकित्सा में प्रयोग—इसके प्रयोग से विशेषतया और शीघ्र ही उस दशा में लाभ होता है जो इस हारमोन की न्यूनता से उत्पन्न होती है। नपुंसकता पीयूषिका की न्यूनता तथा शुक्रोत्पादन ह्रास से भी हो सकती है। कुछ रोगियों के वीर्य में शुक्राणु नहीं होते। मानसिक विकार भी नपुंसकता उत्पन्न कर सकते हैं। इन दशाओं में इससे विशेष लाभ नहीं होता।

हारमोन न्यूनताजन्य नपुंसकता या क्लैब्य में लाभ के लक्षण शीघ्र ही प्रकट हो जाते हैं। शिश्न प्रहर्ष होने लगता है। मुख और वक्ष पर बाल भी उगते हैं किन्तु अधिक नहीं। रोगी के चित्त में उत्साह हो जाता है और जीवन अधिक रुचिकर प्रतीत होता है। स्फूर्त्ति प्रतीत होती है। शरीर में बल भी प्रतीत होता है। मानसिक दशा ही बदल जाती है। शरीर भार बढ़ सकता है।

पीयूषिका न्यूनता के कुछ रोगियों में भी लाभ प्रतीत होता है। उनके शरीर की वृद्धि होने लगती है और कभी कभी युवावस्था के प्रारम्भ में जैसी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वृद्धि होती है वैसी ही हो जाती है। इस हारमोन के प्रयोग से वृद्धिकाल में अस्थियों के सिरे (Epiphyses) या वर्धक प्रान्त शीघ्र ही अस्थि के गात्र से जुड़ जाते हैं जिसके पश्चात् अस्थि की वृद्धि रुक जाती है। इस कारण अनेक विद्वान् इस हारमोन के प्रयोग के विरुद्ध हैं।

इस हारमोन का दूसरा विशेष उपयोग स्तन और पुरुस्थ के कैंसर में पाया गया है। २५ से १०० मिलीग्राम टैस्टौस्टरोन सप्ताह में तीन बार अन्तर्पेशी इन्जेक्शन द्वारा दिया जाता है। मिथाइल टैस्टौस्टरोन १०० मिली-ग्राम तक नित्य प्रति खिलाया जा सकता है। इससे अधिक मात्रा से कोई विशेष लाभ नहीं प्रतीत होता। इसके प्रयोग से स्तनों में उत्पन्न हुये अर्बुद पिण्डों की पीड़ा शीघ्र ही कम हो जाती है। अस्थि के अर्बुदों के कारण हुई पीड़ा में भी कमी होती है। किन्तु अर्बुद पिण्डों के आकार में कमी होती है या नहीं, वे कितने संकुचित होते हैं यह अनिश्चित है। एक्स-रे द्वारा ही इसका अनुमान किया जा सकता है। ५० प्रतिशत से अधिक रोगियों को लाभ नहीं होता और जिनको होता भी है वह अस्थायी रूप से होता है। उनके जीवनकाल में तीन मास से अधिक वृद्धि नहीं पाई गई है। यद्यपि पीड़ा की कमी सामान्य स्वास्थ्य का उन्नत होना, भूख लगना आदि लक्षण कितने ही रोगियों में पाये जाते हैं किन्तु अर्बुदोत्पत्ति में कमी या संकोच २० प्रतिशत से अधिक में नहीं मिलती और न उनका अन्त ही बहुत समय तक रुकता है। तो भी रोगियों को आराम मिलता है।

पुरस्थ ग्रन्थि के कैन्सर के लिये ईक्ट्रोजनों का प्रयोग किया जाता है। यह पाया गया है कि स्त्रियों के कैंसर में पुरुष हारमोन उपयोगी होते हैं और पुरुषों के कैन्सर में स्त्री हारमोन।

स्त्री और पुरुष हारमोनों की विपरीतता—स्त्री और पुरुष हारमोनों का प्रभाव एक दूसरे के विपरीत होता है। स्त्री हारमोन से स्त्रीत्व के लक्षण उत्पन्न होते हैं और पुरुष हारमोन से पुरुषत्व के। इस कारण जब स्त्रियों को पुरुष हारमोन या पुरुष को स्त्री हारमोन प्रयोग कराये जायँ तो इसका उचित ध्यान रखना आवश्यक है। उनके दीर्घकाल तक प्रयोग से स्त्रियों

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में पुरुषत्व के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। दाढ़ी मूंछ निकल सकती है, बोली में भारीपन आ सकता है तथा मानसिक भाव भी पुरुषों के समान हो सकते हैं। इसी प्रकार पुरुष में स्तन वृद्धि, बोली का बारीक हो जाना तथा मानसिक परिवर्तन होना सम्भव है।

प्रयोग—यद्यपि पुरुष हारमोन के योगों की संख्या बहुत हैं तो भी टैस्टौस्टरोन, टैस्टौस्टोरन-प्रोपियेनेट तथा मिथाइल-टैस्टौस्टरोन अधिक प्रयोग में आते हैं। टैस्टौस्टरोन के २५ मिलीग्राम के जलीय घोल के इन्जेक्शन के ऐम्पूल तथा १० मिलीग्राम की जिह्वा के नीचे रखने की टिकिया बनाई जाती है। इसका मरहम तथा गुदवर्त्ति भी बनती हैं। टैस्टौस्टरोन-प्रोपियोनेट के तैल में बने घोल का इन्जेक्शन दिया जाता है। इसका अवशोषण धीरे-धीरे होता है। इसके जलीय घोल के ५, १०, २५ और ५० मिलीग्राम के ऐम्पूल भी बनते हैं तथा मरहम भी तैयार किया जाता है। मिथाइल-टैस्टौस्टरोन की ५, १०, २५ और ५० मिलीग्राम की टिकिया बनाई जाती हैं।

टैस्टौस्टरोन और उसके प्रोपियोनेट योग के १०० और २५० मिलीग्राम के आरोप भी तैयार किये गये हैं। जिनको त्वचा के गहरे भाग में या प्रावरणी के नीचे स्थापित कर दिए जाते हैं।

मिथाइल टैस्टौस्टरोन २५ मिली ग्राम का प्रति तीसरे दिन इंजेक्शन या २२ मिली ग्राम की टिकिया प्रतिदिन रोगी को दी जाती है। यह मात्रा पर्याप्त समझी गई है। २५० मिली ग्राम का एक इंजेक्शन एक या डेढ़ महीने पर दिया जाता है।

अधिवृक्क ग्रन्थि (Adrenal glands)

मनुष्य के शरीर में ये ग्रन्थियाँ एक उदर में दोनों ओर वृक्कों के ऊपरी सिरे के ऊपर मुर्गे के सिर पर कलगी के समान स्थित है। प्रत्येक वृक्क के ऊपर एक ग्रन्थि टोपी की भांति बैठी हुई है। ये त्रिकोणाकार मटमैले या भूरे रंग की छोटी ग्रन्थियाँ जीवन के लिए महत्वशाली प्रमाणित हुई हैं। इनके बीच के भाग में जिसको अन्तस्था (Mednlla) कहते हैं उसमें एड्रिनेलिन नामक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हारमोन बनता है। इसको अब एपीनेफ्रिन (Epinephrin) कहा जाता है। इसकी खोज १९ वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में कई विद्वानों द्वारा हो चुकी थी। इस ग्रन्थि की क्रिया का अन्वेषण करनेवालों में ब्राउन-सीकर्ड और ऐडीसन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सन् १८९१ में ब्राउन सीकर्ड ने लिखा था कि 'इन ग्रन्थियों में बनने वाले हारमोन शारीरिक स्वास्थ्य और कार्यदक्षता के लिये बहुत आवश्यक हैं।' सन् १८९४ में शेफ़र और औलिवर ने इस हारमोन के रक्त-दाब बढ़ाने वाले अवयव का पता लगाया और १८९७ में आबेल क्राफर्ड ने उसको ग्रन्थि के सत्व से प्राप्त किया तथा सन् १९०० में जापानी रसायनज्ञ टाकामीन ने इसको ऐड्रिनेलिन का नाम दिया और उसके क्रिस्टलीय कणों को सत्व से बनाया। यह वस्तु बड़ी प्रबल रक्त-दाब बढ़ाने वाली औषधि प्रमाणित हुई है तथा कई प्रकार के विषैले प्रभावों का निराकरण करती है।

इसके पश्चात् भी बहुत समय तक ग्रन्थि के बाहरी भाग जिसको बहिस्था (Cortex) कहते हैं उसकी क्रिया की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। उसको ग्रन्थि का केवल एक भाग समझा जाता था। किसी को इसका आभास तक नहीं हुआ था कि ग्रन्थि का यह सूक्ष्म भाग जीवन के लिये आवश्यक कई पदार्थों को तैयार करता है। सन् १९३१ में स्विंगिल और फ़ाइफ़नर (Swingle, Pfiffner) नामक विद्वानों का ध्यान इस ओर गया। इन्होंने देखा कि जिन जन्तुओं के शरीर से इस ग्रन्थि को निकाल दिया जाता था उनको ग्रन्थि से तैयार किये हुये सत्व (Extract) देने से वे स्वस्थ हो जाते थे। जिनमें केवल बहिस्था भाग निकाला गया उनकी शारीरिक दशा ठीक बनी रही।

बहिस्था भाग की न्यूनता से वह दशा उत्पन्न होती है जिसके 'ऐडीसन का रोग' (Addisson's Disease) कहते हैं। इस रोग की बहुत छान-बीन की गई है। यद्यपि यह रोग बहुत कम होता है तो भी ग्रन्थि के संबंध में किये गये अन्वेषणों के कारण इस रोग के नाम की प्रसिद्धि हो

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गई है। सबसे पूर्व ऐडीसन ने इस रोग का वर्णन किया था। इस कारण इसका नाम ऐडीसन के नाम पर रख दिया गया है। ऐडीसन के शब्दों में इस रोग के विशेष लक्षण 'रक्ताल्पता, दौर्बल्य तथा शिथिलता, हृदय की क्रिया की मन्दता, आमाशय का क्षोभ तथा त्वचा के वर्ण का परिवर्त्तन' हैं। चर्म पर गहरे रंग के क्षेत्र बन जाना (मिलेनिन वर्णक कणों के एकत्र हो जाने से), शरीर क्षय के कारण शरीर भार का ह्रास, दुर्बलता प्रतीत होना, रक्त दाब की न्यूनता तथा रक्त में ग्लूकोज की भी न्यूनता ये रोग के विशिष्ट लक्षण तथा चिह्न हैं। शरीर भार क्षय का विशिष्ट कारण शरीर के तन्तुओं में जल का ह्रास होना है। जल के साथ सोडियम क्लोराइड का परित्याग भी बढ़ जाता है। इससे रोगी को नमक अधिक खाने की इच्छा होती है। साथ ही पोटासियम के लवणों का परित्याग न होकर उनका वृक्कों की अणुनलिकाओं द्वारा पुनः अवशोषण होता है। इससे शरीर में सोडियम तथा पुटासियम के लवणों (Ions) की जो साम्यता या उनका संतुलन रहता है वह बिगड़ जाता है। प्रोटीन, स्नेह तथा कार्बोहाइड्रेट का सारा चयापचय ही विकृत हो जाता है। अतः शरीर को उचित पोषण नहीं मिलता।

प्रयोग शालाओं में जिन जन्तुओं में अधिवृक्क ग्रन्थियों को निकाल दिया गया उनमें उपर्युक्त के समान लक्षण उत्पन्न हो गये। जब उनको ग्रन्थि के सत्व के इञ्जेक्शन दिये गये तो उनका स्वास्थ्य पुनः सुधर गया। ग्रन्थि के बहिस्था भाग के सत्व के इंजेक्शनों से भी स्वास्थ्य पूर्ववत् बना रहा। ऐसे ही प्रयोगों द्वारा यह पता लगा कि इस रोग के लिये ग्रन्थि के बहिस्था भाग का हारमोन उत्तरदायी है।

बहिस्था भाग के हारमोन—इस भाग के हारमोन से ३० रासायनिक अवयवों से भी अधिक पृथक् किये जा चुके हैं। विचित्रता यह है कि सबों की रचना का आधार वही स्टिराइड केन्द्रक (Sterold nucleus) है जिसका स्त्री और पुरुष हारमोनों के संबंध में उल्लेख किया जा चुका है। इसी स्टिराइड केन्द्रक से कोलेस्टरोल बनता है जो पित्ताशय की अश्मरियों

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का प्रधान अवयव होता है। अति रक्त-दाब का यह किस प्रकार कारण बनता है यह उस विषय के संबंध में बताया जा चुका है। अतएव आज कल जो हारमोन योग बनाये जाते हैं वे कौलैस्टरोल को लेकर उस पर अनेक रासायनिक क्रियायें करके उसके रासायनिक रूप के परिवर्त्तन से बनते हैं। यह पदार्थ बहुतायत से और सहज में मिल जाता है।

जो ३० अवयव ग्रन्थि के सत्व से पृथक् किये गये हैं उनमें कार्टीसोन और हाइड्रोकार्टीसोन (Cartisone, Hydrocrartisone) दो विशिष्ट अवयव हैं। चिकित्सा में इनके प्रयोग से अद्भुत लाभ हुआ है। ये दोनों योग चिकित्सा जगत् में क्रान्तिकारी प्रमाणित हुए हैं। विशेष बात यह है कि जिन रोगों में कोई सामान्य कारण नहीं पाया जाता, जिनमें अंगों में उत्पन्न हुई विकृतियों का रूप भी बिल्कुल विपरीत है उनके लक्षणों का शमन करने में इनके प्रयोग से सफलता मिलती है। इनके स्थानिक प्रयोग से नेत्र का शोथ शान्त होता है। संधियों के वात रोग (Rheumatic Arthritis, Rheumatoid Arthritis), चोट के कारण संधिशोथ, आन्त्रशोथ तथा व्रण, नाड़ीशोथ, चर्मरोग, फुप्फुस के कुछ रोग, रक्ताल्पता (Hemolytic Anaemia) तथा अन्य कितने ही भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगों में इन पदार्थों से बहुत लाभ होता है। यद्यपि वे रोग को समूल नष्ट करने में समर्थ नहीं होते तो भी रोगी के लक्षणों का बहुत कुछ शमन हो जाता है और रोगी को विश्राम मिलता है।

कार्टीसोन और हाइड्रोकार्टीसोन के अतिरिक्त स्त्री और पुरुष हारमोन ईस्ट्रोजन और ऐन्ड्रोजन भी सत्व से पृथक् किये जा चुके हैं। यही कारण है कि अण्ड ग्रन्थि या डिम्बग्रन्थि का सम्पूर्ण उच्छेदन करने पर भी, पुंस्त्व और स्त्रीत्व का पूर्ण नाश नहीं होता। शेष अवयवों में कम से कम ६ ऐसे अवयव हैं जिनकी क्रिया सम्पूर्ण सत्व के समान होती है। उनमें से तीन का सम्बन्ध जल और सोडियम पोटासियम खनिजों के चयापचय से है। वे इन खनिजों का और उसी के अनुसार जल का शरीर से त्याग या संचय

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

घटाते बढ़ाते हैं। दूसरे समूह के चार अवयव रक्त में ग्लूकोज की मात्रा बढ़ाते हैं।

ये सब अवयव क्रिस्टली कणों के रूप में पृथक् किए गए हैं तथा उनकी रासायनिक रचना का अध्ययन करके उनको संश्लेषण द्वारा तैयार किया गया है। अधिकतर इन संश्लिष्ट पदार्थों का ही प्रयोग किया गया है। इन अवयवों को पृथक् करने के पश्चात् भी एक रेत के कणों के समान (amorphous) अवयव बच जाता है जिसकी क्रिया से ग्रन्थि उच्छेदित जन्तुओं का जीवन बना रहता है, किन्तु उसको बन्द कर देने से जन्तु की मृत्यु हो जाती है।

कार्टीसोन को पहले योग-ई (Compound-E) कहा जाता था। कार्टीसोन के समान ही हाइड्रोकार्टीसोन (Hydrocartesone) है जिसमें केवल एक हाइड्रोजन परमाणु कार्टीसोन में एक विशिष्ट स्थिति में जुड़ा हुआ है। दोनों में केवल इतना ही अन्तर है। विद्वानों की सम्मति में जन्तु शरीर की अधिवृक्क ग्रन्थियों के बहिस्था भाग में हाइड्रोकार्टीसोन ही बनता है, कार्टीसोन नहीं। कार्टीसोन शरीर में कहीं अन्यत्र बनता है। बहिस्था जन्य स्राव में कम से कम २० प्रतिशत हाइड्रोकार्टीसोन होता है। यही क्रियाशील अवयव है। कार्टीसोन मुँह से खिलाने पर वह शरीर में हाइड्रोकार्टीसोन में परिवर्तित हो जाता है। कार्टीसोन की अपेक्षा हाइड्रो-कार्टीसोन अधिक क्रियाशील होता है।

पीयूषिका ग्रन्थि के अग्र खंड के उस हारमोन से जिसको सामान्यतया ACTH के नाम से पुकारा जाता है इस हारमोन का गहरा सम्बन्ध है। ACTH का पूरा नाम Adrenocorticotrophic hormone है। इसके इंजेक्शन देने से कार्टीसोन की उत्पत्ति बढ़ जाती है। मालूम होता है कि पीयूषिका अधिवृक्कों की कार्टीसोनों के निर्माण की क्रिया का भी नियन्त्रण करती है जिस प्रकार वह शरीर की अन्य अनेकों क्रियाओं पर अपना प्रभुत्व जमाये हुये है। स्वयं ACTH की वे ही क्रियायें होती हैं जो कार्टीसोनों की होती हैं। जब पीयूषिका के रोग से या उसकी क्षति से इस हारमोन का

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बनना बन्द हो जाता है या घट जाता है तो कार्टीसोनों की उत्पत्ति भी कम होती है।

कार्टीसोन तथा हाइड्रोकार्टीसोन की शरीर में क्रिया

१. इनकी क्रिया से रक्त में ग्लूकोज की मात्रा बढ़ जाती है। यह दो प्रकार से होता है। एक तो शरीर के ऊतकों में ग्लूकोज का उपयोग कम हो जाता है। दूसरे अमीनोअम्लों का ग्लूकोज में परिवर्तन बढ़ जाता है। इससे शरीर को प्रोटीन मिलना भी कम हो जाता है। अर्थात् ऊतकों को पर्याप्त मात्रा में अमीनोअम्ल नहीं मिल पाते जिनसे वे अपने लिये उपयुक्त प्रकार के प्रोटीन या अमीनोअम्ल तैयार कर सकें। ग्लूकोज अर्थात् शर्करा के चयापचय पर प्रभाव डालने के कारण इन हारमोनों को Clucocaroticoid हारमोन कहा जाता है।

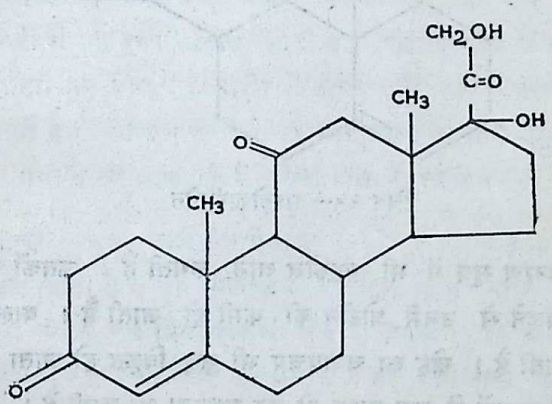

चित्र २४—कार्टीसोन

२. ये हारमोन शरीर में रोगों, आघात, शल्यकर्म, ठंड लग जाना, अति परिश्रम आदि की दशाओं के दुष्प्रभाव के निवारण करने की शक्ति उत्पन्न करते हैं। वे शरीर में ऐसी सामर्थ्य उत्पन्न करते हैं कि किसी भी प्रकार की विपरीत दशाओं को वह सहन कर सके और उनका निवारण करके अङ्गों के

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्राकृतिक कर्मों को अक्षुण्ण बनाये रखे। संक्रामक रोगों, जल जाना, अस्थि भग्न आदि दशाओं में शरीर की निवारक शक्ति को बढ़ाना इन हारमोनों का विशेष कर्म है और ऐसे समय में उनकी उत्पत्ति भी अधिक होती है।

२. इनकी अत्यधिक मात्रा से शोक की अवस्था में जो शारीरिक प्रतिक्रिया होती है वह घट जाती है जिससे घावों के भरने में बाधा पड़ती है। संक्रमण को रोकने की शक्ति कम हो जाती है। रक्त में ग्लूकोज बढ़ जाती

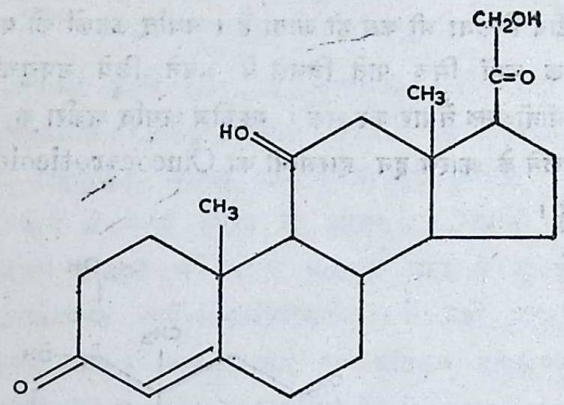

चित्र २५—हाइड्रोकार्टीसोन

है और इस कारण मूत्र में भी ग्लूकोज आने लगती है। ऊतकों को अमीनो अम्ल कम मिलने से उनमें प्रोटीन की कमी हो जाती है। बाल्यावस्था में वृद्धि रुक जाती है। स्नेह का चयापचय भी कुछ विकृत हो जाता है जिससे शरीर में कई स्थानों में वसा एकत्र हो कर स्थूलता आ जाती है।

चिकित्सा में उपयोग—तीन प्रकार की दशाओं में इन हारमोनों के योगों का प्रयोग किया जाता है (१) हारमोन न्यूनता (Defeciency) में; (२) ACTH तथा कार्टीसोनों की अत्युत्पत्ति से यौन विकास विकृत हो जाता है जिससे कुछ विशिष्ट लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस दशा को अधिवृक्क-यौन लक्षण-पुंज या adrenogenital syndrome कहा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जाता है। ये लक्षण-पुंज जननेन्द्रियों के विकास से सम्बन्ध रखते हैं जिनका नीचे वर्णन किया गया है। इन दशाओं में और कुछ (३) विशेष रोगों में जिनकी उत्पत्ति या कारण में कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। इन तीनों दशाओं का अगली पंक्तियों में विस्तृत वर्णन किया जाता है।

१. हारमोन न्यूनता (Adrenocortical defeciency)

ऐडीसन के रोग का पिछले पृष्ठों में वर्णन किया गया है। अधिवृक्क जन्य हारमोन की न्यूनता की यह विशिष्ट दशा है जिसमें हारमोन चिकित्सा अत्यन्त सफल प्रमाणित हुई है। अर्बुद आदि रोगों में ग्रन्थि का उच्छेदन करने से भी ऐसी ही दशा हो जाती है। पीयूषिका की अतिन्यूनता (hypopitutarism) का भी ऐसा ही परिणाम होता है। बहुत काल तक कार्टीसोन का प्रयोग करवाने के पश्चात् उसको अकस्मात् बन्द करने से भी अनेक रोगियों में यह दशा उत्पन्न होती है। ऐसी दशाओं में कृत्रिम प्रकार से बने हुए हारमोन योग देकर शरीर में उत्पन्न होने वाले हारमोन की कमी पूरी की जाती है। स्वास्थ्य के लिये २२ मिलीग्राम हारमोन प्रतिदिन आवश्यक पाया गया है जो अधिवृक्कों में उत्पन्न होता रहता है।

चिकित्सा—प्रायः कार्टीसोन ऐसीटेट (Cortisone acetate) का प्रयोग किया जाता है। ५० मिलीग्राम प्रतिदिन तीन मात्राओं में विभक्त करके प्रथम मात्रा २५ मिलीग्राम की ओर दो मात्रायें १२·५ मि० ग्रा० की दी जाती हैं। जब तक रोगी पर पूर्ण प्रभाव न हो जाय यही क्रम जारी रखा जाता है। रोगी के प्रभावान्वित हो जाने पर मात्रा घटा दी जाती है। १२·५ मिलीग्राम की दिन में दो मात्रा देना पर्याप्त होता है। कुछ रोगियों को जल और खनिजों के चयापचय का नियन्त्रण करने के लिए डीआक्सीकार्टोन (Deoxycartone) भी १ से २ मिलीग्राम प्रतिदिन देना आवश्यक होता है। यदि ऐसे रोगी को कोई संक्रामक रोग हो जाता है तो कार्टीसोन की मात्रा १०० से १५० मिलीग्राम प्रतिदिन बढ़ा दी जाती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

२. अधिवृक्क-यौनलक्षणपुञ्ज (adrenogenital syndrome)

ये लक्षण पीयूषिका तथा अधिवृक्कों के हारमोनों की अत्युत्पत्ति से प्रकट होते हैं। इनके अर्बुदों से भी यह दशा हो जाती है। अर्बुद न होने पर भी इन ग्रंथियों में उपर्युक्त विशिष्ट हारमोनों को उत्पन्न करने वाले अवयव जन्मतः अतिमात्रा में होते हैं जिससे हारमोन अतिमात्रा में उत्पन्न होते हैं। इनके प्रभाव शिशुकाल से ही प्रकट होने लगते हैं। जननेन्द्रिय की अति वृद्धि होती है। लड़कों में शिश्न की अतिवृद्धि हो जाती है। कन्या शिशु में भगोष्ठों की वृद्धि हो जाती है। आयु बढ़ने पर स्त्री में पुंस्त्व के गौण लक्षण उदय हो जाते हैं। कभी-कभी पुरुष शिशु की जननेन्द्रियों का विकास कन्या शिशु के समान हो जाता है। जिससे उनकी जननेन्द्रियाँ कन्या की जननेन्द्रियों के समान दिखाई देती हैं।

इस प्रकार के विपरीत विकास का कारण हाइड्रोकार्टीसोन की कमी बताई जाती है जिससे पीयूषिका में पुंस्त्वोत्पादक अवयव या पुरुष हारमोन की अतिवृद्धि हो जाती है जिससे उपर्युक्त परिणाम होते हैं।

चिकित्सा—कार्टीसोनों को अधिक मात्रा में देने से पीयूषिका जन्य हारमोन (कार्टीकोट्रोफिन) की उत्पत्ति कम हो जाती है जिससे पुरुष-हारमोन (अंडग्रंथि में) कम बनते हैं। ८ वर्ष से अधिक आयु वाले बालकों को ५० मिली ग्राम और उससे कम आयु वाले को २५ मिली ग्राम प्रतिदिन इंजेक्शन द्वारा दिये जाते हैं। मुँह से खाने पर दुगुनी या तिगुनी मात्रा आवश्यक है। प्रभावान्वित होने के पश्चात् इस मात्रा को घटाकर २५ मिली ग्राम और २ मिली ग्राम (इंजेक्शन द्वारा) प्रतिदिन कर दी जाती है। १६ वर्ष की अवस्था वाले को प्रति दो सप्ताह पर २५० मिलीग्राम का इंजेक्शन पर्याप्त है।

३. अन्य रोग

यद्यपि चिकित्सकों में कार्टीसोन तथा हाइड्रोकार्टीसोन के सम्बन्ध में मतभेद है किन्तु निम्नलिखित दशाओं में सभी एक मत से उनका उपयोग स्वीकार करते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शोथयुक्त दशायें—सब ही प्रकार के शोथों में इन योगों को लाभदायक पाया गया है। चाहे जिन अङ्गों में शोथ हो और चाहे जिस कारण से हो कार्टीसोनों के प्रयोग से लाभ होता है। सब प्रकार के शोथों को शान्त करने वाला इनमें कौन सा अवयव है और वह कारणों की भिन्नता होने पर भी किस प्रकार शोथ का शमन करता है इसका अभी तक पता नहीं चला है।

संधियों के रोग—आघातजन्य या व्रणजन्य संधिशोथ, आमवातज संध्यार्ति (rhenmatic, rheumatoid arthritis), अस्थिसंधि शोथ (osteoarthritis), आमवातज ज्वर (rheumatic fever).

ऐलर्जी (allergy) के रोग—दमा (asthma), सीरम रोग, तृण ज्वर (Hay fever), धमनी-नाडी जन्य शोथ (angioneurotic oedema).

नेत्र रोग—नेत्र के सभी शोथ युक्त रोग।

स्तब्धता—सभी प्रकार की स्तब्धता, दुर्घटनाओं में, शल्य कर्म में, दाह में तथा अन्य प्रकार से उत्पन्न हुई स्तब्धता में ये योग विशेष लाभदायक पाये गये हैं।

चर्मरोग—ल्यूपस ऐराइथिमेटोसस एक चर्म का रोग है जो विशेषकर युवतियों में पाया जाता है। मुख पर नासिका के अग्रभाग तथा उसके दोनों ओर चर्म पर रंगकरण ऐसे एकत्र हो जाते हैं जैसे कोई तितली पर फैलाकर बैठी हो। दूसरा रोग पैम्फीगस कहलाता है। इसमें बड़े-बड़े छाले बन जाते हैं जिनसे स्राव निकलता है। इन दोनों रोगों में विशेष लाभ होता है। ऐग्जिमा (पामा), त्वचार्त्ति (Dermatitis), पित्ती (Urticaria) तथा अन्य रोगों में भी लाभ पाया गया है।

इनके अतिरिक्त आन्त्र, फुप्फुस तथा रक्त के कितने ही रोगों में इनको उपयोगी पाया गया है।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ये योग रोगों की औषधि नहीं हैं। उनसे रोगों का मूलोच्छेदन नहीं होता। केवल लक्षण दब जाते हैं जिससे

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रोगी को विश्राम मिलता है, वह अपने को स्वस्थ अनुभव करता है। इससे यह भय है कि लक्षणों के शमन से रोगी अपने को रोग मुक्त समझ ले और चिकित्सा में शिथिलता आ जाय। संक्रामक रोगों में यह आपत्ति भयंकर हो सकती है। पर्युदर्या शोथ (Peritonitis), उण्डुक शोथ आदि रोगों में लक्षणों की उग्रता के कम हो जाने का अर्थ रोगमुक्ति नहीं है। ऐसी दशाओं में लक्षणों का शमन भयंकर प्रमाणित हो सकता है। जब वास्तव में रोग की विषमता बढ़ रही हो उस समय लक्षणों का शमन रोगी को आरोग्य लाभ का भ्रम उत्पन्न कर सकता है और उससे रोग की वास्तविक चिकित्सा में असावधानी भयंकर परिणाम का कारण हो सकती है। प्रतिजीवी औषधियों का प्रयोग बन्द हो सकता है।

अतएव जब भी इन योगों का उपयोग किया जाय तो रोग के कारण के नष्ट होने की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये। केवल लक्षणों का शमन रोग मुक्ति का द्योतक कभी नहीं है। कितनी ही बार वह चिकित्सक को केवल भ्रम में डालने वाला है।

ए० सी० टी० एच० (ACTH)—पहले कह आये हैं कि पीयूषिका का यह हारमोन अधिवृक्क के बहिस्था के हारमोनों की उत्पत्ति का नियन्त्रण करता है। इस हारमोन को भी पीयूषिका से पृथक् कर लिया गया है तथा कृत्रिम प्रकार से रासायनिक विधियों द्वारा तैयार भी किया गया है। इसका प्रभाव ठीक कार्टीसोनों के समान है। इसके स्वतन्त्र प्रयोग से वे ही परिणाम होते हैं जो अधिवृक्क के बहिस्था के हारमोनों के हैं। अतएव ए० सी० टी० एच० को भी कार्टीसोन के समान प्रयोग किया जाता है। इसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

प्रयोग तथा मात्रा—कार्टीसोन की अपेक्षा हाइड्रोकार्टीसोन अधिक क्रियाशील बताया जा चुका है। किन्तु मुँह से खिलाने पर उसका आन्त्र की श्लैष्मिककला द्वारा हाइड्रोकार्टीसोन की अपेक्षा अवशोषण शीघ्र होता है। इस कारण तुरन्त प्रभाव के लिये हाइड्रोकार्टीसोन को अन्तर्पेशी इंजेक्शन द्वारा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दिया जाता है और उपयुक्त प्रभाव हो जाने के पश्चात् प्रभाव को बनाये रखने के लिये कार्टीसोन खिलाया जाता है। प्रायः कार्टीसोन का ऐसीटेट लवण प्रयोग किया जाता है। कार्टीसोन का चर्म के व्रण पर या नेत्रशोथ में सन्तोषजनक फल नहीं होता। इस कारण हाइड्रोकार्टीसोन का प्रयोग किया जाता है। चर्मरोगों में भी हाइड्रोकार्टीसोन का ही प्रयोग होता है।

हाइड्रोकार्टीसोन का शरीर से त्याग शीघ्र होता है। इस कारण उसकी मात्रायें अधिक बार देनी होती हैं। खिलाने पर हाइड्रोकार्टीसोन घुलनशील न होने के कारण उसका आन्त्र द्वारा अवशोषण नहीं होता। इस कारण उसका प्रायः अन्तर्पेशी इन्जेक्शन दिया जाता है, यद्यपि उग्र दशाओं में उसको शिरा द्वारा भी दिया जा सकता है।

सार्वदैहिक रोगों, संक्रामक रोग आदि में रोग की उग्रता के अनुसार १०० से ४०० मिलीग्राम कार्टीसोन ऐसीटेट प्रतिदिन खिलाया जाता है। रोगी के प्रभावान्वित हो जाने के पश्चात् ३–५ मिलीग्राम मात्रा प्रतिदिन घटाकर ५० से ७५ मिलीग्राम पर ले आते हैं। शेष रुग्णावस्था में यह मात्रा जारी रखी जाती है। यदि कोई दुष्प्रभाव दिखाई दें तो मात्रा को और भी घटाया जा सकता है। अथवा कार्टीसोन का प्रयोग बन्द किया जा सकता है। बहुत दिन तक प्रयोग करने की जब आवश्यकता हो तो ३–५ ग्राम पोटासियम क्लोराइड रोगी को प्रतिदिन खिलाया जाय। साथ ही उसके आहार में प्रोटीन की मात्रा बढ़ा दी जाय। अति प्रोटीन युक्त आहार देना आवश्यक है तथा नमक की मात्रा भी घटायी जाय।

जब कार्टीसोन चिकित्सा आवश्यक न समझी जाय तो उसको शनैः शनैः घटाया जाय। अकस्मात् बन्द करना उचित नहीं है। दो सप्ताह तक नित्यप्रति घटाकर तब बन्द किया जाय।

संधिशोथ में जिन रोगियों को ऐस्पिरीन से लाभ न हो केवल उनको एक सप्ताह तक १०० मिलीग्राम कार्टीसोन प्रतिदिन देकर दूसरे सप्ताह से ५८ मिलीग्राम प्रतिदित देना उचित है। संधि में हाइड्रोकार्टीसोन के इन्जेक्शन (१ से २·५ सी० सी०) भी दिये जा सकते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रक्त रोगों में १०० से ३०० मिलीग्राम प्रतिदिन लाभदायक पाया गया है। लिम्फैटिक ल्यूकीमिया रोग में २०० से ३०० मिलीग्राम प्रतिदिन देने का आदेश है।

चर्म रोगों में, विशेषतया पैम्फीगस के घातक रोगों में, हाइड्रोकार्टीसोन का मरहम लगाया जाता है। या उसका घोल बनाकर उसकी फुहारें डाली जाती हैं। ३०० से ४०० मिलीग्राम प्रतिदिन का प्रयोग आवश्यक है।

दुष्प्रभाव—विद्वानों की सम्मति में हारमोन न्यूनता की दशा के अतिरिक्त इस योग का तब ही उपयोग किया जाय जब अत्यन्त आवश्यक हो। यह एक अत्युग्र औषधि है और उसके प्रयोग में बहुत सावधानी तथा अनुभव की आवश्यकता है।

केवल स्थानिक प्रयोग से कोई दुष्प्रभाव नहीं होते। किन्तु जो ७० से ७५ मिलीग्राम से भी अधिक दीर्घ काल तक प्रयोग करते हैं उनमें कोई न कोई निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न हो जाता है।

१. शरीर में वसा का एकत्र होना, विशेषकर नितम्ब, उदर और आनन की त्वचा के नीचे जिससे चेहरा गोल-गोल दीखता है। ग्रीवा के पृष्ठ पर भी वसा एकत्र हो सकती है।

२. शरीर पर शोफ (Oedema) उत्पन्न हो सकता है जिसका कारण सोडियम लवण का शरीर में संचय होता है। ये योग शरीर से सोडियम के त्याग को घटा और पुटासियम के त्याग को बढ़ा देते हैं।

३. पुटासियम की कमी के कारण पेशियों की सामर्थ्य का ह्रास होता है जिससे दुर्बलता मालूम होती है। इसी कारण रोगी को पुटासियम क्लोराइड खिलाने के लिये तथा नमक कम खाने को कहा गया है।

४. रक्त-दाब की वृद्धि अर्थात् अतिरक्तदाब होते देखा गया है।

५. रक्त में ग्लूकोज की अति मात्रा (Hyperglycaemia) हो सकती है।

६. इससे रक्ताधिक्य युक्त हृदयावपात (Cangestive heart failure) होता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

७. निद्रानाश तथा मानसिक भावों में परिवर्त्तन।

८. शरीर के भिन्न-भिन्न ऊतकों में इस प्रकार के परिवर्त्तन हो जाते हैं कि उनकी निवारक या रोधक शक्ति जाती रहती है। इससे वे संक्रामक रोगों के संक्रमण का प्रतिरोध करने में असमर्थ हो जाते हैं। रोग हो जाने पर ये योग केवल उनको छिपा देते हैं, उनका नाश नहीं करते। आमाशय या ग्रहणी के व्रणों (Peptic ulcer) का विदार (Perforation) अधिक होता है। घावों के भरने में अधिक समय लगता है। राजयक्ष्मा (Tuberculosis) के रोगियों का रोग और बढ़ जाता है, रोग का प्रसार होता है क्योंकि रोग ग्रस्त स्थान के चारों ओर ऊतकों की प्रतिरोधक शक्ति नष्ट हो जाती है।

उपर्युक्त उल्लेख से भली भाँति समझा जा सकता है कि इन हारमोनों के प्रयोग में किस कारण सावधानी की आवश्यकता बताई गई है। इनको दो धारवाली तलवार समझना चाहिये जिनसे जीवन की रक्षा भी हो सकती है और उसका नाश भी संभव है। इनके प्रयोग से कितने ही रोगियों की मृत्यु हो चुकी है जिनमें दो विशेष कारण थे—एक संक्रमण के प्रतिरोध की अशक्ति और दूसरे आन्त्र क्षेत्र के व्रणों का विदार जिसका घातक रक्तस्राव परिणाम था।

प्रैडनीसोन और प्रैडनीसोलोन
(Prednisone and Prednisolone)

अधिवृक्क जन्य उपर्युक्त हारमोनों को यदि किसी प्रकार हानि रहित किया जा सकता, उनके दोष दूर किये जा सकते तो वे वास्तव में अद्भुत चिकित्सोपयोगी पदार्थ प्रमाणित होते। उनका विशेष कर आमाशय तथा आन्त्र पर जो हानिकर प्रभाव होता है और कभी-कभी हृदयावपात भी हो जाता है उससे इन पदार्थों का उपयोग बहुत कम हो जाता है। ५० से ७५ मिलीग्राम प्रतिदिन, जो उनकी शारीरिक उपयोग की प्राकृतिक सीमा है, से अधिक प्रयोग करने से कुछ ही दिन में हानि के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। अधिक समय तक प्रयोग से सदा दारुण आपत्ति की संभावना बनी रहती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अतएव विद्वानों ने इन हारमोनों की रासायनिक रचना में परिवर्त्तन करके ऐसे योग तैयार करने की आयोजना की जिसमें कार्टीसोन और हाइड्रोकार्टीसोन

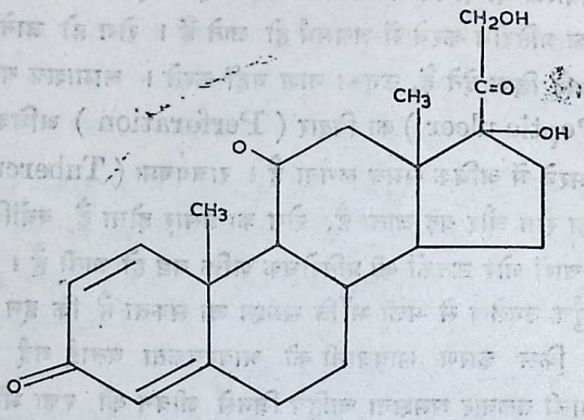

चित्र २६—प्रैडनीसोन

के सब गुण तो हों, किन्तु जो उनके अवगुणों से रहित हों। अनेक प्रयोग किये गये। अनेक बार इन हारमोनों के अणुओं में परमाणुओं को यहाँ वहाँ बिठाया गया और प्रत्येक का जन्तुओं पर प्रयोग किया गया। इस प्रकार अनेकों प्रयोग करने के पश्चात् प्रैडनीसोन और प्रैडनीसोलोन नामक दो योग तैयार हुए। रासायनिक संघटन के जो चित्र यहाँ दिए गये हैं उनको देखने से मालूम होगा कि इन दोनों योगों में और कार्टीसोन तथा हाइड्रोकार्टीसोन की रचना में बहुत थोड़ा अन्तर है।

क्रिया—इन योगों की क्रिया ठीक कार्टीसोन के समान है किन्तु इनकी मात्रा केवल पञ्चमांश ($\frac{1}{5}$) है। इससे विद्वानों को आशा थी कि इनके प्रयोग से दुष्प्रभाव नहीं होंगे, या बहुत कम होंगे। किन्तु उन्होंने तात्कालिक प्रभाव के लिए इनको अधिक मात्रा में प्रयोग करवाया जिससे कार्टीसोन ही के समान दुष्प्रभाव हुए। कार्टीसोन तथा हाइड्रोकार्टीसोन के सम्बन्ध में भी यही हुआ। प्रथम बार सन् १९४८ में अमरिका के मेयो क्लिनिक के डाक्टर हैंच (Hench)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

और उसके सहयोगियों ने रूमेटाइड संधि शोथ में कार्टिसोन के अद्भुत प्रभाव को चिकित्सक विद्वानों की परिषद् को फिल्म द्वारा और आरोग्य लाभ किये हुए रोगियों द्वारा दिखाया था। ४८ घण्टे में वर्षों से शय्यारूढ़, चलने फिरने में असमर्थ, पंगु रोगी चलने फिरने लगे थे। एक सप्ताह में वे बाजार

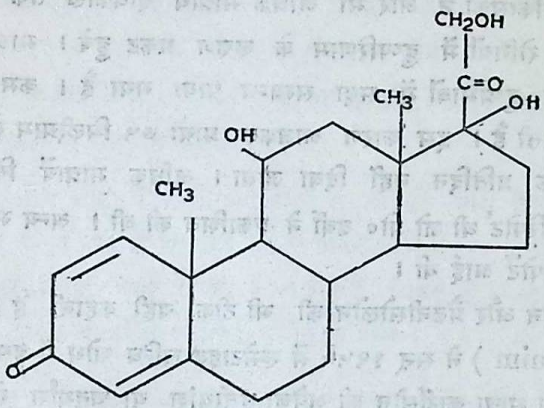

चित्र २७—प्रैडनीसोलोन

जाकर सौदा खरीदने लगे थे। विद्वानों की आँखों के सामने इस रामबाण औषधि के प्रमाण उपस्थित थे जिनको अविश्वास की दृष्टि से देखना असम्भव था। प्रभाव प्रत्यक्ष था। प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं थी। अतएव सर्वो ही ने उन योगों का अमोघ औषधि समझकर हृदय से स्वागत किया और चिकित्सकों ने उसका बड़े उत्साह से प्रयोग करना प्रारम्भ किया। प्रणेताओं ने जितनी मात्रा बताई थी उससे भी अधिक मात्रा में प्रयोग किया। प्रारम्भ में तो उसके बहुत उत्तम फल निकले। चारों ओर आश्चर्यजनक लाभ दिखाई दिया। किन्तु कुछ मास या वर्ष भर के ही प्रयोग के पश्चात् उनके उपद्रव और दुष्प्रभाव की रिपोर्टें आने लगीं। यहाँ तक कि सन् १९५१ में प्रोफेसर डर्बी (Dorbes) और वाईस (Wiess) ने ९६ ऐसे रोगियों की एक रिपोर्ट प्रकाशित की जिनको कार्टीसोन और ए० सी० टी० एच के प्रयोग से हानि पहुँची थी। मृत्यु तक की रिपोर्ट थी।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शरीर में अधिवृक्कों द्वारा २५ से ५० मिलीग्राम हाइड्रोकार्टीसोन प्रतिदिन बनता है। हैंच ने अपने रूमेटाइड संधि शोथ के रोगियों को ३०० मिलीग्राम प्रथम दिन, २०० मिलीग्राम प्रतिदिन अगले दो दिनों तक और उसके पश्चात् १०० मिलीग्राम प्रतिदिन खिलाये थे। यह मात्रा भी बहुत अधिक थीं। पश्चात् के चिकित्सकों ने और भी अधिक मात्रायें दीर्घकाल तक खिलाईं। इनसे अनेक रोगियों में दुष्परिणाम के लक्षण प्रकट हुये। मात्राओं और उपद्रवों तथा दुष्प्रभावों में सदा सम्बन्ध पाया गया है। कम मात्रा से हानि कम होती है। इस कारण आजकल प्रायः ७५ मिलीग्राम से अधिक दीर्घकाल तक प्रतिदिन नहीं दिया जाता। अधिक मात्रायें खिलाने का परिणाम वह रिपोर्ट थी जो प्रो० डर्बी ने प्रकाशित की थी। अन्य भी ऐसी ही कितनी ही रिपोर्टें आई थीं।

प्रैडनीसोन और प्रैडनीसोलोन की भी ठीक यही कहानी है। प्रोफेसर बूनिम (Bunim) ने सन् १९५५ में रूमेटाइड सन्धि शोथ में इसका प्रयोग किया। उसकी मात्रा कार्टीसोन की अपेक्षा तृतीयांश या चतुर्थांश से अधिक नहीं थी। रोगियों को बहुत लाभ हुआ। चारों ओर से उत्तम रिपोर्ट आई। कुछ रोगियों को जिनको कार्टीसोन से लाभ नहीं हुआ था प्रैडनीसोन की पञ्चमांश ($\frac{1}{5}$) मात्रा से लाभ हुआ।

किन्तु दो वर्ष के प्रयोग के पश्चात् तस्वीर ही बदल गई। सन् १९५७ में बूनिम ने रोगियों में प्रकट हुये दुष्प्रभावों की रिपोर्ट की। कुछ की मृत्यु हो गई। तीन को ग्रहणी के व्रण के विदार से घातक रक्तस्राव हुआ। छोटे-छोटे उपद्रव कितनों ही को हुये। कुछ को मानसिक उपद्रव हुये।

तब से अनेकों बार विचार विमर्श हुये हैं। कितनी ही सभायें इसी विषय पर हो चुकी हैं। जून सन् १९५७ में टोरेन्टो में जो International Rheumatological कान्फरेन्स हुई थी। उसमें स्वयं बूनिम ने कहा कि १५ मिली ग्राम प्रतिदिन से अधिक देने पर दीर्घकाल के प्रयोग से आमाशय और ग्रहणी के व्रणों तथा अन्य उग्र उपद्रवों की सम्भावना बढ़ जाती है। अन्य विद्वानों के कथन और रिपोर्टों से यही निष्कर्ष निकला कि मात्रा के बढ़ने

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

से दुष्प्रभावों की सम्भावना बढ़ जाती है। इन योगों को बहुत काल तक प्रयोग करना पड़ता है। अतएव कुछ काल पश्चात् उपद्रवों के लक्षण प्रकट होते हैं।

मात्रा—अतएव मात्रा जितनी कम रहती है उतने ही उपद्रव कम होते हैं। अब इस पर सब सहमत हैं कि प्रैडनीसोन और प्रैडनीसोलोन की मात्रा कार्टीसोन की सामान्य मात्रा का पंचमांश होना चाहिये। कुछ विद्वान तो षष्ठांश, के पक्ष में हैं। कार्टीसोन की मात्रा यदि ७२ ग्राम हो तो इन योगों की १२ मिलीग्राम उपयुक्त मात्रा है।

प्रैडनीसोन और प्रैडनीसोलोन दोनों के अनेकों योग भिन्न भिन्न कम्पनियों द्वारा बनाये गये हैं जिन्होंने उनको अपने विशिष्ट नाम दिये हैं। ये सब टिकिया, मरहम और घोल के रूप में बाजार में बिकते हैं। टिकिया खाने के लिये और मरहम या घोल स्थानिक प्रयोग के लिये।

पीयूष ग्रन्थि (Pitintary gland)

पीयूष ग्रन्थि अन्य सब अन्तः स्रावी ग्रन्थियों की संचालक है। यह सबों का नियन्त्रण करती है। मस्तिष्क के तल के लगभग मध्य में स्थित इस मटर के दाने के समान आकार वाली ग्रन्थि में अनेकों प्रबल क्रियाशील हारमोन बनते हैं जो अन्य ग्रन्थियों में बननेवाले हारमोनों की उत्पत्ति को प्रभावित करते हैं। शरीर क्रिया विज्ञान की किसी पुस्तक से इनका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ पर पीयूषिका के अग्र खंड में बननेवाले केवल ए० सी० टी० एच० हारमोन का विचार किया जायगा। गत पृष्ठों में कार्टीसोन के संबंध में इसका उल्लेख किया जा चुका है।

ए० सी० टी० एच० (ACTH)—यह शब्द ऐड्रिनोकोर्टीकोट्रौफ़िक हारमोन का संक्षेप है। इस हारमोन का विशेष काम अधिवृक्क के बहिस्था भाग को उत्तेजित करके उससे हाइड्रोकार्टीसोन बनवाना है। यह स्वयं स्टराइड योग नहीं है। यह एक प्रकार का पौलीपैप्टाइड है। डाक्टर हैन्च,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जिन्होंने रूमेटाइड संधि शोथ में कार्टीसोन के प्रयोग से अद्भुत परिणाम दिखाये थे उन्होंने ही ए० सी० टी० एच० का इस रोग में प्रथम बार प्रयोग किया। इस वस्तु का अब कार्टीसोन के स्थान में इतना प्रयोग होता है कि साधारण-तथा ए० सी० टी० एच० और कार्टीसोन का चिकित्सा के संबन्ध में पर्याय शब्द के रूपमें प्रयोग किया जाता है।

क्रिया—इस हारमोन की विशिष्ट क्रिया अधिवृक्क के बहिस्था का उत्तेजन है। इसके इन्जेक्शन से बहिस्था में बननेवाले सब ही स्टिराइड हारमोनों की उत्पत्ति बढ़ जाती है। साथ ही ग्रन्थि में उपस्थित कालेस्टरौल की मात्रा इन्जेक्शन के तीन घण्टे के भीतर आधी रह जाती है। ऐस्कार्बिक अम्ल (बिटामिन-सी) भी घट जाता है। ए० सी० टी० एच० की यही विशेष क्रिया होती है।

चिकित्सा में प्रयोग—ए० सी० टी० एच० का उपयोग कार्टीसोन ही के समान है। इसको आमवात रोग (Rheumatic Fever, rheumatoid arthritis), विशेषकर रूमेटाइड संधि शोथ, नेत्राभिष्यन्द तथा अन्य शोथयुक्त दशायें, त्वचा के रोग तथा असहिष्णुता (एलर्जी) के लक्षणों, दमा, तृणज्वर, नाक बहना, प्रतिश्याय आदि में प्रयोग किया गया है। इनकी दशाओं में कार्टीसोन या प्रैडनीसोन का प्रयोग किया जाता है।

इसके संबंध में आपत्ति यह है कि जब कार्टीसोन से इन दशाओं में वांछित लाभ होता है और ए० सी० टी० एच० अधिवृक्क के बहिस्था के सभी हारमोनों की उत्पत्ति बढ़ाता है जिनमें से हाइड्रोकार्टीसोन एक है और उसके प्रभाव से उपर्युक्त दशाओं में लाभ होता है जिनका उल्लेख कार्टीसोन के साथ किया जा चुका है तो ए० सी० टी० एच० के प्रयोग से क्या विशेष लाभ है। फिर ए० सी० टी० एच० से बहिस्था के सब ही हारमोनों की उत्पत्ति बढ़ती है, न कि केवल कार्टीसोन की। लाभ करने वाला केवल कार्टीसोन या हाइड्रोकार्टीसोन है। ए० सी० टी० एच० के वे ही सब उपद्रव तथा दुष्प्रभाव हैं जो कार्टीसोन के हैं। हृदयावसाद, आन्त्रव्रणों का विदार, मानसिक क्लेद आदि वैसे ही पाये जाते हैं जैसे कार्टीसोन में।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इन कारणों से ए० सी० टी० एच० का प्रयोग कम होता जा रहा है। चिकित्सक कार्टीसोन या प्रेडनीसोन के अधिक पक्ष में हो गये हैं।

दो ऐसी विशिष्ट दशायें हैं जहाँ ए० सी० टी० एच० चिकित्सा अपेक्षित है। (१) अधिवृक्कन्यूनता (२) दोनों ओर के अधिवृक्कों का उच्छेदन।

१. अधिवृक्कन्यूनता की दशा बहुत कम पाई जाई जाती है। अधिवृक्कों की विशेष क्रिया की उस समय आवश्यकता होती है जब शारीरिक शक्तियों को आघात पहुँचता है जैसे शल्यकर्मों या दुर्घटनाओं में। ऐसे समय में यदि अधिवृक्क के हारमोन शरीर को पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलते तो शरीर की सहनशक्ति के घट जाने से उसको हानि पहुँच सकती है। ऐसी दशा में ए० सी० टी० एच० के इन्जेक्शन देकर अधिवृक्क की सहायता अभीष्ट होती है। शल्यकर्म के पश्चात् दौर्बल्यावस्था में भी इंजेक्शन जारी रखे जाते हैं।

२. दोनों ओर के अधिवृक्कों का उच्छेदन, स्तन तथा पुरस्थ (Prostate) के कैंसर में जब बार-बार अर्बुदोत्पत्ति होती है, तो ए० सी० टी० एच० देकर अधिवृक्कों के हारमोनों की पूर्त्ति की जाती है। यह पाया गया है कि यह हारमोन अधिवृक्कों का स्थान ले लेता है।

अवटुका ग्रन्थि (Thyroid)

यह ग्रन्थि गले में स्थित है। गले में उभरे हुये भाग, जिसको बोल-चाल की भाषा में टेंटुवा कहते हैं उसके नीचे इसके दोनों खंड श्वासनाल के दोनों ओर रहते हैं और बीच के एक संयोजक खंड द्वारा जुड़े हुये हैं जो श्वासनाल के सामने की ओर स्थित है। इसका आकार चूल्हे के समान है। कुछ व्यक्तियों में यह ग्रन्थि बढ़ जाती है जो घेंघा या गलगंड (Goitre) कहलाता है। यह रोग पर्वतीय प्रान्तों में बहुत पाया जाता है। बहुत बार ग्रन्थि इतनी बढ़ जाती है कि वह दूर से गले में लटकती हुई दिखाई देती है। दोनों पार्श्व खंड बढ़ सकते हैं अथवा तीनों भागों की वृद्धि हो जाती है।

इस ग्रन्थि का विशेष संबंध आयोडीन के चयापचय से है। वह रक्त से आयोडीन लेकर उसका प्रोटीन से संयोजन करके थाइरोग्लोब्यूलिन बनाकर

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अपने में संग्रह कर लेती है। यह थाइरोक्सिन (Thyroxine) कहलाती है। यही ग्रन्थि का क्रियाशील अवयव हारमोन है। जब शरीर को उसकी आवश्यकता होती है तो वह प्रकिण्वों की क्रिया से ग्रन्थि से निकल कर रक्त द्वारा शरीर के ऊतकों की कोशिकाओं में पहुँचता है। यहाँ थाइरोक्सिन में एक बार फिर प्रकिण्वों की क्रिया से परिवर्त्तन होता है। वह ट्राई-आयोडोथाइरोनीन (Tri-Iodothyronine) बन जाता है। यही थाइरोक्सिन का अन्तिम रूप होता है।

पीयूषिका का अवटुका-पोषी हारमोन (Thyrotrophic) हारमोन थाइरोक्सिन हारमोन का नियन्त्रण करता है। उसकी क्रिया से थाइरोक्सिन अवटुका से निकल कर रक्त में आती है। तथा थाइरोक्सिन स्वयं इस पीयूषिका हारमोन, जिसको संक्षेपतः T. S. H. (Thyrold Stimulating Hormone) कहते हैं, की उत्पत्ति को उत्तेजित करती है। जब रक्त में थाइरोक्सिन की कमी होती है तो पीयूषिका हारमोन अधिक बनता है। उसके अधिक होने पर इस हारमोन का बनना और कम हो जाता है।

क्रिया—इस हारमोन का प्रभाव शरीर में होनेवाली चयापचय की क्रियाओं पर होता है। इससे चयापचयन बढ़ जाता है। आक्सीजन अधिक व्यय होती है। प्रत्येक कोशिका अधिक आक्सीजन लेती है। शरीर की वृद्धि पर इसका प्रभाव होता है। ऊतकों की वृद्धि होती है। इस प्रकार पीयूषिका के वृद्धि कारक हारमोन को थाइरोक्सिन से सहयोग मिलता है।

इस हारमोन की कमी से अवटुन्यूनता (Hyporthyroidism) और उसकी अधिकता से अत्यवटुता (Hyperthyroidiom) दशायें उत्पन्न हो जाती हैं।

अवटुन्यूनता

इससे दो प्रकार की दशायें उत्पन्न होती हैं जो **मूढ़वामनता** (Cretinism) और मिक्सोडीमा (Myxoedema) कहलाती हैं।

१. मूढ़वामनता—यह दशा शिशुकाल में उत्पन्न होती है। दो तीन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वर्ष की अवस्था में लक्षण बिलकुल स्पष्ट हो जाते हैं। बच्चों के शरीर की वृद्धि रुक जाती है। मानसिक वृद्धि भी नहीं होती। १५ वर्ष का बालक ५ या ६ वर्ष के समान दीखता है। उसकी आकृति भी मूढ़, मन्दबुद्धि अथवा बुद्धिरहित के समान होती है। उदर सामने को निकला हुआ, नीचे का होठ लटकता हुआ, उससे लार चूती हुई, परिस्थिति से अनभिज्ञ ऐसी बालक की आकृति होती है। सदा क़ब्ज़ रहता है।

इस दशा को जितनी जल्दी पहिचान लिया जाय उत्तम है। चिकित्सा से पूर्ण लाभ होता है।

चिकित्सा—ग्रन्थि, ग्रन्थि का सत्व, थाइरोक्सिन तथा ट्राईआयोडोथायरीन तीनों ही का प्रयोग किया जाता है। पहले स्वयं ग्रन्थि को भी खिलाया जाता था। अब ग्रन्थि का सत्व निकाल कर उसकी टिकियाँ बनाई जाती हैं। उनका प्रयोग करवाया जाता है। थाइरौक्सोन तथा ट्राईआयोथायरीन से लाभ शीघ्र होता है। चिकित्सा जन्म पर्यन्त जारी रखनी पड़ती है। यह चिकित्सा केवल एक पूरक चिकित्सा है। ग्रन्थि के सत्व या हारमोन को खिला कर उसकी प्राकृतिक कमी या अनुपस्थिति की पूर्त्ति की जाती है। उससे ग्रन्थि नये सिरे से नहीं बनती, केवल शारीरिक क्रियाओं के लिये हारमोन शरीर में पहुँच जाता है।

चिकित्सा आरंभ करते समय सावधानी की आवश्यकता होती है। ८ मिलीग्राम ($\frac{1}{8}$ ग्रेन) प्रति दिन से प्रारम्भ करना चाहिये। दूसरे सप्ताह में १६ मिलिग्राम दिये जाँय। इसी प्रकार प्रति सप्ताह शिशु की अवस्था और औषधि के प्रभावानुसार ८ मिलिग्राम प्रति सप्ताह बढ़ाते जाँय, जब तक कि शिशु या बालक पर पूरा प्रभाव न होने लगे। लक्षणानुसार प्रभाव का मापदण्ड बालक का पाचन है। यदि बालक को कोष्ठबद्धता रहे, शौच पूर्ण न हो तो मात्रा बढ़ाई जा सकती है। यदि उसको पतले दस्त आने लगें तो मात्रा को घटाना आवश्यक है। अर्थात् बालक का क़ब्ज़ जाता रहे किन्तु उसको प्रवाहिका

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

न होने पावे। जिस मात्रा का ऐसा प्रभाव हो वही बालक के लिये उपयुक्त मात्रा है।

रक्त परीक्षा करके रक्त में उपस्थित कोलेस्टरोल की मात्रा से भी औषधि का निर्णय किया जा सकता है। वामनता की दशा में रक्त में कोलेस्टरौल की अधिकता होती है। स्वस्थ अवस्था में प्रति १०० मिलीलिटर (लगभग १०० सी. सी) में १५० से २२५ मिलीग्राम कोलेस्टरोल होता है। औषधि के उपयुक्त होने पर यह स्तर आ जाता है। इससे अधिक होना औषधि की अपर्याप्तता का सूचक है।

समय समय पर बालक की लम्बाई नापने तथा उसको तोलने से शरीर वृद्धि का अनुमान हो सकता है। कुछ विद्वान कलाई के एक्स-रे से अस्थि की वृद्धि का अनुमान करते हैं। वृद्धि अस्थि के वर्धक प्रान्त पर होती है जिसको अवटुका सत्व या थाइरोक्सिन से उत्तेजना मिलती है। किन्तु इसमें यह भी भय रहता है कि वर्धक प्रान्त काण्ड (body) से जुड़ न जाय जिससे अस्थि की वृद्धि रुक जाय।

बालक की अवस्था अधिक होने पर मात्रा को बढ़ाना आवश्यक है।

प्रारम्भ अवटुका सत्व से किया जाय। थाइराइड ऐक्सट्रैक्ट (Thyroid extract) की टिकियाँ बाजार में बिकती हैं। थोड़ी मात्रा से प्रारम्भ करके शनैः शनैः उपयुक्त मात्रा पर पहुँचने के पश्चात् सत्व का थाइरोक्सिन से स्थानान्तरण किया जाय यद्यपि इससे कोई विशेष लाभ नहीं प्रतीत होता।

२. मिक्सोडीम—यह विचित्र दशा भी हारमोन की न्यूनता के कारण उत्पन्न होती है। गलगण्ड के विपरीत हारमोनों को बनानेमें ग्रंथि असमर्थ होती है यद्यपि उसको आवश्यक घटक आयोडीन प्राप्त होती है। गलगण्ड (घेंघा) का कारण आयोडीन की अनुपस्थिति होती है। ग्रंथि को आयोडीन नहीं मिलती। इस कारण हारमोन नहीं बन पाता। किन्तु इस दशा में ग्रन्थि में हारमोन बनाने की शक्ति नहीं होती, या कम होती है।

इस रोग में त्वचा के नीचे जहाँ तहाँ वसा एकत्र हो जाती है। वायवी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ऊतक (aerolear) तक भी बढ़ जाता है जिससे त्वचा मोटी, रूक्ष तथा कड़ी प्रतीत होती है। पलक, नासिका के नथुने तथा मुख पर का चर्म विशेषकर भारी और मोटा दिखाई देता है। ओठ मोटे और भद्दे हो जाते हैं। सारा चेहरा भारी और मूढ़ के समान दीखता है। उस पर कोई भाव नहीं होता। चेहरे का रंग पीला और बोली मोटी और गला बैठा सा हो जाता है। रोगी रुक रुक कर बोलता है मानो वह शब्दों को भूल रहा हो। प्रत्येक शब्द पर अटक जाता है। उसको शब्दों को याद करना पड़ता है। जिह्वा भी मोटी हो जाती है। शिर के बाल चमक रहित, रूक्ष हो जाते हैं। गिरने लगते हैं। भ्रू लोम का भी नाश होने लगता है।

मानसिक अवस्था में विशेष परिवर्त्तन स्मरण शक्ति का ह्रास, भावहीनता, भाव को व्यक्त करने की असमर्थता तथा शिथिलता होते हैं। यह अवस्था बालक और युवा तथा अधिक आयुवालों में भी पाई जाती है।

चिकित्सा—अवटुग्रन्थि ही इसकी चिकित्सा है, ग्रन्थि का सत्व, थाइरोक्सीन अथवा ट्राई आयोडोथाइरोनीन। आठ दस वर्ष के बालक को १६ मिली ग्राम ग्रन्थि सत्व ($\frac{1}{4}$ ग्रेन) या ०·०२५ मिली ग्राम थाइरोक्सीन प्रथम सप्ताह में नित्य प्रति देना उचित है। तत्पश्चात् वामनता की भाँति उपयुक्त मात्रा को मालूम करके, न्यूनतम मात्रा जिससे औषधि का प्रभाव बना रहे, उसको खिलाया जाय।

युवावस्था तथा अधिक आयुवालों को अधिक मात्रा देना आवश्यक है, तो भी सावधानी अपेक्षित है। ग्रन्थि सत्व या थाइरोक्सीन की अति मात्रा से हृदयावसाद, हृदय की धड़कन या गति का बढ़ जाना (Tachycardia), हृद-शूल के समान पीड़ा आदि उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। इस कारण थोड़ी मात्रा से प्रारंभ करना उचित है। अतएव प्रथम सप्ताह में ३० मिलीग्राम सत्व या ०·०५ मिलीग्राम थाइरोक्सिन प्रति दिन (कई मात्राओं में विभक्त करके) देना चाहिये। दूसरे सप्ताह में यह मात्रा दुगनी कर दी जाय या दिन में दो बार दी जाय। तीसरे सप्ताह में तीन मात्रायें प्रति दिन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दी जाँय अर्थात् ९० मिलीग्राम प्रति दिन दिये जाँय। यदि इस क्रम में किसी समय दुष्प्रभाव दिखाई दे तो मात्रा कम कर दी जाय या कुछ दिन के लिये औषधि बन्द कर दी जाय। इसके पश्चात् रोगी की परीक्षा की जाय और भली भाँति विचार करने के पश्चात् यदि आवश्यक समझा जाय तो मात्रा बढ़ाई जाय। १२० मिलग्राम (२ ग्रेन) से अधिक प्रति दिन देने में बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है।

गलगंड (घेंघा)—यह रोग आयोडीन की कमी से उत्पन्न होता है। आहार द्वारा आयोडीन की पर्याप्त मात्रा शरीर को नहीं मिलती। अथवा शरीर उसका उपयोग नहीं कर पाता। अतएव थायरौक्सीन की कमी हो जाती है। इस कारण पीयूषिका के T. H. S. हारमोन की उत्पत्ति बढ़ जाती है जिसके प्रभाव से अवटुका के आकार में वृद्धि होती है। यह अधिक थायरौक्सीन की उत्पत्ति का प्रकृति का प्रयत्न है। रोग के सामान्य रूप में थाइराइडरोधी योगों के साथ थायराइड सत्व को भी खिलाते हैं जिससे T. H. S. कम बने। ३० से ६० मिलीग्राम सत्व प्रति दिन दिया जा सकता है। किन्तु यदि ग्रन्थि में कुछ परिवर्त्तन होने का सन्देह हो, वह घातक (Malignaut) रूप ले ले या विषाक्तिक (Toxic) हो जाने का सन्देह हो तो सत्व को बन्द कर देना उचित है।

अन्य कुछ दशाओं में भी थाइराइड सत्व प्रयोग किया गया है। पुरुष की सन्तानोत्पत्ति शक्ति को बढ़ाने के लिये इसको खिलाया गया। कुछ पुरुष इस शक्ति से रहित होते हैं। उनमें यह शक्ति उत्पन्न करने के लिये इस सत्व को दिया गया। किन्तु इससे कोई लाभ नहीं होता।

इसी प्रकार स्थूलता घटाने के लिये भी थाइराइड सत्व का बहुत बार प्रयोग किया जाता है। यह प्रयोग अनुचित है। ग्रन्थि के सत्व में स्थूलता घटाने की अक्ति नहीं है। मिक्सोडीमा की स्थूलता, जिसमें सत्व से लाभ होता है सामान्य स्थूलता से बिलकुल भिन्न है। यह निश्चित है कि शरीर में एकत्र होने वाली वसा को घटाने की ग्रन्थि या उसके सत्व में तनिक भी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शक्ति नहीं है। उसके प्रभाव से क्षुधा के बढ़ जाने से शरीर में और अधिक वसा एकत्र हो सकती है।

अनार्तव (Amenorrhoea) की चिकित्सा में भी ग्रन्थि सत्व का प्रयोग किया जाता है, विशेष कर जब अनार्तव के साथ शरीर स्थूल भी होता है, जैसा कितनी ही कन्याओं में युवावस्था पहुँचने पर हो जाता है। स्थूलता होने या न होने पर किसी भी दशा में इससे कोई लाभ नहीं होता।

पैराथायराइड (Parathyroids)

ये चार छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ, मटर के दाने के समान, अवटुका ग्रन्थि के पश्चिम पृष्ठ के पीछे उसके किनारों के पास ऊपर और नीचे के सिरे के समीप स्थित हैं। कितनी ही बार अवटुका के उच्छेदन करने में ये भी निकल जाती हैं। इस कारण इनको बचाने का विशेष ध्यान रखना पड़ता है।

इन ग्रन्थियों में भी एक हारमोन बनता है जिसका कालसियम के चयापचय से गहरा संबंध है। कालसियम हमारे शरीर का एक अति महत्व-शाली घटक है। अस्थि निर्माण के लिये उसकी विशेष आवश्यकता होती है। इसकी सबसे अधिक मात्रा अस्थि में रहती है। किन्तु १ प्रतिशत के लगभग वह अन्य ऊतकों में उपस्थित होता है। कोशिकाओं को आपस में मिलाये रखने में इसका विशेष भाग रहता है। रक्त के जमने के लिये कालसियम आवश्यक है। हृदय की क्रिया के लिये भी कालसियम की आवश्यकता होती है। मांसपेशियों के संकोच के लिये भी कालसियम को आवश्यक पाया गया है।

हमको नित्य प्रति १ से १·५ ग्राम कालसियम स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है जो दैनिक आहार से प्राप्त होता है, विशेषकर दूध से। गर्भावस्था तथा शिशु को दूध पिलाने के काल में स्त्रियों को अधिक कालसियम की आवश्यकता है। शिशु और बालकों को भी वृद्धि के लिये अधिक कालसियम आवश्यक होता है।

यह पाया गया है कि पैराथाइराइड के हारमोन का कालसियम के शरीर में अवशोषण पर सीधा प्रभाव पड़ता है। विटामीन-डी भी इसमें भाग लेती

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। वास्तव में कालसियम, विडामीन-डी और पैराथायराइड तीनों का एक समूह है जिस पर कालसियम का शरीर में समीकरण निर्भर करता है।

मनुष्य के रक्त से १०·५ मिलीग्राम प्रतिशत कालसियम पाया जाता है। इस मात्रा में घटा-बढ़ी बहुत कम होती है। किन्तु बहुत काल तक ऐसे आहार से जिसमें कालसियम कम होता है कालसियम का रक्तस्तर घट जाता है जिसको हाइपोकैल्सीमिया कहते हैं। रक्त में कालसियम की कमी से टिटेनी (Tetany) रोग हो जाता है।

टिटेनी—यह रोग प्रायः शिशुओं को होता है। अधिक आयुवालों में प्रायः उनको होता है जिनकी ग्रन्थियाँ अर्बुद के कारण या अन्य कारणों से निकाल दी जाती हैं। अथवा अवटुका निकालने में उनका भी उच्छेदन हो जाता है। जब रक्त कालसियम ७ या ८ मिलीग्राम प्रति १०० सी. सी. से भी कम हो जाता है तो यह रोग उत्पन्न होता है।

शिशुओं में इस रोग के लक्षण हाथ-पाँवों का मुड़ जाना, मांसपेशियों में क्रमहीन संकोचों का आक्षेपकों के रूप में होना, तथा आक्रमण के समय श्वासकष्ट होना हैं। रोग के आक्रमण होते हैं। आक्रमण के समय शरीर में बाँयठे आते हैं। अंग टेढ़े हो जाते हैं। ग्रीवा या मुख एक ओर को घूम जाता है। हाथ-पाँव भी इधर-उधर को मुड़ जाते हैं। चेहरा विकृत हो जाता है। गले में घड़घड़ाहट होने लगती है। शिशु का श्वास रुक-सा जाता है। वह श्वास लेने का प्रयत्न करता है। साधारण और अतिरिक्त श्वासकपेशी सब काम करते हैं। किन्तु तो भी शिशु श्वास नहीं ले पाता, यद्यपि श्वास पूर्णतया कभी नहीं रुकता, न उससे मृत्यु ही होती है। किन्तु ऐसा दीखता है जैसे श्वास आयगा ही नहीं। मुँह नीला पड़ जाता है। नेत्र मुँद से जाते हैं। शिशु विक्षिप्त या अर्धचेतन-सा दीखता है। यह दशा माता-पिता या अभिभावकों के दिल दहलानेवाली होती है। उनको शिशु के तत्काल प्राणांत का भय हो जाता है।

शीघ्र ही आक्षेपक समाप्त हो जाता है। धीरे-धीरे चेहरा ठीक हो जाता है, पेशियों की ऐंठन जाती रहती है, मुँह का वर्ण ठीक हो जाता है और शिशु स्वस्थ दिखाई देने लगता है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आक्षेपक के समय अंगुलियाँ हथेली की ओर संकुचित हो जाती हैं और हाथ कलाई पर अग्रबाहु की ओर मुड़ जाते हैं। पाँव टाँग की ओर को खिंच जाते हैं, एड़ी नीचे को निकल जाती है। कुछ शिशुओं में यह दशा स्थायी-सी हो जाती है, आक्षेपकों के अन्तःकाल में भी ऐसी ही बनी रहती है।

जो शिशु या बालक इस रोग से ग्रस्त होते हैं उनमें प्रायः कालसियम की न्यूनता के अन्य लक्षण भी पाये जाते हैं, रिकेट्स, उग्र पाचन विकार, अतिसार आदि।

चिकित्सा—रक्त में कालसियम का स्तर बढ़ाना रोग की चिकित्सा है। १ ग्राम कालसियम ग्लूकोनेट तुरन्त शिरा द्वारा दिया जाता है। साथ ही पैराथायराइड हारमोन के १५ से २५ मात्रक प्रति दूसरे दिन अन्तर्पेशी इन्जेक्शन द्वारा दिये जाते हैं। खाने को विटामीन-डी प्रचुर मात्रा में दी जाती है। यह क्रम तब तक जारी रखा जाता है जब तक आक्षेपक बन्द नहीं हो जाते। उसके पश्चात् भी दशा के अनुसार हारमोन और विटामीन-डी जारी रखे जाते हैं। ऐसा आहार दिया जाता है जिसमें कालसियम और डी विटामीन प्रचुर मात्रा में होते हैं।

पैराथायराइड इन्जेक्शन—राज्य द्वारा मान्य हैं और वह राजकीय औषधि निघण्टु (Official pharmacoepia) में सम्मिलित किया गया है। इंग्लैंड, अमरीका तथा अन्य देशों में भी इसको मान्यता प्रदान की गई है। यह पैराथायराइड के सक्रिय घटकों का जलीय घोल है जो अन्तर्पेशी इन्जेक्शन के लिये उपयुक्त होता है। इसकी क्रिया से अस्थियों से कालसियम की कुछ मात्रा घुलकर रक्त में आ जाती है। विटामीन-डी आन्त्र द्वारा कालसियम के शोषण को बढ़ाती है।

पैराथायराइड के सत्व के इन्जेक्शन से प्रयोगशालाओं में जन्तुओं के रक्त में कालसियम की मात्रा १८ से २२ मिलीग्राम प्रतिशत हो गई। अति कालसियम से भी हानि होती है। चिकित्सा के समय यह न भूलना चाहिये।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दशम परिच्छेद

हिस्टामीनरोधी औषधियाँ

(Antihistaminics)

ऐलर्जी (Allergy)—हिस्टेमीन के विषय का विचार करने से पूर्व ऐलर्जी की व्याख्या करना आवश्यक प्रतीत होता है। दोनों का अभिन्न सबंध है। कितने ही रोगों को ऐलर्जिक रोग कहा जाता है। ये रोग हिस्टामीन के कारण उत्पन्न होते हैं और उनकी चिकित्सा हिस्टेमीनरोधी औषधियों द्वारा की जाती है। ऐलर्जी शब्द का सबसे पहले फ़ान पिर्किट (Von Pirquet) ने प्रयोग किया था। प्रथम बार सीरम का इञ्जैक्शन देने के पश्चात् दूसरे इन्जैक्शन से जो कभी कभी प्रतिक्रिया के भयंकर लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं उस घटना के लिये फानपिर्किट ने यह शब्द प्रयोग किया था। इस घटना को अब अनाफ़िलेक्सिस या द्रुतग्राहिता (Anaphylaxis) कहते हैं। ऐलर्जी शब्द के अर्थ अब भी लगभग ऐसे ही हैं। इससे शरीर के ऊतकों की वह प्रतिक्रिया समझी जाती है जो वे किसी प्रोटीन पदार्थ के शरीर में पहुँचने पर करते हैं। उनमें जो सामान्य प्रतिक्रिया होती वह भी बदल जाती है। उसका रूप विकृत हो जाता है जिससे रोगों के से लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यह घटना शरीर के किसी भी अंग में हो सकती है और उस ही के अनुसार लक्षण उत्पन्न होते हैं। श्वास सम्बन्धी अंगों फुप्फुस आदि में होने से दमा तथा ज़ुकाम या नाकबहना (rhinitis) हो जाता है। पाचक अंगों में होने से अतिसार, जीमिचलाना, वमन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। त्वचा में शोथ उत्पन्न हो जाता है। आम पित्त जिसको साधारणतया पित्ती कहा जाता है जिसमें त्वचा पर शोथ के प्रान्त बन जाते हैं और उनमें खुजली आती है, इस दशा का विशेष लक्षण है। नाडी मण्डल संबन्धी लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं। कई अन्वेषकों ने आधासीसी का शूल, शिर-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दरद, नाड़ीशोथ (neuritis) आदि के कई रूपों को ऐलर्जी के कारण माना है। कितनी ही औषधियाँ, भोज्य पदार्थ, तथा रोग ऐसी दशायें उत्पन्न कर देते हैं।

प्रतिरक्षा या रोगक्षमता के संबंध में यह माना जाता है कि जब वेक्सीन, सीरम या किसी अन्य प्रोटीन पदार्थ को शरीर में प्रविष्ट किया जाता है तो उस पदार्थ को नाश करनेवाली वस्तुयें रक्त में बन जाती हैं। ये वस्तुयें उस आगन्तुक पदार्थ का विरोध करती हैं और अन्त में उसका निराकरण कर देती हैं। जिस वस्तु को शरीर में प्रविष्ट किया जाता है उसको **प्रतिजन** (Antigen) कहते हैं और जो वस्तु रक्त में बनती हैं उनको **प्रतिपिंड** कहते हैं। जब प्रतिजन और प्रतिपिंड एक दूसरे का निराकरण करते हैं तो उनकी रासायनिक प्रतिक्रियाओं से एक प्रकार के जीवविष (Toxins) बनते हैं। इन जीवविषों को ऐलर्गोटोक्सिन (Allergotoxin) कहते हैं। ये ऐलर्गोटौक्सिन ऊतकों में प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं। वे स्वयं हिस्टामीन हो सकते हैं या वे ऊतकों से हिस्टामीन उत्पन्न करवाते हैं जो रोग के लक्षणों का कारण होती हैं। इन हिस्टेमीनों के निराकरण ही के लिये गत कुछ ही वर्षों में अनेक योग तैयार हुये हैं और हो ही रहे हैं। प्रतिवर्ष इस प्रकार के अनेक नये योगों की घोषणा की जाती है।

हिस्टामीन

हिस्टामीन एक विशिष्ट रासायनिक पदार्थ है जिसकी रासायनिक रचना बहुत कुछ हिस्टाडीन नामक अमीनो अम्ल के समान है जैसा उनके संकेतों से स्पष्ट है। रासायनिक क्रिया से सहज में हिस्टाडीन से हिस्टामीन बन जाती है। हिस्टाडीन आहार के प्रोटीन के भंजन से सदा बनती रहती है और आन्त्र की श्लैष्मिक कला की कोशिकाओं द्वारा उसका अवशोषण होता रहता है। आन्त्र में जो जीवाणु उपस्थित हैं उनमें हिस्टाडीन से हिस्टामीन बनाने की शक्ति है। किन्तु यह क्रिया मनुष्य के आन्त्र में होती है या नहीं यह विवादस्पद है। कुछ पशुओं में विशेष कर घोड़ों में तो अवश्य होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हिस्टामीन प्रायः सब ही ऊतकों में उपस्थित मिलती है, पशुओं और वनस्पतियों दोनों में पाई जाती है। इसको प्रथम बार विन्डौस और वौट (Windaus and Vogt) ने सन् १९०७ में खोजा था और कृत्रिम प्रकार से संश्लेषण द्वारा तैयार किया था। सन् १९१० में वह अर्गट में पाया गया और बार्गर और डेल द्वारा पृथक् किया गया जिन्होंने एक वर्ष के पश्चात् ही उसको आन्त्र की श्लैष्मिक कला में उपस्थित पाया। पीयूषिका ग्रन्थि के पश्च खण्ड में आबेल और कुबोटा द्वारा यह वस्तु उपस्थित पाई गई। उन्होंने ऐच्छिक मांस पेशियों, यकृत तथा शरीर के अन्य कई ऊतकों में भी उसको उपस्थित पाया। अन्य अनेकों अन्वेषकों द्वारा इसकी खोज हुई जिनकी खोजों ने शरीर के प्रायः प्रत्येक अंग तथा ऊतक में इसको खोज निकाला। किसी अंग में इसकी मात्रा अधिक मिली किसी में कम। यह इसकी विशेषता है। न केवल मनुष्य में किन्तु भिन्न भिन्न पशुओं में भी मात्रा में विशेष भिन्नता पाई जाती है। स्तनधारी पशुओं में इसकी मात्रा पुफ्फुस, यकृत, आमाशय और आन्त्र, त्वचा और श्लैष्मिक कलाओं में अधिक होती है। किन्तु इसमें सन्देह है कि आन्त्र द्वारा उसका कितना अवशोषण होता है। आन्त्र में हिस्टामीन का नाश करने वाला एक प्रकिण्व हिस्टामीनेज़ समस्त प्रान्त में पाया जाता है।

शरीर में हिस्टामीन की इतनी व्याप्त और विस्तृत उपस्थिति को देखते हुये यही अनुमान किया जाता है कि शरीर में इसका कुछ विशेष कर्म होना चाहिये। किन्तु अभी तक उसके उपयोग के संबन्ध में कोई एकमत निश्चय नहीं किया जा सका है। किन्तु यह समझा जाता है कि हिस्टामीन की केवल स्थानिक क्रिया होती है।

शरीर के ऊतकों में हिस्टामीन एक विशेष प्रकार की कोशिकाओं में उपस्थित पाई जाती है जिसको मास्ट कोशिका (Mast cells) कहते हैं। इनका आकार बहुत बड़ा होता है और उनमें कण भरे रहते हैं। यह माना जाता है कि इन कोशिकाओं में हिस्टामीन उनकी वस्तु के साथ रासायनिक संयोग करके नहीं रहती। किन्तु वह ऐसे स्वतन्त्र रूप में रहती है जिससे

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उसका सहज ही में अभिसरण हो जाता है। वह कोशिका से निकलकर चारों ओर के ऊतकों में फैल जाती है। किन्तु उसकी क्रिया उसी क्षेत्र में परिमित होती है जहाँ वह स्थित है, सार्वदेहिक नहीं होती। वह शरीर में प्रायः सब ही स्थानों में पायी जाती है। इस कारण उसके विस्तरण की आवश्यकता ही नहीं होती।

हिस्टामीन का प्रभाव—हिस्टामीन का विशेष प्रभाव केशिकाओं का प्रसार है। इसके इञ्जैक्शन देने पर रक्तवाहिकायें विस्तृत हो जाती हैं। यदि थोड़ी ही मात्रा का (०·५ या १ सी. सी. का) चर्म के नीचे अधस्त्वक् भाग में इन्जैक्शन दिया जाय तो प्रथम उस स्थान की केशिकायें संकुचित हो जाती हैं और वह स्थान श्वेत दिखाई देता है। किन्तु शीघ्र ही एक या दो मिनट के भीतर वह लाल सूजा हुआ दिखाई देता है। वहाँ की केशिकायें प्रसरित हो जाती हैं, वह क्षेत्र लाल हो जाता है और सूज जाता है। ठीक पित्ती के समान क्षेत्र बन जाता है। अधिक मात्रा के गहरे भागों (पेशी आदि) में इन्जैक्शन देने से फुप्फुस के अतिरिक्त, सारे शरीर की, केशिकाओं का प्रसार होता है और रक्त-दाब घट जाता है। प्रयोगशालाओं में कुत्तों को हिस्टामीन का घोल बूंद बूंद करके निरन्तर विधि से देने पर उनका रक्त-दाब आधा और तृतीयांश रह गया। मनुष्य में हिस्टामीन की अधिक मात्रा से ठीक वैसी ही दशा होती है जैसी स्तब्धता या अनाफ़िलैक्सिस (Anaphylaxis) में होती है। रक्त-दाब कम हो जाता है। नाडी की गति तीव्र हो जाती है। अशक्यता गाढ़ी होती है। मृत्यु तक हो सकती है। दुर्घटना, रक्त स्राव, शल्यकर्म आदि से जो स्तब्धता उत्पन्न होती है उसका विशेष कारण हिस्टामिन मानी जाती है। सीरम के इन्जैक्शन से भी हिस्टामिन ही के कारण अनाफ़िलैक्सिस की दशा उत्पन्न होती है। जितनी हिस्टामीन का मात्रा अधिक होगी उतनी ही स्तब्धता या अनाफ़िलैक्सिस की दशा उग्र होगी और उतना ही रक्तदाब कम होगा। किन्तु शरीर के ऊतकों में हिस्टामीन को नाश करने की भी शक्ति है। इस हेतु वे हीस्टामीनेज (Histaminase) नामक प्रकिण्व उत्पन्न

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

करते हैं जो शनैः शनैः हिस्टामीन का निवारण करके रक्त-दाव को फिर अपने सामान्य स्तर पर ले आता है।

हिस्टामीन की क्रिया से फुप्फुस की रक्तवाहिनियों का संकोच होता है और वहाँ रक्तदाब बढ़ जाता है। यहाँ हिस्टामीन की क्रिया रक्तवाहिनियों तथा उनकी केशिकाओं तक ही सीमित नहीं है। उसकी क्रिया से फुप्फुस की श्वास नलिकाओं तथा प्रणालिकाओं की भित्तियों में उपस्थित मांसपेशी तन्तुओं का भी संकोच होता है जिससे दमा की सी दशा उत्पन्न हो जाती है। दमे, पित्ती, तृण ज्वर आदि ऐलर्जी के रोगों की उत्पत्ति का हिस्टामीन ही को कारण माना जाता है और उनकी चिकित्सा भी हिस्टामीनरोधी औषधियों द्वारा की जाती है।

हिस्टामीन का पाचक रसों पर भी प्रभाव होता है। उसके इन्जेक्शन से लाला रस का अधिक स्राव होता है। आमाशय के पाचक रस का स्राव भी अधिक होता है। इन्जेक्शन के आधे घंटे के भीतर अधिक रस आने लगता है और लगभग १½ घंटे तक आता रहता है। अग्न्याशय में भी रस की उत्पत्ति बढ़ जाती है। यदि हिस्टामीन के पुनः पुनः इन्जेक्शन दिये जाँय तो आमाशय या ग्रहणी में व्रण उत्पन्न हो सकते हैं।

चर्म पर हिस्टामीन का प्रभाव बताया जा चुका है। छिले हुये चर्म पर हिस्टामीन घोल लगाने से भी वही प्रभाव होता है। पहले वह स्थान श्वेत हो जाता है। फिर वह सूज जाता है और उसके किनारे उभरे हुये और लाल हो जाते हैं। कुछ व्यक्तियों में जो उसके विशेष असहिष्णु होते हैं उनमें सूजन के बड़े-बड़े प्रान्त बन जाते हैं जिनमें खुजली आती है।

शिर दर्द का भी हिस्टामीन को एक कारण माना जाता है। थोड़ी मात्रा के इन्जेक्शन से जिसका रक्तदाव पर प्रभाव नहीं होता, अनेक व्यक्तियों को शिर में दर्द होने लगता है। एक अन्वेषक का मत है कि कम से कम ४ प्रतिशत रोगियों में हिस्टामीन शिर दर्द का कारण होता है। जिनमें शिर दर्द का अन्य कारण नहीं पाया जाता उनमें प्रायः हिस्टामीन दर्द का कारण होती है। उनको हिस्टामीनरोधी औषधियों से लाभ होता है।

हिस्टामीन से गर्भाशय के संकोच भी बढ़ते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हिस्टामीनरोधी योग (Antihistaminics)

हिस्टामीनेज—यह शरीर में उत्पन्न होनेवाली प्राकृतिक वस्तु है जो हिस्टामीन का निराकरण करती है। किन्तु इसको अभी तक पृथक् नहीं किया जा सका है। शरीर में उसकी उत्पत्ति पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। इस कारण अभी तक उसका चिकित्सा में उपयोग संभव नहीं हो सका है।

संश्लिष्ट योग—हिस्टामीन रोधी अनेक योग बन चुके हैं जिनका यहाँ पृथक्-पृथक् वर्णन संभव नहीं है और न आवश्यक है। वे सब इथाइलएमीन नामक रासायनिक आधार से बने हैं। अमीनोअम्ल उनके निर्माण के आधार हैं। हिस्टीडीन, सिस्टीन, आर्जिनीन सब हिस्टामीन का प्रतिरोध करते हैं। किन्तु उनकी क्रिया दुर्बल होती है, प्रभावशाली नहीं होती।

निम्नलिखित योगों को हिस्टामीन के प्रभाव को दूर करने में विशेषतया उपयोगी पाया गया है।

ऐन्टर्गान, नियोऐन्टर्गान—इन योगों को फ्रान्स के विद्वानों ने दो वर्ष पूर्व तैयार किया था। नियोऐन्टर्गान को पायरिलऐमीन भी कहते हैं। इन दोनों की समान क्रिया है। ये प्रबल हिस्टामीनरोधी हैं। इनकी एक मात्रा हिस्टामीन की ५० से ७० घातक मात्राओं का निराकरण करने के लिये पर्याप्त पाई गई है। इन योगों का प्रभाव बैनाड्रील के समान होता है।

पायरिबैन्जैमीन-हाइड्रोक्लोराइड—यह भी प्रबल हिस्टामीन विरोधी योग है। इसमें १०० गुणा घातक मात्राओं के निराकरण की शक्ति है। इस योग पर बहुत अन्वेषण कार्य हुआ है। प्रयोगशालाओं में जन्तुओं पर भी कार्य हुआ और चिकित्सकों ने रोगियों पर सावधानी के साथ विस्तृत अनुभव प्राप्त किये। परिणाम सन्तोषजनक हुये हैं। इस योग के उपद्रव या दुष्प्रभाव न्यूनतम पाये गये हैं। लाभ अन्य योगों के समान किन्तु द्रुत और वेग युक्त होता है। इस कारण इसका प्रयोग अधिक होने लगा है।

इसी प्रकार के अन्य योग भी बाजार में बिकते हैं जिनकी संख्या ५० से

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भी अधिक है। और नये-नये योग बनकर बाजार में आते रहते हैं। उनमें से कुछ के नाम नीचे दिये जाते हैं। खाने की टिकिया, इन्जेक्शन के ऐम्पूल तथा पीने के लिये शरबत भी बनाये गये हैं। सब ही बड़ी-बड़ी औषधि-निर्माण करने वाली कम्पनियों ने अपने-अपने योग बनाये हैं।

बैनाड्रील (Benadryl)—इसका रासायनिक नाम डाइफिन-हाई-ड्रियामीन हाइड्रोक्लोराइड है जिसको पार्कडैविस कम्पनी ने बनाया है। अन्वेषण कर्त्ताओं ने इसको अन्य योगों की अपेक्षा अधिक क्रियाशील पाया है। यह एक श्वेत रंग का क्रिस्टली चूर्ण होता है जो जल में अत्यन्त घुलनशील है। इसमें एक विशेष गन्ध होती है। इसका स्वाद कड़ुआ होता है। इसकी २५ और ५० मिलीग्राम की टिकियाँ और कैप्सूल तथा इन्जेक्शन के ऐम्पूल बनाये जाते हैं जो बाज़ार में मिल सकते हैं।

प्रयोग शालाओं में किये गये प्रयोगों में जिन पशुओं (बहुधा कुत्ते) को बेनाड्रील खिला दिया गया था या इन्जेक्शन द्वारा दिया गया था उन पर हिस्टामीन का कोई प्रभाव नहीं हुआ। उनका रक्तदाब पूर्ववत् ही रहा। केशिकाओं का प्रसार भी नहीं हुआ और न फुफ्फुस की वायु प्रणालिकाओं में संकोच हुये। वे स्वस्थ रहे। बैनाड्रील की मात्रा हिस्टामीन की मात्रा के अनुसार देनी पड़ी। अर्थात् हिस्टामीन की अधिक मात्रा के निराकरण के लिये बैनाड्रील की भी अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है।

नाम	निर्माता	योग का रूप
बैनाड्रील	पार्कडैविस	कैप्सूल २५'५० मिलीग्राम। ऐलिग्ज़िर १० मिलीग्राम ४ सी. सी. में' इन्जेक्शन के ऐम्पूल १० मि. ग्राम १ सी. सी. में। १० और ३० मिलीग्राम की शीशियाँ।
एम्बोड्रील	पार्क डैविस	कैप्सूल २५ मिलीग्राम के। इंजेक्शन (अ. शि. और अ. पे.) ५ मि. ग्राम प्रति सी. सी. तथा १० सी. सी. के।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ऐन्टिस्टीन	सीबा	टिकियाँ १०० मि. ग्राम.। नाक में डालने का घोल ५ मि. ग्रा. प्रति सी. सी। नेत्र में डालने का घोल ५ मि. ग्रा. सी. सी.।
डिविस्टाइन	सीबा	टिकियाँ जिनमें ५० मि. ग्रा. ऐन्टाजोलीन हाइड्रो क्लोराइड और ५० मि. ग्रा. ट्रिकपेलेनामीन होता है।
प्लिभासीन	सीबा	टिकियाँ १२·५ मि. ग्राम की। टिकियाँ ३० मि. ग्रा. की जिनमें २५ मि. ग्रा. टिपेलेनामीन + ५ मिलीग्राम मिथाइल फेनिडिल ऐसीटेट होता है।
पायरीबैंजामीन-साइट्रेट	सीबा	ऐलिक्जिर (पीने का) ७·५ मि. ग्रा. प्रति सी. सी।
पायरोनिल	लिली	टिकियाँ १५ मि. ग्रा. की।
हिस्टाडील	लिली	कैप्सूल २५, ५० और १०० मि. ग्रा. के। शरबत ६ मि. ग्रा.। इंजेक्शन १० १० सी. सी. (२० मिलीग्राम प्रति सी. सी.) के ऐम्पूल। घोल ५ प्रतिशत। नेत्र में लगाने का मरहम ५ प्रतिशत।
को-पायरोनिल	लिली	कैप्सूल, १५ मि. ग्रा. पायरोनिल + २५ मि. ग्रा. हिस्टाडील + १२·५ मि. ग्रा. क्लोपेन हाइड्रोक्लोर के।
हिस्टाक्लोपेन	लिली	२५ मि. ग्रा. हिस्टाडील + १२·५ मि. ग्रा. क्लोपेन के कैप्सूल। तथा घोल
ट्रिमेटोन मैलियेट	शैरिंग	२५ मि. ग्रा. की ठिकियाँ। ऐलिक्ज़िर ७·५ मि. ग्रा. प्रति सी.सी.।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्लोरट्रिमेटोन-मैलियेट	शैरिंग	४ और ८ मि. ग्राम की टिकियाँ। इंजेक्शन के एम्पूल, (१० मिली ग्रा. प्रति सी. सी) १ सी. सी. के, २ सी. सी. के (१०० मिलीग्राम १ सी. सी. में) शरबत
टागाथेन	लैडर्ले	२५ मिली ग्राम की टिकियाँ।
नियो-ऐंटर्गान मैलियेट	शार्पएण्ड ढोम	१५ और ५० मिली गाम की टिकियाँ।
पैराजील	बरोजवैल्कम	२५ और ५० मिली ग्राम की टिकियाँ।
थिफोरीन	रौची	१० और २५ मिली ग्राम की टिकियाँ। शरबत
पायरोलेजोट	अपजोहन	२५ और ५० मिली ग्राम की टिकियाँ।
हाईड्रीक्लिन	सर्ले (Searle)	टिकिया २५ मिलीग्राम डाइफिन हाइड्रामीन + १०० मिलीग्राम ऐमिनो-फ़ाइबिन। ऐलिग्ज़िर।

इन योगों के प्रभाव में एक और विशेषता पाई गई है। प्रत्येक व्यक्ति को एक ही योग से लाभ नहीं होता। किसी में कोई योग लाभ करता है तो दूसरे को दूसरे योग से लाभ होता है। इस कारण भिन्न योगों को या भिन्न प्रकार (रासायनिक रचनानुसार) के कई योगों को मिलाकर देना अधिक श्रेयस्कर होता है। इसमें सन्देह नहीं है कि अन्य दशाओं की अपेक्षा पित्ती की दशा में हिस्टमीन रोधी योगों को अधिक क्रियाशील पाया गया है। किन्तु उपयुक्त योग का प्रयोग आवश्यक है।

उपयुक्त योग का चुनाव—हिस्टामीनरोधियों की उस बड़ी संख्या से जो इस समय बाजार में मिलती है उपयुक्त योग का चुनाव सहज नहीं होता। इन योगों का इतना प्रयोग किया गया है और अनेक विद्वानों ने प्रयोग-शालाओं में जन्तुओं पर किये गये प्रयोगों और रोगियों से प्राप्त अनुभव को

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रकाशित किया है कि बहुत से योगों के गुण-दोषों का पूर्ण ज्ञान हो चुका है। उन्होंने अपने लेखों में इनके सम्बन्ध में पूर्ण प्रकाश डाला है जिससे खोज करने वालों का मार्ग सुगम हो गया है।

विशेष बात यह है कि इन योगों के प्रभाव में कोई विशेष भेद नहीं पाया गया है। वैनाड्रील और पायरीबैन्जामीन का सबसे अधिक प्रयोग हुआ है। ऐन्टिस्टाइन, फेनर्गान, हिस्टाडील, हाइड्रिलिन- फेनर्गान, क्लोरट्रिमाटोन इन सब का भी बहुत अनुभव हुआ है और उन पर प्रयोग भी हुये हैं। इन सबों के प्रयोग से ६७ प्रतिशत रोगियों को विशेष लाभ होता है। तृतीयांश रोगी ऐसे होते हैं जिनको लाभ नहीं होता है। सबसे अधिक लाभ पित्ती में होता है और उसके पश्चात् प्रतिश्याय (नाक बहने) में और चर्म शोथ (Dermatitis) में, जो दुष्प्रभाव होते हैं वे सबों में एक ही समान हैं। वैनाड्रील और फेनर्गान से रोगियों को निद्रा सी आने लगती है। यह प्रभाव बहुत (लगभग २० प्रतिशत) रोगियों में देखा गया है। ऐन्टिस्टाइन आदि से ऐसा कम होता है।

२. प्रतिश्याय में केवल उन ही रोगियों को लाभ होता है जिनमें रोग का कारण हिस्टामीन होती है। प्रारम्भ में प्रतिश्याय के लिये जिसको साधारण जुकाम कहते हैं, इन योगों को अचूक औषधि समझा गया था। किन्तु धीरे धीरे यह स्पष्ट हो गया कि वाइरस जन्य जुकाम में इससे लाभ नहीं होता। साधारण जुकाम का कारण प्रायः वाइरस होता है। जिन रोगियों में वाइरस में उपस्थित प्रोटीन भी रोगोत्पत्ति में कुछ भाग लेती है उनको थोड़ा बहुत लाभ होता है।

३. दमे (कास) की चिकित्सा में हिस्टामीनरोधियों का विशेष लाभ आक्रमण को रोकने में हैं। इनसे रोग के आक्रमण का प्रतिषेध होता है। वे उस कारण को जिससे दमे का आक्रमण उत्पन्न होता है, रोकने में समर्थ मालूम होते हैं। उनके प्रभाव से आक्रमण के लक्षणों की उग्रता में भी कमी रहती है। श्वास प्रणालिकाओं के आक्षेपकों (spasm) को दूर करने में वे असमर्थ हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दुष्प्रभाव—हिस्टामोनरोधियों से कोई विशेष हानिकर प्रभाव नहीं होते। शिथिलता तथा अर्धचेतनता (नींद आने के समान अवस्था) इन योगों के विशेष प्रभाव हैं। उनको निद्रालु प्रभाव के लिये प्रयोग किया गया है। किन्तु अन्य निद्रालु औषधियों की भाँति उनका प्रभाव नहीं होता।

शिर दर्द, शिर घूमना, जी मिचलाना यथा पाचन विकार भी कुछ रोगियों में पाये गये हैं।

किन्तु इन औषधियों को दीर्घकाल तक प्रयोग करना पड़ता है। अतएव उनकी अत्यधिक मात्रा से हानि हो सकती है। बच्चों को विशेष हानि की सम्भावना रहती है। कुछ की मृत्यु तक रिपोर्ट की गई हैं। अत्यधिक मात्रा से अचेतना, पेशियों में कम्प, उन्माद तथा वाँयठे आने लगते हैं। श्वासगति कम हो जाती है। नीलिमा प्रकट हो जाती है। रोगी पूर्णतया अचेतन होता है। १ से २४ घण्टे में अत्यधिक मात्रा से मृत्यु हो सकती है।

दमे (कास) की चिकित्सा

इस रोग में समय समय पर श्वास कष्ट के आक्रमण होते हैं। रोगी श्वास नहीं ले पाता। वह मुँह खोल कर वेग से श्वास लेने का प्रयत्न करता है। वक्ष की अतिरिक्त श्वासक पेशियाँ भी संकोच करती हैं। नथुनों का बार बार विस्फार होता है। किन्तु रोगी को ऐसा प्रतीत होता है मानों श्वास नहीं आता। इस दशा का कारण श्वास प्रणालिओं की पेशियों के आक्षेपक होते हैं, उनमें क्रमहीन संकोच होता है जिससे नलिकायें संकुचित हो जाती है और वायुमार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। बहुधा सूक्ष्म प्रणालिकाओं में श्लेष्मा शुष्क होकर उनका मार्ग रोक देता है जिससे वायु का जाना या निकलना रुक जाता है।

अतएव आक्रमण को दूर करने के लिए ऐसी औषधि की आवश्यकता होती है जिससे श्वास प्रणालियों की भित्तियों के पेशीस्तर या पेशी-समूह के आक्षेपक जाते रहें, संकोच समाप्त होकर वे विस्फारित हो जाँय। उनके चौड़ जाने से वायु का मार्ग खुल जायगा और रोगी का कष्ट दूर होगा। इसके लिये ऐपीनेफ्रिन या ऐड्रिनेलिन सर्वोत्तम पाई गई हैं और जितने भी ऐड्रिनप्रेरक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

योग हैं उनका प्रभाव ऐड्रिनोत्पत्ति को बढ़ाने से होता है। इसी कारण कार्टिसोन, प्रेडनीसोन और ए० सी० टी० एच० (ACTH) बहुत लाभदायक प्रमाणित हुये हैं। अनुकम्पीतन्त्र के तन्तुओं के उत्तेजन से श्वास नलिकाओं का विस्फार होता है। वागस नाड़ी की उत्तेजना से उनका संकोच होता है। एट्रोपीन (बैलाडोना का अलकलाइड) वागस की क्रिया को रोक देता है। इस कारण इसका भी दमे के आक्रमण को दूर करने के लिये प्रयोग किया जाता है। ऐड्रिनेलिन या ऐपीनेफ्रिन तथा नोरेपीनेफ्रिन अनुकम्पी तन्तुओं की उत्तेजना द्वारा श्वास प्रणालियों का विस्फार करती है।

कुछ रोगियों में ऐड्रिनेलिन का प्रभाव नहीं होता। इसका कारण हिस्टामीन होती है। ऐसी दशा में किसी हिस्टामीनरोधी को देने के पश्चात् ऐड्रिनेलिन की क्रिआ होने लगती है।

इफेड्रीन, नोरेपीनेफ्रिन, नियोसिनेफ्रिन तथा ईसूप्रिल की क्रिया भी ऐड्रिनेलिन (ऐपीनेफ्रिन) के समान होती है। ईसूप्रेल की टिकिया मुंह में जिह्वा के नीचे रखी जाती है। इसका बहुत प्रयोग होता है। इससे ऐपीनेफ्रिन की भांति रक्तदाव नहीं बढ़ता। इस कारण उच्च अविरक्तदाव के रोगियों को ऐपीनेफ्रिन देना उचित नहीं है।

थियोफाइलिन तथा ऐमिनोफाइलिन का प्रयोग आक्रमणों को रोकने के लिये किया जाता है। ये भी श्वास प्रणालियों के विस्फारक योग हैं। थियोफालिन का गुण अरेखित (अनैच्छिक) पेशियों को शिथित करना तथा उनके संकोच को दूर करना है। अतएव ऐड्रिनेलिन द्वारा आक्रमण को दूर करके ऐमिनोफाइलिन के प्रयोग से श्वासनलिकाओं के विस्फार को बनाये रखने का प्रयत्न किया जाता है। यदि ऐमिनोफाइलिन के अन्तर्शिरीय इन्जेक्शन देने हों तो उनको धीरे-धीरे देना चाहिये। द्रुतगति से देने से दुर्घटना हो चुकी हैं। उसकी गुदावर्त्ति भी सफल प्रमाणित हुई है।

कार्टीसोन, ए० सी० टी० एच० आदि का ऊपर उल्लेख किया गया है। जिन रोगियों को उपर्युक्त साधनों से लाभ न हो उनको इन पदार्थों से लाभ

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होने की संभावना होती है। इस कारण कार्टिकोस्टिराइड हारमोनों का बहुत प्रयोग किया जाता है। कार्टीसोन की अपेक्षा प्रेडनीसोन का अधिक प्रयोग होता है। इनके गुणदोष पहिले बताये जा चुके हैं। प्रैडनीसोन की मात्रा कार्टीसोन की अपेक्षा $\frac{1}{5}$ होती है। इस कारण उससे उपद्रवों की बहुत कम संभावना है। ७.५ मिलीग्राम प्रैडनीसोन प्रतिदिन रोगियों को बहुत समय तक प्रयोग करवाया जा सकता है।

ए० सी० टी० एच० की क्रिया अधिवृक्क के बहिस्था में स्टिराइड हारमोनों की उत्पत्ति बढ़ाने से होती है। किन्तु इसको इन्जेक्शन द्वारा देना पड़ता है। दीर्घकाल तक प्रयोग में यह एक विशेष बाधा है।

पुटासियम आयोडाइड के उल्लेख के बिना दमे की चिकित्सा अपूर्ण रह जाती है। पुटासियम आयोडाइड की विशेष क्रिया श्लेष्मा को पतला करना है। इससे स्राव का निकलना सहज होता है। अतएव रोगी को विश्राम मिलता है और आक्रमण के रुकने में सहायता मिलती है। किन्तु उसके लिये पोटासियम आयोडाइड की उपयुक्त मात्रा पहुँचनी चाहिये। १ से ३ ग्राम प्रतिदिन पोटास आयोडाइड देने से यह क्रिया बहुत कुछ संतोषजनक होती है जिससे श्लैष्मिक स्राव निकलने लगता है। किन्तु तो भी मात्रा और बढ़ानी चाहिये जब तक पाचन विकार उत्पन्न न हो जांय। तब थोड़ी मात्रा घटा कर रोगी को प्रयोग कहवाया जाय जिससे रोगी पर पूर्ण प्रभाव हो और उसको हानि न होने पावे। इस प्रकार प्रत्येक रोगी की पोटस आयोडाइड की सहन करने की शक्ति को जांचकर उसको अधिक से अधिक मात्रा का प्रयोग करवाना उचित है।

पोटासियम आयोडाइड की यह क्रिया बागस नाड़ी के द्वारा होती है। यदि वागस को काट दिया जाय तो यह क्रिया होनी बन्द हो जाती है। ऐमोनियम क्लोराइड और इपीकेकुवाना की क्रिया भी इसी प्रकार होती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शब्दानुक्रमणिका

(बीसवीं शताब्दी की औषधियाँ)

शब्द	पृष्ठ
अतालता	३०१
अतिरक्तदाब	२३२
— की औषधियां	२३२
अधिवृक्क ग्रन्थि	३३४
अनार्तव	३२०
अनुशिथिलन दाब	२३३
अन्तर्जीव विष	१२८
अमिबिकता	२०७
अमिबिक प्रवाहिका	२००
अमीबानाशी औषधियां	२०६
अवटुका ग्रन्थि	३५३
अवटुन्यूनता	३५४
अर्जीनिया मैरीटाइमा	२८१
अहलिख	७६
आइसोनियेज़िड	२२४
आइसोनियोप्रियेज़िड	२२६
आईनोसिटोल	४७
आक्सोफिनार्सिन	७८
आक्सीटैट्रासाइक्लीन	२१५
आतंचन (रक्त) काल	३०१
आर्टरिनोल	२४१
आर्सनिक	७७
आर्सफ़िनामिन	७८

शब्द	पृष्ठ
इनवर्सीन	२५९
ईकोलिड	२५९
ईमेटीन	२०९
ईलैक्ट्रोकार्डियोग्राम	२७२
ईस्ट्राडियोल	३२५
ईस्ट्रोजन्स	३२०
एटाब्रीन	१९९
ऐडीसन का रोग	३३५
एथावरीन	२९३
ए० सी० टी० एच (ACTH)	३३८, ३४४, ३५१
एसीलेनिड	२८१
ऐक्रोमाइसीन	१६२
ऐजियोटोनिन	२४२
ऐटौक्सिल	७८
ऐमिलनाइट्राइट	२९०
ऐराइथ्रोमाइसीन	१६७
ऐरोक्ज़ेन्डरफ्लेमिंग	१३०
ऐल्कोसीन	९२
ऐल्गामाइसीन	१७५
ऐन्टरोवायोफ़ार्म	२१३
ऐन्डेभीवाहिस्टोलिटिका	२०४
ऐन्ड्रोजन	३३१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शब्द	पृष्ठ
ऐन्टर्गान	३६७
ऐन्यूरिन	२३
ऐन्सोलाइसीन	२५८
ऐप्रिसोलीन	२५३
ऐसीलेनिड	२८१
ऐस्कोर्विक अम्ल	४९
ओलियेन्डोमाइसीन	१७५
औकसीटैट्रामाइक्लीन	१६४
औक्टिनाइट्राइट	२५१
औक्सामाइसीन	१७४
औरोमाइसीन	१६४
कठिन व्रण	७६
कनवलेरियामेजेलिस	२८२
कष्टार्तव	३२४
कामोक्विन	२०१
कारबोमाइसीन	१७३
कार्टीसोन	३३७, ३९
कार्डियासीन	१७२
कार्बार्सन	२११
कुमाडिन सोडियम	३०६
कैथोमाइसीन	१७५
कैथोसीन	१७५
कैरोटीन	८
कोलीन	४५
कौलेस्टरोल	३०२
कौलोजिन	४९

शब्द	पृष्ठ
क्लोरआइसोन्डैमीन	२५९
क्लोरटैट्रासाइक्लीन	१६४; २१५
क्लोरमाइसिटीन	१५७
क्लोरैम्फिनिकोल	१५७
क्लोरोक्विन	२००, २१३
क्लोरोगुवेनाइड हाइड्रोक्लोराइड	२०२
क्विनाक्राइन	१९९
क्विनीडीन	२८२
क्विनीन	१९४
— सल्फ़ेट	१९४
— बाईसल्फेट	१९४
खंडज	१९०
खंडज प्रसू	१९०
खेल्विन	२९४
गलगंड	३५८
गलनक्षेत्र	३००
गैन्टिसीन	९२
गोणिकार्ति	१०३
गोनोरिया	१०१, १०३
ग्लिसरिलट्राईनाइट्रेट	२८९
घनास्रता	२४४
चलयुग्म	१९१
चिनिफोन	२१२
चेन	१३२
जीरोआप्थेल्मिया	९
जिटेलीन	२८१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शब्द	पृष्ठ
जीवाणुज प्रवाहिका	२०६
जीवाणुस्तंभक क्रिया	९०, ९६
जीवाणु	११०
— दण्डाणु	११६
— गोलाणु	११६
— सर्पिलाणु	११७
टाइरोएथानोलेमीन ट्राईनाइट्रेट	२९३
टाइरोथ्राइसीन	१५०, १७०
टिटेनो	३६०
टिवियोन	२२७
टैक्टौक्टरोन	३३१
टैट्रासाइक्लीन	१६१
ट्यूबर्क्यूलोसिस की औषधियाँ	२१७
ट्राईआयोडोथ्राइनीन	३५४
ट्रिपोनिमा पैलिडम	७६
ट्रोमिक्सान	३१२
डाईहाइड्रोस्ट्रिटटोमाइसीन	१५३, २२०
डायासेन	२२७
डायोडोक्विन	२१३
डाराप्रिम	२०३
डिकूमैरोल	३०९
डिजिटेलिस	२७४
डिजिटोनिन	२७६
डिजिटौक्सिन	२७६
डियाक्सिन	३१४
डोका (Doca)	२४१

शब्द	पृष्ठ
थाइरोक्सिन	३५४
थियामीन	२३
थियामीनन्यूनता	२७
थियोफाइलीन	२९१
थैवीटियानैरीफ़ोलिया	२८२
थ्रौम्बोप्लास्टिन	३०५
थ्रौम्बोप्लास्टिनोजन—जटिल	३०५
दीर्घोपयोगीप्रतिजीवी	१५६
दृष्टिनाडीक्षय	१९६
द्विदृष्टि	१९६
धमनी काठिन्य	२४४
नष्टार्तव	३२३
नाइट्राइट लवण	२६२
नाइट्रेट लवण	२६२
नाइट्रेटामीन	२९३
निकोटिनिक अम्ल	३४
निमोनिया	१०३
नियोआर्सफ़िनामिन	७८
नियोएन्टर्गान	३६७
नियोमाइसीन	१५५
नियोसालवर्सन	७८, ८०
निस्रोतग्रन्थि	३१५
नेत्राभिष्यंद	१०६
नोरैपीनेफ्रिन	२४३
नोवोवायोसीन	१७५
परिमण्डली अपर्याप्तता	२९६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शब्द	पृष्ठ
परिमण्डली संरोध	२९६
पापावेरीन हाइड्रोक्लोराइड	२९२
पायरेजिनेमाइड	२२८
पायरिडौक्सिन	३२
पीयूष ग्रन्थि	३५१
पुरुष हारमोन	३३१
पेनिसिलियम नोटेटम	१३१
पेनिसिलिन	१३२, १३५ १३७, १३८, १४१
— बेजेथीन-जी	१४३
— फ़िनौक्सी मिथाइल	१४४
— वी-पोटासियम	१४४
— हाइड्राब्रामीन जी	१४४
— हाइड्रोआयोडाइड, ए. एन.	१४५
— प्रोकेन	१४५
— की विषाक्तता	१४६
— की सहिष्णुता	१४६
— से मृत्यु	१४६
पैराअमीनो बैंजोइकअम्ल	१०१
पैराअमीनो बैन्ज़ीन	१०१
पैराअमीनो सैलीसिलिकअम्ल	२२२
पैराथाइराइड	३५९
पैल्यूड्रीन	२०२
पैन्टाइराइथ्रिटोल टैट्रानाइट्रेट	२९३
पैन्टाक्वीन	१९०
पैन्टोथीनिकअम्ल	३७
पोषज	१९०
पौलीमिक्सिन	१७३
प्यूरोमाइसीन	१७५
प्रकाशासह्यता	१९६
प्रकुंचनीदाब	२३३
प्रच्छन्न खंडज	१९०
प्रतिजीविता	११३
प्रतिजीवी औषधियाँ	११३
प्राइसाक्वीन	१९८
प्रान्तिक नाडीशोथ	२५
प्रैडनीसोन	३४७
प्रैडनीसोलोन	३४७
प्रोकेनेमाइडहाइड्रोक्लोराइड	२८५
प्रोगुवानिल हाइड्रोक्लोराइड	२०२
प्रोथ्रौम्बिन	३०५
प्रोजैस्टरोन	३२०
प्रोमीज़ोल	२२७
प्रोमीन	२२७
ब्लाज़मोडियम वाइवैक्स	१८९
— फैल्सीपैरम	१८९
— मैलेरी	१८९
फंगस	१३०
फिरेन्टीन	२४३
फौलिक अम्ल	४२
फ्यूमिगिल्लिन	१७९, २१४
फ्लोरे	३२१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शब्द	पृष्ठ
बहिर्जीव विष	१२७
बहुविटामीन	५८
बायोटीन	४०
बिम्बाणु अवयव	३०२
बिस्मथ	७७, ८०
बेनाड्रील	३६८
बेसिट्रेसिन	१७१
मर्फ़ानिल	९२, १०२
मल्टी विटामिन	५८
माट्रोमाइसीन	१७२
मायोकौस्टेटीन	१७६
मायोबैक्टीरियमव्यूबर्क्यूलोसिस	२१८
मार्कुमार	३१३
मार्फ़िया	२९९
मार्सिलिड	२२६
मिक्सोडीमा	३५६
मिनियाडोन	५६
मिटामीन	२९३
मिलिविस	२११
मीथियोनाइन	४६
मूढवामनता	३५४
मेकामाइलेमीन	२५९
मेगनामाइसीन	१७३
मेफार्साइड	७८, ८०
मेवासीन	२५९
मेसुडिन	९२

शब्द	पृष्ठ
मैट्रोपैथिया हैमरेजिका	३२४
मैटहीमोग्लोबीनीमियाँ	१९७
मैपाक्रीन	१९९
मैलेरियानाशक औषधियाँ	१८४
मैलेरिया पराश्रयी	१८५
— अमैथुनी जीवनचक्र	१९०
— ऊतकान्तर्गत ,,	१९२
— मैथुनी ,,	१९०
यक्ष्मा की औषधियाँ	२१७
युग्मक	१९१
युग्मकजन	१९०
युग्मक पुटी	१९१
रक्तक्षीणता	१०७
रक्तपूतिता	१०३
रक्तमेह	१०७
रक्तलयन	१९०
रक्तलायी कामला	१९७
रक्तस्राव नवजात शिशुओं में	५७
रक्तातंचन	३०४
रक्तातंचनरोधी औषधियाँ	३०६
— हियारिन सोडियम	३०६
— डिकूमेरोल	३०९
— ट्रोमिक्सान	३१२
— कुमोपायरिन	३१२
— कुमाडिन सोडियम	३१२
— मार्कुमार	३१२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शब्द	पृष्ठ
रक्तातंचन हेड्रूलिन	३१२
— डिपाक्सिन	३१४
रक्तदाब	२३३
रक्तनीलिमा	१०७
रक्तोत्पादक औषधियाँ	६१
— लोह	६४, ६६
— यकृत	७०
— आमाशय	७१
— विटामिन बी	१२ ७२
— एस्कोर्बिकअम्ल	७३
— फौलिक अम्ल	७३
रतौंधी	९
राइबोफ्लेवीन	२९
राउल्फिया सर्पेन्टाइना	२०७
रासायनी चिकित्सा	७४
रासायनिक मस्तिष्क	३१२
रिकेट्सिया	१२९
रिसर्पीन	२५०
रेनिन	२४२
रोग क्षमता	१२८
रोनाल्ड रौस	१८६
लेवरान	१८५
वाइरस	१२९
वायोफ़ार्म	२१३
वायोमाइसीन	१५४, २२९
विटामीन	३
विटामीन ए	८
— डी	१६
— बी	२२
सी	४७, ५१
— ई	५३
— के	५५
विरेट्रम	२६८
विसर्प	१०३
वृक्कार्ति	१०७
शौडिन	७६
श्वेताणुक्षय	१०७
श्वेतकणक्षय	१०७
सल्फ़ा औषधियाँ	८६
— सल्फ़ेनिलेमाइड	८९
— सल्फ़ापायरिडीन	८९, १०४
— सल्फ़ाथियाजोल	९०, १०४
— सल्फासिटेमाइड	९०
— सल्फ़ाडियाज़ीन	९१, १०४
— सल्फ़ामेराज़ीन	९१, १०४
— सल्फ़ाडाइमिडीन	९१, १०४
— सल्फ़ासोमेडिन	९१
— सल्फ़ाइथाइलथियाडियाज़ोल	९२
— सल्फ़ा गुएनेडीन	९३
— सक्सिनिलसल्फ़ाथियाज़ोल	९३
— सल्फामियौक्सी पायरिडीन	९२
— सल्फासोक्सेज़ोल	९२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शब्द	पृष्ठ
सल्फा सल्फामायलोन	९३
— थैलिलसल्फ़ासिटेमाइड	९४
सल्फोरन	१११
— डाइसोन	११२
— प्रोमीन	११३
सर्पगन्धा	२४६
सहजीविता	११३
साइक्लोसिरीन	१७४
साइनोकोबलएमीन	४३
सालवर्सन	७८
सिजमामाइसीन	१७५
सिफिलिस	७२
— में आयोडाइड	८२
— में पेनिसिलिन	८३
सिरेटोनीन	२४३
सीरोमाइसीन	१७४
सोडियम नाइट्राइट	२६३
स्त्री-हारमोन (ईस्ट्रोजन)	३२०
स्पन्दनात्यय	३०१
स्पायरोकोटा पैलिडा	७६
स्पोरज	१९०
स्टिलबीस्ट्रौल	३२६
स्ट्रोफेन्थन ग्रेटस	२८१
स्ट्रिप्टोथ्राइसीन	१५१

शब्द	पृष्ठ
स्ट्रिप्टोमाइसीन	११५, २२१
स्ट्रिप्टोहाइड्रेज़ाइड	२२१
स्टिराइड केन्द्रक	३१५
स्वतः संक्रमण	१२७
हाइड्रोकार्टीसोन	३३७, ३३९
हारमोन	३१५
— कानिकरासायीन संघटन	३१७
हाइडर्जीन	२६१
हिपेरिन	२९९
हिपेरिन सोडियम	३०६
हिस्टामीन	३६३
— का प्रभाव	३६५
हिस्टामीनरोधी औषधियें	३६३
हिस्टामीनेज	३६७
हृदय, रचना और कार्य	२६७
— का रक्तसंभरण	२७२
— की नाडियाँ	२७३
हृदयातिपुष्टि	२४४
हृत्येशी जलन	२८९
— की संकोचशीलता	२६९
— के संकोची की विशेषता	२७०
हेडूलिन	३१३
हैक्सामिथोनियम	[illegible]

Vaidyaraj Lindi Bhaji National Ayurvedic Library Jaipur, New Delhi-26
000132

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लेखक की अन्य कृतियाँ

नव्य चिकित्सा विज्ञान

(भाग २ : पाचक तन्त्र के रोग)

इसमें नवीनतम मतों के अनुसार रोगोत्पत्ति के कारण, तज्जन्य विकृति-लक्षण, परीक्षा करने पर मिलने वाले चिह्नों, आवश्यक प्रायोगिक परीक्षाओं तथा चिकित्सा का विशद विवेचन करते हुए चिकित्सक के लिये पुस्तक को सब प्रकार से उपयोगी बनाया गया है। ८-००

गर्भरक्षा तथा शिशु-परिपालन

इस पुस्तक में गर्भकाल में उत्पन्न होनेवाले रोग, प्रसव की कठिनाइयाँ, उनको दूर करने के उपाय, नवजात शिशु की देख-रेख, उसका पोषण, शारीरिक वृद्धि, अवस्था के अनुसार शिशु के आहार में परिवर्तन, ऊपरी दूध बनाना और पिलाना, शिशु के वस्त्र, उसका स्नान, व्यायाम आदि का पूर्ण वैज्ञानिक विवेचन करते हुए उनकी चिकित्सा का वर्णन किया गया है। ४-५०

शल्य-प्रदीपिका (सचित्र)

इसमें जीवाणुवाद, जीवाणु द्वारा होने वाले संक्रमण का नाश, विद्रधि, व्रण, शरीर के अनेक भागों में पूयोत्पत्ति तथा उसकी अनेकविध चिकित्सा, मलाशय और गुदा के रोग, पुरस्थ ग्रन्थि और मूत्रमार्ग आदि के प्रायः सभी रोगों के उद्गम, निराकरण, विविध प्रकार के सूचीवेध तथा छेदन आदि द्वारा उन सबकी अनेकविध चिकित्सा आदि का वर्णन है। १२-५०

चौखम्बा विद्याभवन, पो० बा० ६६, वाराणसी-१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection